

## प्रस्तावना ।



ज्योतिषशास्त्रस्य फलितग्रन्थेषु बृहज्जातकनामाऽयं ग्रन्थः कीदृशो गम्भीर-  
राशयः कीदृशश्चोपकारक इति नाऽविदितं किल विचारशीलनिखिलज्योतिर्विदा-  
मिति विशेषपरिचयप्रदानश्रमाऽनवसरः । अनेनैकेनैव ग्रन्थेनाऽखिलजातकाविषय-  
विज्ञतामुपलभ्य त्रिकालदर्शभूयमनुभवेयुर्गणकगणा इति मनसि निधाय श्रीवि-  
राहमिहिराचार्येण होराशास्त्रपयोधिनिर्भन्यनोद्धृतसारसद्रत्नानामस्मिन्ग्रन्थे कया  
युक्त्या निवेशः कृत इति न साधारणधियामवधारणविषयः । यद्यप्यनेकदैवज्ञदोषज्ञै-  
रेतदाशयविशदीविधित्सया भाष्याणि टीकाश्च व्यरच्यन्त, परं पूर्णतयैतदाशयप्रका-  
शनयशोऽनुभवितुं न भाग्यभाक्त्वं तेषाम् । तत्र मधुसूदनी-भट्टोत्पलीभ्यां चावश्य-  
मुपकृताः कृतिनो दैवज्ञा यावच्छक्यमतिदुर्लभैतदर्थप्रकाशनसफलप्रयासेन । परमुच्चा-  
नार्थतोऽयमन्यो गूढाभिप्रायो ग्रन्थकर्तुरिति कथनगौरवं नानुभूतमाभ्यामपि ।

सन्तु चानेकशो धन्यवादास्तस्मा अविज्ञातनामधेयमहोदयाय, येन चैषा  
दशाध्यायी ( नौका ) नामधेया टीका निरमायि । यत्र च मूलाक्षरत एवाऽनेके-  
ऽर्था ग्रन्थान्तरप्रमाणप्रदर्शनपुरस्सरं निस्तार्य प्रदर्शिताः । यथास्थलं विविधफल प्रश्न-  
शकुन-योगाभ्यास-कलाकौशल-कामकेल्यादयोऽपि मूलाक्षरैरेव प्रकटिताः, यदनुसारतः  
फलकथनेन च ज्योतिषशास्त्रगौरवं गणकगुणगरिमा च निखिलनराणां श्रद्धेयता-  
माप्नोति । दर्शनतो विद्वद्भिरेवेयं प्रशंसनीया भविष्यतीति विरम्यत एवैतत्कर्मणः ।

सा चैषा कुत्राप्यमुद्रितत्वालुप्तप्राया मया चिरायाऽधिकश्रमत एकां प्रतिमति-  
प्राचीनां जीर्णां घुणाऽऽधूर्णनामुपलभ्यागति कठिनतया संशोध्य क्षेमराज-श्रीकृ-  
ष्णदासश्रेष्ठिने मुद्रणाय सर्वाधिकारसहिता सप्रेम समर्पिता । तेन च दशाध्यायी-  
टीकासहितमेतद्बृहज्जातकं स्वकीये “श्रीविद्वद्धट्टेश्वर” ( स्टीम् ) मुद्रणयन्त्रालये  
सुव्यवस्थया शीघ्रकोत्तमाक्षरैः पुष्टममृणपत्रेषु मुद्रयित्वा प्रकाशितम् । अतोऽन्यः  
कश्चिदस्य मुद्रणादिसाहसं न कुर्यान्नोचेद्दानिरेव तस्य ।

यद्यप्यतीवसावधानतया शोधनमकारि, परमादर्शपुस्तकान्तराभावाद्यत्र कुत्राऽ-  
पूर्णता दृष्टा तत्रैवं “विन्दुविन्यासः कृतः । संशये प्रायः प्रश्नचिह्न ( ? ) निधापनमपि ।  
यदि केषामपि विदुषामन्तिक एतत्पुस्तकं चेत्तेऽवश्यमनुकम्पया प्रेषयेयुः पत्र-  
द्वारा व्यवहरेयुर्वा, यतोऽन्यावृत्तावशेषशोधनतामनुव्रजेदिति । संप्रति चैतद्ग्रहण-  
पठनपाठनाद्भुतफलकथनादिभिरनुगृह्यन्तु मामनुग्राहका ग्राहका विद्वांस इति भृश-  
मभ्यर्थयते—

विद्वदनुकम्पाभिलाषी—

ज्योतिर्विद् पं० हनुमान् शर्मा,

( जयपुर सिटी. )

॥ श्रीः ॥

अथ दशाध्यायीटीकोपेतबृहज्जातक-

## विषयानुक्रमणिका ।

| विषय.                                       | पृष्ठांक . | विषय.                                     | पृष्ठांक. |
|---|------------|---|-----------|
| <b>राशिप्रभेदाध्यायः १</b>                  |            | ग्रहाणां घर्णाः ... .. ४४                 |           |
| ग्रन्थकृता मङ्गलाचरणम् ... १                |            | ग्रहाणां घर्णस्वाम्यं ग्रहदेवतास्वदि-     |           |
| प्रत्येकस्त्रानयैक्यपरिहारापूर्वकमन्य-      |            | नस्वाम्यं खौम्यवापत्वम् ... ४५            |           |
| शस्त्रेभ्य एतस्य गुणोत्कर्षत्वम् ... १०     |            | ग्रहाणां नपुंसकस्त्रीपुरुषत्वं महाभू-     |           |
| होराशब्दव्युत्पत्तिः ... ११                 |            | ताधिपत्यं च... .. ४७                      |           |
| कालाख्यपुरुषस्य मेषादिराशिपूर्वकम-          |            | ग्रहाणां विप्रदिघर्णाधिपत्यं गुणवि-       |           |
| नविभागः ... .. १५                           |            | भागश्च ... .. ४८                          |           |
| मेषादिराशीनां स्वरूपविज्ञानम् ... १९        |            | चन्द्राकंयोः स्वरूपम् ... .. ५०           |           |
| राशिनवमांशदशधाधिपाः ... २२                  |            | भौमबुधस्वरूपम् ... .. ५१                  |           |
| त्रिंशांशाधिपाः ... .. २४                   |            | शुक्रशुक्रस्वरूपम् ... .. ५१              |           |
| मेषादीनां पारिभाषिकाणि सहा-                 |            | शनिश्चरस्वरूपं ग्रहाणां स्नाय्वादि-       |           |
| न्तराणि ... .. २५                           |            | धातवश्च ... .. ५२                         |           |
| ग्रहस्य क्षेत्रहोराद्रेष्काणादिखंताः ... २६ |            | ग्रहाणां स्वानादिघर्णनम् ... ५३           |           |
| मेषादीनां रात्रिदिनखंतात्वं पृष्ठोदय-       |            | ग्रहाणां दृष्टिस्थानानि निखर्गदृष्टिफ-    |           |
| लीपांदिपत्यं च ... .. २७                    |            | लानि च ... .. ५४                          |           |
| राशीनां क्रूरखौम्यविभागः स्त्रीपुरुषा-      |            | ग्रहाणां कालनिर्देशः रश्मिर्देशश्च ... ५७ |           |
| दिविभागश्च ... .. २८                        |            | मित्रामित्रविधिः... .. ५८                 |           |
| मतान्तरेण होराद्रेष्काणाधिपत्यः... ३०       |            | सत्योकानेकद्रव्येकानुक्तमपि ग्रहस्य       |           |
| ग्रहाण मुच्यनीचविभागः... .. ३१              |            | सुहृन्मध्यस्थशत्रवः... .. ५९              |           |
| ग्रहाणां वर्णोत्तममूलत्रिकोणपरिज्ञानम् "    |            | तत्कालिकमित्र मित्रविभागः ... ५९          |           |
| लग्नादिदशस्थानानां तन्वादिखंताः             |            | स्वानदिखलम् ... .. ५९                     |           |
| सृष्टीपादीनामुरुपचखंताश्च ... ३२            |            | खेष्टखलम् ... .. ६१                       |           |
| लग्नादीनां खंतान्तराणि ... .. ३४            |            | ग्रहाणां कालखलं नैसर्गिकखलं च ... ६२      |           |
| चन्द्राणां खंतास्तद्वाक्षिखलं च ... ३७      |            | <b>विषोनिजन्माध्यायः ३</b>                |           |
| पणकरापोहिमादिखंतान्तराणि ... "              |            | विषोनिजन्मज्ञानार्थं योगः ... ६९          |           |
| होरादिराशीनां खलं तत्प्रमाणं च ... ३८       |            | योगान्तरम् ... .. ७१                      |           |
| राशीनां घर्णाः ... .. ४०                    |            | चतुष्पदानां राश्यात्मकोद्भवविभागः... "    |           |
| <b>ग्रहयोनिप्रभेदाध्यायः २</b>              |            | विषोनिघर्णज्ञानम् ... .. ७२               |           |
| मेषादिराश्यापयवनिष्पन्नस्यहोरापुरुष-        |            | पुंशजन्मज्ञानम् .. .. ७४                  |           |
| स्य सूर्यादिग्रहेः सम्बन्धः ... ४१          |            | पृथ्वाजन्मज्ञानम्... .. ७५                |           |
| रश्मादिग्रहाणां खंता ... .. ४४              |            | पृथ्वाणां विरोधज्ञानम् ... .. ७६          |           |
| गुणोदिग्रहाणां खंताः ... .. ४५              |            | भूतदृष्टिभाशुभज्ञानं तत्संख्या च ... "    |           |

| विषय.                                   | पृष्ठांक. |
|---|-----------|
| <b>निषेकाध्यायः ४</b>                   |           |
| ऋतुनिरूपणंमृतावपि स्त्रीपुरुषसंयो-      |           |
| गज्ञानम् ... ..                         | ७७        |
| मैथुनज्ञानप्रकारः ... ..                | ७९        |
| गर्भसंभवासंभवज्ञानम् ... ..             | ८०        |
| आधानकालवशादाप्रसवावधि याव-              |           |
| श्चुभ शुभविज्ञानम् ... ..               | ८२        |
| मिषिक्तस्य पित्रादीनां शुभाशुभज्ञानम् " |           |
| आध नकालवदान्म तुमरणयोगी...              | ८३        |
| योगान्तम् ... ..                        | ८४        |
| योगान्तगण्यपि... ..                     | ८५        |
| आधानकालप्रवशान्मातुः शस्त्रनिमित्तो     |           |
| मृत्युयोगो गर्भत्वावश्य ... ..          | "         |
| गर्भपुष्टिज्ञानम् ... ..                | ८६        |
| निषेककालाद्यन्यतमज्ञानात्पुंस्त्रीवि-   |           |
| भागज्ञानम् ... ..                       | ८७        |
| पुंजन्मयोगान्तरम् ... ..                | ८८        |
| ह्नाबजन्मयोगाः... ..                    | "         |
| द्विविगर्भसंभवयोगाः ... ..              | ८९        |
| अधिकगर्भसंभवज्ञानम् ... ..              | "         |
| गर्भस्य मासविधाः ... ..                 | "         |
| अधिकाङ्गमूकचिरलब्धगिरां सम्भव-          |           |
| योगः ... ..                             | ९०        |
| सदन्तकुञ्जजटजन्मयोगाः ... ..            | "         |
| वामतहीनङ्गयोगी ... ..                   | ९१        |
| विकलजन्मज्ञानम् ... ..                  | "         |
| प्रसवकालज्ञानम् ... ..                  | ९२        |
| धृत्तगर्भस्य वर्षत्रयवर्षदशज्ञानम्...   | "         |

**जन्मविधिनामाध्यायः ५.**

**( सूतिकाध्यायः )**

|                                       |    |
|---------------------------------------|----|
| पितुः सन्निधावसन्निधौ वा जात इति      |    |
| ज्ञानम् ... ..                        | ९३ |
| अन्येपि योगाः ... ..                  | ९४ |
| सर्पज्ञानं सर्पवेष्टितज्ञानं च ... .. | "  |
| एकजरायुवेष्टितयोजं मज्ञानम् ... ..    | ९५ |
| नालवेष्टितजन्मज्ञानम् ... ..          | "  |
| जारजातज्ञानम्... ..                   | "  |
| जातस्य पितृबन्धनयोगज्ञानम् ... ..     | ९६ |

| विषय.                                     | पृष्ठांक. |
|---|-----------|
| पोतगताप्रसवज्ञानम् ... ..                 | ९७        |
| उदकमध्यप्रसवज्ञानम् ... ..                | "         |
| बन्धनागारावटयोः प्रसवज्ञानम् ... ..       | ९८        |
| क्रीडागृहादिप्रदेशेषु प्रसवज्ञानम् ... .. | "         |
| शमशानादिषु प्रसवज्ञानम्... ..             | "         |
| प्रसवदेशज्ञानम्... ..                     | ९९        |
| यद्योगे जातो मात्रा त्यज्यते यद्योगे च    |           |
| त्यक्तोपि दीर्घायुः सुखी च                |           |
| भवति तद्योगयोज्ञानम् ... ..               | "         |
| यद्योगे जातो मात्रा त्यक्तो वितरयति       |           |
| तज्ज्ञानम् ... ..                         | १००       |
| प्रसवग्रहज्ञानम् ... ..                   | "         |
| दीपसम्भवासम्भवभूषदेशप्रसवादि-             |           |
| ज्ञानम् ... ..                            | १०१       |
| दीपगृहद्वारज्ञानम् ... ..                 | १०२       |
| सूतिकागृहस्वरूपज्ञानम् ... ..             | १०३       |
| समस्तवास्तुनि क सूतिकागृहम् ... ..        | १०४       |
| सूतिकागृहे क शयनम् ... ..                 | "         |
| उपसूतिकाशंखपाज्ञानम् ... ..               | १०६       |
| जातस्य स्वरूपादिज्ञानम्... ..             | १०७       |
| शिरःप्रभृत्यद्भुविभागानां राशिबि-         |           |
| भागः ... ..                               | १०८       |
| अङ्गज्ञानमयोजनम् ... ..                   | १०९       |
| जातस्य व्रणज्ञानम् ... ..                 | "         |

**अरिष्टाध्यायः ६.**

|   |     |
|---|-----|
| जातस्यारिष्टद्वयम् ... ..               | ११० |
| अन्येष्वरिष्टयोगाः चक्रत्येतत्पर भारभ्य |     |
| सुतमदनेत्याद्यन्ताः... ..               | ११७ |
| अनुक्तभरणकालानामरिष्टयोगानां            |     |
| कालपरिज्ञानम् ... ..                    | ११८ |

**आयुर्दायाध्यायः ७.**

|   |     |
|---|-----|
| प्रयादिमतेन ग्रहाणां परमायुःप्रमाणम्    | ११९ |
| परमनीचावस्थितान आयुर्दायज्ञानम् "       |     |
| ग्रहाणां स्वादायुषश्चक्रपातेनापहानिः    | १२० |
| लग्नस्थः पापश्चक्रपातवदायुषोऽंशमप-      |     |
| हरति तस्यांशप्रमाणज्ञानम् ... ..        | "   |
| पुरुषादीनां परमायुःप्रमाणज्ञानम् ... .. | "   |
| यद्योगे जातस्य परमायुर्भवति तद्योग-     |     |
| ज्ञानम् ... ..                          | १२१ |

| विषय.                                 | पृष्ठक. | विषय.                             | पृष्ठक. |
|---------------------------------------|---------|-----------------------------------|---------|
| परमतायुर्दायस्य दूषणम्...             | ...     | नैसर्गिकाणां ग्रहाणां दशाकालाः    | १३३     |
| परमतायुर्दायस्य अन्याचार्यमतेन        | ...     | दशान्तर्दशाशुभाशुभज्ञानम्         | ...     |
| दूषणान्तरम्                           | ...     | अन्तर्दशाकाले चन्द्राक्रान्तराशि- | ...     |
| जीवशर्मसत्याचार्ययोर्मतेनायुर्दायः... | ...     | चरोन शुभज्ञानम्                   | ...     |
| सत्याचार्यमतेन ग्रहाणामायुर्दाया      | ...     | चन्द्रभीमसूर्यादिफलम्             | १३५-१३७ |
| नयनम्                                 | ...     | दशासूक्तशुभाशुभफलानां विषय-       | ...     |
| सत्याचार्यमतेनागतस्यायुर्दायस्य       | ...     | विभागो लग्नदशाफलं च               | ...     |
| तन्मतेनैव कर्मविशेषः                  | ...     | अन्येयामपि फलानां दशास्वतिदेशः    | १३९     |
| सत्याचार्यमतेन लग्नायुर्दायकरणम्      | १३३     | अगणितजासक्तस्यापि शरीरच्छायां     | ...     |
| मर्वादितस्तुपन्थस्य सत्याचार्य-       | ...     | दृष्ट्वा ग्रहदशाज्ञानम्...        | ...     |
| मताङ्गीकरणम्                          | ...     | शुभाशुभफलकदशाज्ञानार्थमन्तरा-     | ...     |
| पद्योगे जातस्यायुष्ममाणं न ज्ञायते    | ...     | त्मनः स्वरूपम्                    | ...     |
| तज्ज्ञानम्                            | ...     | एकग्रहदत्तसदृशफलयोगोभय-           | ...     |
| दशान्तर्दशाध्यायः ८.                  | ...     | तिभिन्नदत्तानां बहूनामपि पक्ति-   | ...     |
| पुरुषस्य जीवितान्तस्थितमुखदुः-        | ...     | रेव भवति                          | ...     |
| खयोः परिच्छेदार्थं ग्रहदशाक्रम-       | ...     | अष्टकवर्गध्यायः ९,                | ...     |
| ज्ञानम्                               | ...     | अर्कायष्टकवर्गाः                  | ...     |
| दशाकालममाणं केन्द्रस्थानानामपि        | ...     | अष्टकवर्गफलनिरूपणम्               | ...     |
| दशाक्रमज्ञानम्                        | ...     | कर्माजीवाध्यायः १०.               | ...     |
| अन्तर्दशापाकग्रहज्ञानम्               | ...     | प्रकारद्वयेन ग्रहाणां धनदाहत्वम्  | ...     |
| दशापरिक्लृप्तज्ञानम्                  | ...     | वृत्तिकपनम्                       | ...     |
| शुभाशुभज्ञानार्थं दशादेः स्वफला-      | ...     | जीवांशे धनमापकदेतवः               | ...     |
| दुरुपाः संज्ञाः                       | ...     | धनानामज्ञानम्                     | ...     |
| दशान्तर्दशासंज्ञाः                    | ...     | ( जातकलेखनक्रमः )                 | ...     |
| लग्नदशायां शुभाशुभज्ञानम्             | ...     | इति कर्माजीवाध्यायः १०.           | ...     |

इति दशाध्यायी ( नौका ) टीकोपेतबृहज्जातकविषयानुक्रमणिका ।



॥ श्रीः ॥

अथ बृहज्जातिकम्.

दशाध्यायीटीकोपेतम्

(शार्दूलविक्रीडितम्)

मूर्तिरिवे पारिकल्पितश्शशभृतो वर्त्माऽपुनर्जन्मना-  
मात्मेत्यात्मविदां क्रतुश्च यजताम्भर्ताऽमरज्योतिषाम् ।  
लोकानाम्प्रलयोद्भवस्थितिविभुश्चानेकधा यः श्रुतौ  
वाचं नः स दधात्वनेककिरणस्त्रैलोक्यदीपो रविः ॥ १ ॥

जयति स भगवान्गजास्यो यत्कर्णव्यजनमाहता भजताम् ॥

यान्तो व्यसनानि हरन्त्यायान्तश्चार्पणन्त्यमीष्टानि ॥ २ ॥

सत्यज्ञानपरब्रह्मज्योतिरानन्दरूपिणीम् ॥

नौमि सर्वोत्तरोदात्तप्रश्नमालां सरस्वतीम् ॥ ३ ॥

सत्यज्ञानप्रदायेष्टदेशकालप्रबोधिने ॥

नमः श्रीगुरवे साक्षात्परमेश्वरमूर्तये ॥ ३ ॥

येषामात्मनि गर्भसंस्कृतिमुखैर्मोज्जीनिबन्धान्तिमैः

पूतैः कर्मभिरत्र भाति विधिवद्ब्रह्म प्रतिष्ठापितम् ॥

श्रौतस्मार्तसमस्तकर्मसततानुष्ठाननिष्ठात्मन-

स्तनिताऽन्पणमामिं भूमिविबुधानिष्ठार्थकल्पद्रुमान् ॥ ४ ॥

श्रीसूर्यादीन्स्वसंवेद्यनिग्रहानुग्रहान्ग्रहान् ॥

जगत्सृष्टिस्यितिलयज्ञानहेतूनुपास्महे ॥ ५ ॥

ज्योतिःशास्त्रमिदं विधाय विपुलं त्रिस्वन्यभिन्नं पुरा

लोकानां मतिमान्यतः कलियुगे तत्पातुमीत्या पुनः ॥

स्वल्पं तत्सकलं ततो रचितवानादित्यदासात्मजो

भूत्वा यो मिहिरो वराहमिहिरो नाम्ना नमस्कृतमहे ॥ ६ ॥

वराहहोराशास्त्रस्य विज्ञातोऽर्थोऽथ यो मया ॥

स तु शिष्यावबोधार्थं संक्षेपेण विलिख्यते ॥ ७ ॥

श्रीमद्वराहमिहिरहोरातात्पर्यसागरे ॥

सदर्थरत्नसंसिद्धयै टीका नौका विचार्यते ॥ ८ ॥

तत्र लोकानुग्रहार्थमतीतानागतवर्तमानकालविषयफलविशेषज्ञानोपायभूतं होरा-  
शास्त्रं चिकीर्षुः श्रीवराहमिहिराचार्यः प्रथमम्

“आशीर्नमाक्षिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ।”

इत्युक्तं शिष्टाचारमनुस्मरन्नभीप्सितस्याविघ्नपरिसमाप्तये समुचितेष्टदेवता-  
माशीर्मुखेन परामृशति-

मूर्तिर्व इति ॥ तत्र सप्तविंशतिपदानि । स रविर्नो वाचं विदधात्विति क्रिया-  
कारकसम्बन्धः । स यच्छब्दयुक्तवाक्यसप्तकोक्तगुणविशिष्टः । रविः “ऋ शब्दे”  
इत्यस्मादातोर्निष्पत्त्या शब्दब्रह्मस्वरूपस्त्वपीमयो भगवानादित्यो रविशब्देनोच्यते ।  
“एतन्मण्डलं खे तपति दिनकृतः ऋचोऽर्चोषि सामानि” इत्यादिभिः सूर्यस्य  
त्रयीभयत्वम् । अत एव शब्दब्रह्मस्वरूपत्वं च प्रदर्शयता रविशब्देन निर्देशाद्भ-  
गवतः श्रीसूर्यदेवस्यादेशप्रधाने जातकशास्त्रे समुचितेष्टदेवतात्वं ध्वन्यते । नोऽस्मभ्यं  
वाचं प्रार्थयत्वेन विशिष्टां वाचमित्यर्थः । वाङ्मात्रस्याप्रार्थनीयत्वात् ।

वाचो वैशिष्ट्यं च यथाकालप्रतिभानम्, अमतिहतत्वम्, सत्यत्वं, श्रोत्रमनोहारि-  
त्वमित्यादिभिर्गुणैः संयोगः । तादृशीं वाचं दधातु । “दुधाञ् धारणपोषणयोः”  
इत्यस्मादाशिपि लोट् । दधातु ददातु सम्पादयत्वित्यर्थः । नैकाकिरण इति प्रसज्ज-  
प्रतिपेदे नञ् । तथा च भर्तृहरिः-

“प्रसज्जप्रतिपेयोऽसौ यत्रोत्तरपदेन नञ् ।” इति ।

एकाकिरणो नेति योजना । एकप्रकारमेकत्वं तस्मादनेकप्रकाराकिरणः । उष्ण-  
किरणः, शीतकिरणश्चेत्यर्थः ।

यानियानि प्रकाशकत्वयुक्तानि वस्तूनि रत्नादीनि तेषां प्रकाशकत्वशक्तिरर्कादेव  
जायत इत्यर्थः । अत एव त्रैलोक्यपदीपत्रैलोक्यस्य प्रकाशकत्वादीपभूत इत्यर्थः ।

“प्रकाशकौ द्वौ प्रथमौ ग्रहाणाम् ।”

इत्यादिवचनेषु चन्द्रस्यापि प्रकाशकत्वमुक्तं तत्कथमेवेत्यत्राह-यः शशभृतो  
मूर्तिर्वे परिकल्पित इति । यच्छब्दः सप्तस्वप्नवान्तरवाक्येषु योजनीयः । शशभृत-  
श्चन्द्रस्य मूर्तिर्वे-मूर्तिर्वशब्देनामूर्तिर्व्यावृत्तिरुच्यते । अमूर्तानामदृश्यत्वं प्रसज्यते-  
ऽतस्तस्यात्माभूदिति चन्द्रस्य दृश्यत्वरूपेण परिकल्पितः सामर्थ्ययुक्तः । इदं व्यक्त-  
मन्त्रमाचार्येण संहितायाम्-

“सलिलमये शशिनि खेदीधितयो मूर्च्छितास्तमो नैशम् ।  
क्षयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः ॥” इति ।

सूर्यभटेनाप्युक्तम्—

“चन्द्रो जलमकौमिः” इति ।

तस्माज्जलस्वरूपः स्वयंप्रकाशशून्यश्चन्द्रः । सूर्याशुसंस्पर्शवशाद्दृश्यमूर्तिर्भवती-  
त्यर्थः । तस्माच्चन्द्रस्य प्रकाशकत्वं राविकृतमेवेति सिद्धम् । तथा योऽपुनर्जन्मनां  
वर्त्म च भवति । अपुनर्जन्मनां पुनरावृत्तिशून्यानां वर्त्म मुक्तानां गमनमूमिदि-  
त्यर्थः । तथा चोक्तम्—

“द्वावेव पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।

परित्राद् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥” इति ।

य आत्मविदामात्मेति तृतीयं वाक्यम् । आत्मानं विदन्तीत्यात्मविदः । क  
आत्मेति चेत् देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणभ्यो दृश्येभ्यो व्यतिरिक्तोऽन्तरतम आकाश-  
वत्सर्वगतः सूक्ष्मो, नित्यो, निरवयवो, निर्गुणो, निरञ्जनो, गमनागमनादिरहितः,  
अहंकारममकारेच्छाद्वेषभयत्नरहितः, स्वयंज्योतिःस्वभावः, अत्युष्णवत्सवितृप्रका-  
शवच्चाकाशादिभूतरहितो, बुद्ध्यादिकरणरहितः, प्राणादिवायुभेदरहितः, सत्त्वा-  
दिगुणरहितः, अशनपिपासाशोकमोहजरामरणबुद्धिशरीरधर्मरहितो यः सर्वप्राणि-  
वृद्धि स्थितः, सर्वबुद्धेर्द्रष्टा स आत्मेत्यभिधीयते ।

तद्विदां निवृत्तिमार्गनिष्ठानां वेदान्तिकानां सिद्धान्तरूपेण प्रतिपाद्यो य आत्मा  
तत्स्वरूप इत्यर्थः । यो यजतां क्रतुश्च भवतीति सम्बन्धः । यो यजतां कर्मकाण्ड-  
निष्ठानां गृहस्थानां क्रतुश्च, क्रतुर्हविःसंस्यसोमसंस्थादिभेदेर्बहुविधः, तत्स्वरूपो  
यजमानानामभीष्टफलदायी क्रतुदेवतास्वरूप इत्यर्थः । तथा योऽमरज्योतिषां  
भर्ता अमराणां ज्योतिषां च क्रतुषु हविर्भागभुजो क्रतुसम्पादनसाधनभूतधनधान्य-  
वर्धकत्वद्वारेण भर्ता भरणशीलः । तथा चोक्तम्—

“अमौ शस्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपातिष्ठते ।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्गृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥” इति ।

यो लोकानां प्रलयोदयस्थितिविभुश्च भवतीत्यन्वयः । प्रलयोदयस्थितिविभुः  
प्रलयस्य संहारस्य, उदयस्य सृष्टेः, स्थितेः पालनस्य च विभुः प्रभुः कर्तुमकर्तु-  
मन्यथाकर्तुमपि शक्तः प्रभुरित्युच्यते सांख्यैः । सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृत्वेन प्रतिपा-  
दित ईश्वरतत्त्वरूप इत्यर्थः । यः श्रुतावनेकधा यो रविः श्रुतौ वेदेऽनेकधाऽनेक-  
प्रकारेण पठ्यत इत्यर्थः । इति सप्तावान्तरवाक्यानि अत्र यद्वृत्तेन दर्शितानि ।  
स तादृशः सर्वप्रकारोऽनेककिरणः अपवर्गप्रदः स्वर्गप्रदः सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृ

प्रासिद्धां रविर्नां वाचं दधात्वित्येवंलक्षणेन प्रधानवाक्येन सहात्रायशोकंऽष्टौ वाक्यानि । अत्राशीर्वादस्तन्मुखेनेष्टदेवतानमस्कारश्च प्रदर्शितः । तथा वस्तुनिर्देशश्चात्र वाक्यैः प्रदैः अक्षरैश्च यथासारं प्रदर्शितः । तद्यथा—

वस्तुनिर्देश इति । वस्तुनः प्रतिपादयिषितस्य प्रमेयशरीरस्य निर्देशः सूत्ररूपेण प्रकाशनमुच्यते । अत्र खलु होराशास्त्रे जातकफलप्रदर्शनविषये तन्मूलत्वेनाष्टौ 'सूर्य-सोम-बुध-गुरु-शुक्र-शनेश्चरा लभराशयश्च परिगृह्यन्ते । तत्र प्रधान-वाक्यान्ते साक्षाद्विशब्दयुक्तेन सूर्यः । शशभृच्छब्देन युक्तेन वाक्येन चन्द्रः सूचितः । वर्त्मानुर्जन्मनामित्यनेन वाक्येनापवर्गविषयेणापवर्गस्य च सत्त्वैकसाध्यत्वात् परित्राजकस्य, रणेऽभिमुखे हतस्य च सूर्यमण्डलभेदकत्वसामान्योक्तिबलात्सत्वरूपो भौमः सूचितः । अथवा भौमस्याग्नेयत्वाद्ग्रेष्व योगसाधनत्वेनापवर्गस्य मूलत्वादपवर्गविषयेण भौमः सूच्यते । तथा चोक्तं योगप्रकरणे—

“मूलाधारोद्गतो वह्निर्दादशान्तमुपाश्रितः ।

पीयूषवर्षपूणात्मा कामदो न तु मोक्षदः ॥

स हि चोर्ध्वं गतस्तस्मादपवर्गाय संभवेत् ” । इति ।

एवमपवर्गस्य सत्त्ववद्भिः साध्यत्वात्समाधेश्च मूलाधारस्थितवह्निमूलत्वाच्च वर्त्मानुर्जन्मनामितिवाक्येन सत्त्वात्मा आग्नेयो भौमोऽत्र सूचितः ।

आत्मविदामात्मेतिवाक्येन बुधनामधेयः विच्छब्दयुक्तेन बुधः सूचितः ।

ऋतुश्च यजतामिति वाक्येन 'ऋतूपयोग्यानि तपस्विनश्च द्वेष्काण० २५' इत्यादि । चापादि द्वेष्काणरूपेण सुगभाण्डमुक्ताद्वेष्काणाः ३४ । इत्याद्युक्तमीनादि-द्वेष्काणरूपेण च सम्बन्धवान् धर्मक्रियाफलदो गुरुः सूचितः ।

तथा भर्तामरज्योतिषामिति वाक्येन भोगप्रधानः शुक्रः सूचितः ।

लोकानां प्रलयोदयस्थितिविभुरित्यनेन प्रलयकरः शनैश्चरः सूचितः ।

श्रुतार्थनैकधेतिवाक्येन राशित्वसम्पादकानेकत्ववाचकानेकशब्दयुक्तेन लग्नं रा-शिश्च सूचितः । ते च प्रत्येकं बहुविधविशेषपुक्तायुर्दायाष्टकवर्गे पृथग्विधेषु योगेषु च गृह्यन्ते इत्येभिर्वाक्यैरत्र सूचिताः ।

तथा नवर्क्षचरणात्मकराशिचक्रगतानि सप्तविंशतिनक्षत्राणि सप्तविंशतिभिः प्रदैः सूचितानि ।

त्रैलोक्यदीप इतिप्रदेन जन्मनः पूर्वमपादानभूतस्यानूकशब्दवाच्यस्य पूर्वलो-कस्य जननादिमरणान्तस्य चेह लोकस्य मरणात्परस्य गतिशब्दवाच्यस्य परलोकस्य चेतित्रयाणां लोकानां दीपत्वाच्चतयसत्यसमस्तवृत्तान्तदर्शकत्वं भगवतो रवेः प्रति-पादयतो होराशास्त्रप्रतिपाद्यं वस्तु समस्तं सूचितम् । एतद्बृहज्जातकविषयम् ।



नष्टजातकविषयश्चात्र किञ्चिदक्षरसंख्यया सूचितम् । तद्यथा—

‘मूर्तित्वे परिकल्पितः शशभृतो घर्माऽष्टुनर्जन्मनामात्मेति’

एतावतेतिशब्दांतेन श्लोकांशेन तत्प्रदर्श्यते । ‘शब्दन्वयायसमन्वितेषु’ ( ११३ )

इत्युत्तरश्लोके वक्ष्यमाणपदेनास्य शास्त्रस्य शब्दन्वयायऽप्यतिरेकेणापि क्वचिदर्थवाचकत्वं प्रतिपादयिष्यमाणमत्राप्यनुसर्तव्यम् । मूर्तित्वे परिकल्पित इत्यत्र अपरिगलित-

इति पदच्छेदोऽप्यत्रापेक्ष्यते, तेन मूर्तित्वे अपरिकल्पितः शशभृत आत्मेति योजनीयम् । अस्यायमर्थः—मूर्तित्वमित्यक्षरसंख्यया पञ्चषष्ठ्यधिकचतुःशतानि ( ४६५ )

भवन्ति । तत्रापरिकल्पित इति परिकल्पितसंख्यया शून्यः । परिकल्पितसंख्यया ततः शोधनीय इत्यर्थः । इयमत्र प्रक्रिया—

पञ्चषष्ठ्यधिकचतुःशतानि ( ४६५ ) द्विषस्य ततः परिकल्पितशोधने ( ६११२१ ) कर्तव्ये एकविंशत्याधिकशतस्य शोधनं कर्तुं शक्यते, ततः परस्यांक-

द्वयस्य शोधनं यथान्याये शोधनविषयाशून्यत्वान्न शक्यते । अतः परिकल्पितसंख्यायां चतुर्थपञ्चमांकयोः शोधनं मूर्तित्वं संख्यायाश्चतुर्थपञ्चनांकयोः शून्यत्वात्पुनरपि तत्रैव

मूर्तित्वसंख्यायां विलोभेन द्वितीयप्रथमयोरङ्कयोः कर्तव्यम् । तथा कृते पञ्चषष्ठ्यधिकचतुःशतानि ( ४६५ ) अष्टाविंशत्याधिकत्रिशतानि ( ३२८ ) भवन्ति ।

यथा—४६५—६११२१—३२८—४६५,

१२१

३४४

१६

३२८

स च राशिः शशभृतः शशेन पञ्चपञ्चाशता ( ५५ ) भृतः धरितः आत्मा भवति ( यथा ३२८+५५=३८३ ) । अस्य शास्त्रस्य श्लोकसंख्यारूपं शरीरं भवतीत्यर्थः ।

मूर्तित्वे ( ४६५ ) संलाप ( १३७ ) शोधनेन शश ( +५५ ) क्षेपणेन च गोजाल-

( ३८३ ) मित्यक्षरसंख्यया त्र्यशीत्यधिकानि त्रिशतानि अस्य शास्त्रस्यात्मभूतश्लोकप्रमाणभूतानि भवन्ति । आदेरारभ्य ‘अध्यायानां विंशतिः पञ्चयुक्ता’ ( उपसं. ३ )

इत्यध्यायसंख्याकथनश्लोकावधिकानि गोजालप्रमाणानि ( ३८३ ) पद्यान्यत्र शास्त्रे वक्ष्यन्त इत्युक्तं भवति ।

अत्र श्लोकसंख्यानयनप्रकारे तिस्रः संख्या निर्दिष्टास्तत्र प्रथमा मूर्तित्वे ( ४६५ ) इति । द्वितीया परिकल्पितरहितमूर्तित्वं जरागौ ( ३२८ ) रिति । तृतीया परि-

कल्पितरहितं शशयुक्तं मूर्तित्वं गोजाल ( ३८३ ) मिति । एतासु प्रथमसंख्यास्यानत्रयगतानां संख्यानां पञ्चषडचतुर्णां योगे पञ्चदश भवन्ति । द्वितीयसंख्यास्यानत्र-

यस्यानामष्टकद्विकत्रिकाणां, तथा तृतीयसंख्यागतानां त्रिकाष्टकत्रिकाणां च योगः सप्तविंशतिर्भवति । तस्मात्पञ्चदशघटिकाप्रमाणे नवांशः सप्तविंशतिनक्षत्रात्मकः भवतीत्यर्थं उपलभ्यते । ततो लग्नगतनवांशनाडिका इच्छाराशिः सप्तविंशतिगुणकारः पञ्चदशभागहारः । एभिर्द्वाराशिके प्रष्टुर्जन्मनक्षत्रं लभ्यते । अत्र क्रियालाघवाय गुणकारभागहारयोस्त्रिभिरपवर्तने कृते नवकं गुणकारः पञ्चकं भागहारश्च भवति । लग्नचन्द्रयोस्तुल्यफलत्वाच्चन्द्रभुङ्क्तेनवांशनाडिकाभिरपि प्रष्टुर्जन्मनक्षत्रानयनं कर्तव्यम् । तथा चोक्तम्-

“नवांशके शीतगुभुक्तनाडिकां निहत्य रन्ध्रेण विभज्य पञ्चभिः ।

फलान्युद्धन्येव तथैव लग्नात् प्रवर्तनं भेष्विति नष्टजातकम् ॥ १ ॥” इति-

अन्योपि नष्टजातकप्रकारोऽत्र दिङ्मात्रेण सूचितः । उक्तोऽयं नष्टजातकप्रकारो लग्नविषयः । अथारूढविषयः प्रदर्श्यते-

‘मूर्तित्वे परिकल्पितः शशभृतः इति द्वादशभिरक्षरैः स्वसंख्यावशाद्योजितैः षड्चत्वारिंशत्संख्यो राशिर्भवति स च शशभृतो मूर्तित्वे परिकल्पितः कर्कटराशेरारूढत्वे परिकल्पित इत्युक्तिवले तदानयनप्रकारोऽवगन्तव्यः । एकोनपञ्चाशद्वाशिरत्र कूटस्थत्वेन परिगृह्यते तस्मादारूढचक्रशोधनं कर्तव्यम् । तत्प्रकारश्च-

“प्रियो मानी नटो गानी दानी यानी तनुः पटुः ।

भानुः खनिः धनिः मूनुः क्रमात्पाज्यास्त्वजादितः ॥”

इत्यनेनोक्तः ।

भेषादिराशिषु क्रमेणारूढेषु सप्त कूटस्थराशेः प्रियादयः शोधनीया इतिन्यायेन कर्कटराशावारूढे सति कूटस्थाद् गानीशोधनेन यथोक्तषड्चत्वारिंशत्संख्यो राशिर्भवति । स चात्र प्रदर्शितेन श्लोकसंख्याप्रमाणेन गोजालेन ( ३८३ ) स्थानत्रयसंख्यायोगवशात् संक्षिप्तितेन चतुर्दशकेन हत्वा चतुष्पञ्चाशता विभज्य शिष्टे प्रष्टुर्जन्मनक्षत्रं लभ्यते । हारकः कुत्र प्रदर्शित इति चेदत्र मूर्तित्वे परिकल्पितः शशभृतो वर्त्म इति चतुर्दशभिरक्षरैः पञ्चपञ्चाशत्संख्यो राशिर्भवति । स चात्र अपुनः एकोनचतुष्पञ्चाशत्संख्यो भवति । सोऽत्र हारकत्वेन सूचितः तत्रापि यथोक्तयोगुणकारहारकयोर्द्वाभ्यामपवर्तनेन सप्तकं गुणकारः सप्तविंशति-भागहारश्च स्यात् । “सप्ताहतविधनभाजितशेषमृक्षम्” इत्युक्तं भवति । कूटस्थ-राशेः सप्तकमपनीय, आरूढचक्रशोधनं कृत्वा शेषेण यथोक्तकर्मण्यनुष्ठिते लग्न-राशिलभ्यते । एवमारूढविषयो नष्टजातके चतुःसाधनोजेन प्रकारेणात्र शृङ्ग-मार्द्विकया सूचित इति द्रष्टव्यम् । एवं वस्तुनिर्देशोपि सम्यक् प्रतिपादितः । अथाह गोविन्दः-

मूर्तित्व इत्यनेन श्लोकेन वराहमिहिराचार्यः शास्त्रं चिकीर्षुः स्वेष्टदेवतायाः स्वाभिप्रेतं वरं प्रार्थयते—स रविर्नां वाचं दधात्विति । ‘अर्थवद्बलं शास्त्रं प्रारभे’ इत्युत्तरप्रतिज्ञां सफलीकर्तुमियं प्रार्थनां विवक्षितार्थसर्वस्वगर्भा ‘वाचं दधातु’ इत्यर्थः । अथवा वागिति विद्याज्ञानं दधात्विति यावत् । अथवा त्रैकाल्य-कथनेऽवस्थां वाचं दधात्विति वा । रावयतीति रविः । रवेः शब्दब्रह्ममयत्वात् रवेरेव वाक्प्रार्थना युज्यते । यः शशभृतो मूर्तित्वे परिकल्पितः शशभृतश्चन्द्रस्य मूर्तित्वे शरीरत्वे परिकल्पितः परितः कल्पितः परिकल्पितः आगमानुमानप्रत्यक्षरूपैः प्रमाणैः प्रामाणिकैः परिकल्पितः । ‘सुपुष्पासूर्यारश्मिश्चन्द्रमाः’ इत्यादिश्रुतिः ।

श्रीसाम्बस्तुतौ चोक्तम्—

“नाशं नास्मच्चरणशरणा यान्त्यपि ग्रस्यमाना  
देवैरित्थं सितमिव यशो दर्शयन् स्वं त्रिलोक्याम् ।  
मन्ये सोमं क्षततनुममागर्भं वृद्ध्या विवस्व—

ज्जुक्लृच्छायां नयसि शनकैः स्वां सुपुष्पां शुभासा ॥”

नाशशून्ये जलमये चन्द्रमासि रविराशिमसम्पातात् सप्रकाशं चन्द्रशरीर-मुत्पद्यत इति युक्त्या सिद्ध्यति । अकेंदुभ्रुवामर्कस्य महीयोरूपं पश्चिमाभिमुखं भ्रमति ज्योतिश्चक्रे प्राङ्मुखं गच्छन्तश्चन्द्रादयो ग्रहा गोलरूपास्तत्रैव स्थितस्य प्राङ्मुखगतस्य गोलरूपस्य रवे रश्मिसम्पातात् सूर्याभिमुखसार्धभागा दीप्यन्ते । तथा चार्यभट्टः—

“भूग्रहभानां गोलार्धानि स्वच्छायया विवर्णानि ।

अर्धानि ययासारं सूर्याभिमुखानि दीप्यन्ते ॥” इति ।

अन्येऽप्याहुः—

“अर्काधिःस्यस्येन्दोरूर्ध्वार्धं ह्यर्करश्मयो यान्ति ।

दृश्यार्धमतः कृष्णं तदार्कमतः पूर्वके तु चन्द्रमासि ॥

पश्चिमपार्श्वार्ककरा लभ्यन्ते तत्र शौक्यमतः ।

इन्दोरेवं वृद्धिः स्याच्छौक्यस्य हि पूर्णता च पूर्णान्ते ॥

पश्चिमभागे काण्ड्यं ततः क्रमात् सूर्यरश्मिराहित्यात् ।” इति

एतत्प्रत्यक्षतो दृश्यते च । तस्मान्मूर्तित्वे परिकल्पितः शशभृतः इत्युपपन्नं भवति । अर्थान्तरमपि सूच्यते—

शशभृतो मूर्तित्वे परिकल्पितः सूर्यः । एतदुक्तं भवति शशभृतः प्रकृतिभूतस्य जडात्मकस्य चन्द्रस्य मूर्तित्वे प्रपञ्चरूपत्वे पुरुषभूतस्य चिदात्मकस्य सूर्यस्य रश्मि-वशाच्चेतनत्वं दृश्यते । तस्मात् प्रपञ्चव्याप्तः सूर्य इत्यर्थः । अथवा ‘शशभृतो मूर्ति-

त्वे परिकल्पितो मनस्तुहिनयुः' इत्यनेन शशभृच्छब्देन मनो विज्ञायते । मनसो मूर्तित्वे परिकल्पितः, मनो यो यो मूर्तिं ध्यायति तत्तद्भावेपरिकल्पितः सगुणब्रह्म भूत्वा भक्तानामभिमतविग्रहमवलम्ब्याभोग्रं फलं ददातीत्यर्थः । परिकल्पित इत्यनेन काल्पनिकमस्य विग्रहवत्त्वमित्यपि सूचितम् ।

अथ 'वर्त्मापुनर्जन्मनाम्' इत्यस्यार्थो व्याख्यायते-

त्रैवर्णिकानामुपनयनानंतरं पितृमुखाद्गायत्रीं श्रुत्वा ब्रह्मचारिवानप्रस्थगृहस्था-  
श्रमावलाम्बिनां सेवमानानामनुदिनं तिसृषु संध्याषु गायत्रीमन्त्रदेवतामादित्यमुपास्य  
संन्यासाश्रमस्याधिकारितामापाद्य संन्यासितामवलम्ब्य स्थितानां हि मोक्षसिद्धिः ।  
तस्मादपुनर्जन्मनां समुद्धूणां मोक्षं गन्तुं भगवानादित्यो वर्त्मेति सिद्ध्यति । अथवा  
स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन त्रिधा उपासना विद्यते, निराकारं परमात्मानं विग्रहवन्तं मन्त्राङ्ग-  
न्यासादिना परिकल्प्य या भगवत्सेवा मन्त्रावृत्त्या क्रियते सा स्थूलोपासनाऽध्यामा-  
धिकारिणा विधीयते । पुनः मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्धान्तं मतभेदेन रक्तशुक्लतन्तु-  
निभां प्रभां ध्यात्वा सा प्रभा तदुपरिस्था । सार्धसोमं सूर्यं प्राप्य तस्मादमृतं प्लाव-  
यित्वा पुनरप्यमृतरूपेण मूलाधारं प्राप्य पुनरपि सर्ववत् मूलाधारात् ब्रह्मरन्धान्तं  
प्राप्येत्थं गमागमेन योपासना सा सूक्ष्मोपासना । एषा मध्याधिकारिणा विधीयते ।

अयं प्रकारः श्रीभगवत्सदाचार्येणोक्तः-

“मूलाधारात्प्रभृति तडिदाभा प्रभा सूक्ष्मरूपा  
गच्छन्त्यामस्तकमणतरा तेजसां मूलभूता ।  
सौप्त्यगन्तश्रवणनिपुणा सा पवित्रातुवद्वा  
ध्याता सद्योऽमृतमथ रवेः आर्षेयत्सार्धसोमात् ॥” इति ।

पूर्वोक्तायाः स्थूलोपासनाया इयं प्रथमा निरवयवत्वादितोऽप्युत्कृष्टा परोपासना  
संश्लिष्टानंदरूपं ब्रह्मणि अहमिति भावना । तस्याः सिद्ध्यर्थं सूक्ष्मोपासनायद्वाङ्म-  
यं संप्रक्षयः सूक्ष्मोपासनायाः सर्वसांप्रक्षत्वात् समुद्धूणामपुनर्जन्मनां मोक्षप्राप्तौ  
सर्वां पश्येति सिध्यति ।

अथवा जन्तुर्निधनकालं यत्किञ्चित्तेजो ध्यायति चेत् पुनः शरीरं न गच्छति  
मुक्तिं प्राप्नोति च । सर्वेनेत्रायः सूर्यः यत् । तथा चोक्तम्-‘तेजसां गोलकः सूर्यः’  
इति । जीपितान्ते तेजश्चित्तवत् मोक्षसिद्धिरस्तीति श्रीसाम्बेनोक्तम्-

“आस्तां जन्मप्रभृति भगवत्सेयनं तादृि लोके  
पात्तं केनापारमितफलं मुक्तिमुक्तिप्रकारम् ।  
ज्योतिर्मायामृतिपथमतो जीपितान्ते विभाश्य  
निर्वाणाय प्रभवन्ति मनां तेन तं यः मधोऽन्यः ॥” इति ।

आत्मेत्यात्मविदामित्यत्रात्माविदात्मज्ञानिनामात्मा यदा ह्यात्मज्ञानं भवति तदैव मुक्तो भवति । तथा चोक्तम्—

“मोक्षस्य नैव किञ्चिद्विदामास्ति न चापि गमनमन्यत्र ।

अज्ञानमयग्रन्थेर्भेदो यस्तं विदुर्मोक्षम् ॥” इति

‘ज्ञानादेव तु कैवल्यम्’ इति श्रुतिवागापि श्रूयते । इति शब्दोऽत्र पर्याप्तो वर्तते आत्मविदामात्मेति निश्चित इत्यर्थः स्थूलभूतमोपासनयोः कल्पनिकत्वात् ।

अथवाऽत्रेतिशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते । अपुनर्जन्मनां वर्त्तेति परिकल्पितः । यजतां क्रतुरिति परिकल्पितः, आत्मविदामात्मेति परिकल्पितः, इत्यादि । क्रतुश्च यजतामित्यत्र होतृरूपेण दूतभूषणेण स्थितः कर्मसमुदायफलं ददातीति पूर्वमीमांसक-सिद्धांते कर्मसमुदायरूपेण स्थित इत्यर्थः

भर्तामरज्योतिषामित्यत्र स्वोत्पादितेषु पट्सु ऋतुष्वपि तत्तद्वतुजन्यानि द्रव्या-  
प्यान्नादीन्मुत्पाद्य देवानां हविर्भागमापादयति । अतः कारणादमराणां भर्ता भवति । आकाशवर्तिनां ग्रहनक्षत्रादीनां स्वप्रभायोगवशात् प्रभावत्वमुत्पादयति तस्मात्तेषां च भर्ता भवति । अथवा रुद्रादीनां सूर्यापासनं विद्यते तस्मात्तेषां भर्तृति-  
तथा चोक्तम्—

“यस्योदयारतसमये सुरमुकुटनिपट्टचरणकमलोऽपि ।

कुर्वतेऽञ्जलिं त्रिनेत्रः स जयति धाम्नां निधिः सूर्यः ॥” इति ।

‘लोकानां प्रलयोद्भवस्थितिविभुः’ इत्यत्र त्रिगुणानवलम्ब्येति सूतिभावेन लोकानां सृष्टिस्थितिसंहारान् करोतीत्यर्थः ।

अथवा स्वोत्पादितेषु मेपादिराशिषु ग्रहस्थितिबशात् चतुःप्रकारसम्भवानां जन्तूनां जन्म विद्यते, रक्षणं, संहारश्च । तस्माल्लोकानां प्रलयोद्भवस्थितिविभुरिति युज्यते । च शब्देन अत्यहं लोकानां प्रलयोद्भवस्थितिविभुरिति सूचयति । उदये समस्तं जगत् प्रतिबोधमेति, मध्याह्नसमये स्वभावकियासु प्रसरति, अस्तसमये उच्छ्वसितमात्रं शेते, । तथा चोक्तम्—

“यस्योदये जगदिदं प्रतिबोधमेति मध्यं गते प्रसरति प्रकृतिक्रियासु ।

अस्तस्थितौ स्वपिति चोच्छ्वसितैकमात्रं भानुः स एव जयति प्रकटप्रभावः ॥” इति ।

अनेकधा यः श्रुतौ वाचकभेदेऽपि वाच्यत्वमस्यैवेत्यर्थः । नैककिरणोऽसंख्यकिरणः अथवा सहस्रकिरण इति वा । पञ्चशतकिरणैर्भूमिषु द्रव्यरसमाददाति, अपरैः पञ्चशतकिरणैर्विभृजति जगदाप्यायनकर इत्यर्थः । त्रैलोक्यदोषस्त्रैलोक्यप्रकाशकः । अथवा त्रीन् भूतभविष्यद्वर्तमानान् लोकयति पश्यतीति त्रिलोकः त्रिलोकदर्शी तस्य भावस्त्रैलोक्यं त्रैलोक्यदोषम्विकालदर्शी तेन दोषवत् सर्वं प्रकाशयतीति ॥१॥

(शार्दूलविक्रीडितम्)

भूयोभिः पटुबुद्धिभिः पटुधियां होराफलज्ञस्ये  
शब्दन्यायसमन्वितेषु बहुशशास्त्रेषु दृष्टेष्वपि ।

होरातन्त्रमहार्णवप्रतरणे भग्नाद्यमानामहं

स्वल्पं वृत्तविचित्रमर्थबहुलं शास्त्रप्लवं प्रारभे ॥ २ ॥

अथ व्यापारस्य लोकानुग्रहविषयत्वं प्रदर्शयन् चिकीर्षितं प्रतिजानीते ।

अहं भूयोभिः पटुबुद्धिभिः पटुधियां होराफलज्ञस्ये, बहुशः शास्त्रेषु दृष्टेषु  
सत्स्वपि होरातन्त्रमहार्णवप्रतरणे भग्नाद्यमानां पटुधियां शास्त्रप्लवं प्रारभे इत्यन्वयः ।  
भूयोभिर्बुद्धिभिः पटुबुद्धिभिः पटुत्वं गुणसमग्रता तदुक्तबुद्धिभिः । बुद्धेर्गुणाश्च-

“शुभूया अवणं ज्ञानं ग्रहणं धारणं तथा ।

ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धागुणाः ॥” इतिप्रसिद्धाः ।

अनेन पटुबुद्धिभिरिति होराचार्याणां निर्देशेन होरातन्त्रनिर्वहणे ऊहापोहपटुत्वं  
विशेषेणापेक्षते । यथोक्तम्—

“स्वस्थचित्तो विवित्तस्थः पञ्चसिद्धान्तकोविदः ।

ऊहापोहपटुः सिद्धमन्त्रो जानाति जातकम् ॥”

होराफलज्ञस्ये जातकफलावबोधनार्थं दृष्टेषु श्रुतिमूलत्वात् पराशरादिभिः साक्षा-  
त्कृतेषु । होरातन्त्रस्य पूर्वजन्मेहिङ्गपारत्रिकविषयं ( यस्य ) बहुविधविशेषबोधक-  
त्वाददृष्टपारकत्वेन महार्णवरूपणम् । अतस्तत्प्रतारणसाधकत्वाच्चिकीर्षितशास्त्रस्य  
प्लवरूपणं घटते । पूर्वशास्त्राणां शब्दन्यायसमन्वयकथनेन चिकीर्षितशास्त्रे शब्दन्या-  
यव्यतिरेकेणापि कचिदर्थविशेषसूचनं ध्वन्यते । स्वल्पमपि सारसंग्रह रूपत्वात् सुखा-  
भ्येषामिति भावः । अर्थबहुलम् स्वशास्त्रस्य जातकविषयत्वेऽपि । प्रश्नशास्त्राद्यर्थाना-  
मपि प्रतिपादकत्वं द्योत्यते ।

पूर्वेषां शास्त्राणामभिवानाभिधेययोः शब्दार्थार्थावबुद्ध्यादुर्गुणत्वेन होरातन्त्रमहा-  
र्णवप्रतरणं सुकरं भवदित्यभिप्रायः ।

अत्राह गोविन्दः—

“भूयोभिरिति । इष्टद्वयतायाः परमात्मनो रवेः स्वाभिप्रेतं वरं प्रार्थ्यसिद्धं कृत्वा  
शास्त्रचिकीर्षुरयमाचार्यचिकीर्षितप्रतिज्ञां करोति, शास्त्रप्लवं प्रारभे इति । किमर्थ-  
मिति चेत् । होरातन्त्रमहार्णवप्रतरणे भग्नाद्यमानां होराफलज्ञस्ये, अत्र महार्णव-  
शब्दे नाम्यापारत्वम्, गम्भीरत्वम्, विस्तीर्णत्वं च सूचयति । ततो मन्दमतीनां  
दुस्तरत्वात् सुग्रप्रतरणाय शास्त्रप्लवं प्रारभे इत्यर्थः”

शास्त्रप्लवमित्यत्र रूपकालङ्कारेण प्लवसाधर्म्यमभिव्यज्यते । कीदृशमिति चेत् ।  
स्वल्पम् । ग्रन्थतः स्वल्पम् । पूर्वशास्त्रेभ्यः स्वल्पमित्यर्थः । वृत्तविचित्रम् । वृत्तैः  
शार्दूलविक्रीडितादिभिर्नानाविधम् । अर्थबहुलं बहुव्ययसमन्वितम् । ग्रन्थतः स्वल्पत्वेऽ  
र्थतोऽपि स्वल्पत्वं भवतीति शंकापरिहारार्थमर्थबहुलमित्युक्तम् । अस्य शास्त्रस्यार्थसर्व-  
स्वं कोऽपि न परिच्छिन्नतीत्यर्थः ।

प्लवसाधर्म्यं वृत्तं वर्तुलं वृत्तं च तद्विचित्रं चेति वृत्तविचित्रमर्थबहुलं रत्नवस्त्राद्य-  
नेकार्थसाहितं प्लवमित्यर्थः ।

होरातन्त्रमहार्णवमतरणे भूमोद्यमानामित्यत्र भूमोद्यमशब्देनान्यशास्त्राणि बहुशो  
निरीक्ष्य तत्सारासारं विभज्य निणेतुमशक्तानामनेन शास्त्रेण सुखावधौ भवती-  
त्यर्थः । कथं भवति-

बहुभिः पूर्वाचार्यैर्निर्देशेषु शास्त्रेषु कृतं प्यपि इदं शास्त्रं प्रारभ इत्यत्रायं विशेषः ।  
पूर्वशास्त्रेषु पटुधियामेवाधिकारो न मन्दमतीनाम् । कथ्यमाने मच्छास्त्रे पूर्वशास्त्रेषु  
कृतभ्रमाणामनिर्णयतः शास्त्रतत्त्वानामप्यधिकारित्वमित्युक्तं भवति, होरातन्त्रमहार्णव-  
मतरणे भूमोद्यमानामित्युक्तत्वात्, कृतत्रेताद्वापरेण गतेष्वचिरायुषो रोगभाजः  
पापिष्ठा मन्दमतयश्च जायन्ते तस्माच्छास्त्रस्य लघुकरणाभावे शास्त्रं पतिप्यत्येवेत्य-  
भिप्रेत्येतदुक्तं भवति । पराशरहोरायां पराशरमुनिं प्रति मैत्रेयवचनम्-

“संकरात्तु फलानां च ग्रहाणां गतिसंकरात् ।

नान्येषामीदृशस्येति परिच्छेत्तुमलं नराः ॥

कलौ युगे ततोऽल्पेव बुद्धिः पापोत्तरा नराः ।

अतो न चास्य प्रचयगमनं न प्रयोजनम् ॥

तत्र त्रेतायुगे केचिद्वापरे च कृते युगे ।

कुशाग्रमतयः सर्वे पुण्यभाजश्चिरायुषः ॥

ततोऽल्पबुद्धिगम्यं यच्छास्त्रमेतद्वदस्व मे ।

आयुश्च लोकयात्रा च द्वे शास्त्रेऽस्मिन् प्रयोजनम् ॥

निश्चेतुं कोऽनु शक्नोति वशिष्ठो वा बृहस्पतिः ।

किं पुनर्मनुजास्तत्र विशेषात्तु कलौ युगे ॥”

महार्णवपद्धतिविस्तीर्णगंभीरापरपर्वशास्त्राणि पाठितुं निणेतुमशक्तानामल्पे ग्रन्था-  
ध्ययने बहुव्ययग्रहणाय स्वल्पशास्त्रं करोमीत्यर्थः ॥ २ ॥

(इन्द्रवज्रा )

होरेत्यहोरात्रविकल्पमेके वाञ्छन्ति पूर्वापरवर्णलोपात् ।

कम्मार्जितं पूर्वभवे सदादि यत्तस्य पार्तिं समाभिव्यनात् ॥ ३ ॥

अथ शिष्यप्ररोचनाय होराशब्दनिर्घचनपूर्वकं होराशास्त्रेऽभिधेयं प्रतिपादयति ।  
 एके पूर्वापरवर्णलोपादहोरात्रविकल्पं होरेति वाञ्छन्तीत्यन्वयः । 'एके मुख्यान्-  
 केवलेषु' इति सिद्धः । पूर्वापरवर्णलोपात् पूर्वापरवर्णलोपं विधाय पूर्ववर्णस्याकारस्य,  
 अपरवर्णस्य त्रकारस्य च लोपं विधायेत्यर्थः । ल्यबलोपे पञ्चमी । अहोरात्रवि-  
 कल्पं विशिष्टः कल्पो विकल्पः । जननेन वा प्रश्नेन वा अहोरात्रयोर्विकल्पः । अका-  
 रत्रकारयोर्वर्णयोर्लोपं विधाय होरेति वाञ्छन्ति । जननोपलक्षितं वा प्रश्नोपलक्षितं वा  
 तात्कालिकमहोरात्रावयवं होराशब्देन निर्दिशन्तीत्यर्थः । स च विशिष्टोऽहोरात्राव-  
 यवस्तात्कालिकग्रहस्फुटानां लभस्य च निर्णयसाधनत्वेनास्मिञ्छास्त्रेऽवधारणीयः ।  
 तथा चोक्तं श्रीपतिना-

श्रियोऽत्र प्रथमं हिजन्मसमयः ' इति । तदवधारणप्रयोजनमाह अत्र सा  
 होरेत्याहर्तव्यम् । सा होरा पूर्वभवेऽर्जितं सदादिकर्म व्यक्तस्य पक्तिं समभि-  
 व्यनक्तितिसंबन्धः । पूर्वजन्मनि अर्जितं सदादि, आदिशब्देन सदसच्च गृह्यते ।  
 दृढकर्मोपार्जितं सत् । अदृढकर्मोपार्जितमसत् । दृढादृढकर्मोपार्जितं सदसदिति  
 त्रिविधं यत्कर्म तस्य पक्तिं परिपाकं समभिव्यनक्ति सम्पगभिव्यनक्ति । तथा च  
 सारावल्याम्-

"यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः पक्तिम् ।

व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव ॥" इति । -

"दशाप्रभेदेन विचिन्तयेद्दृढं दृढतरं चाष्टकवर्गगोचरैः ।

दृढादृढं योगवशेन चिन्तयेदिति त्रिधा जातकमुष्मसंग्रहः ॥" इति ।

फलचिन्तनस्य त्रिविध्यं चाचार्यैः प्रदर्शितम्-

"आधानजन्मापरिविधाकालेऽसंगच्छतो जन्म वदेद्विलम्बात् ।" इति ।

वक्ष्यमाणनष्टजातकादिप्रश्नविशेषेषु प्रथमावधारणीयस्यादयल्लभस्य साधनभूत-  
 दिनगतनाडिका निर्णेतुं कालारूढयोरवश्यं भाविनः सम्बन्धस्य प्रतिपादकसूक्ष्मराशि-  
 प्रमाणमपि प्रदर्शितं होरेत्यहोरात्रविकल्पमित्यनेन । कथमिति चेत् । लुप्तलुच्छेदने,  
 इत्यस्माद्जातोर्निष्पन्नस्य लोपशब्दस्य छेदार्थवाचकत्वेन छिन्नस्य च भागद्वयात्म-  
 कत्वेन पूर्वापरवर्णविभागादिति अयमस्मिद्धयति । ततो होरेत्यत्र पूर्ववर्णस्याधस्ताद-  
 परवर्णो रेफः स्थाप्यः । एवं विभक्तेऽक्षरसंख्याया रत्नदानमिति प्राणद्वयाधिकाष्ट-  
 विनाट्यात्मकं सूक्ष्मराशिप्रमाणमत्रोपदिष्टं भवति । पण्डितिकात्मकस्याहोरात्रस्य  
 द्वादशाधाविभागं पञ्चनाडिकया मेपादिराशयो भवन्ति । (मेपादीनां राशयश्चक्राणि)  
 अष्टैकराशेः ( एकचक्रस्य ) पञ्चषट्ठिकात्मकस्य पड़विंशो भागां द्वेऽष्टाण्दवादशांश-  
 स्वरूपसूक्ष्मराशिप्रमाणं रत्नदानम् ( ॐ ) तस्यापि त्रिधाविभागे सति त्र्यंशद्वय-



युक्तषोडशमण्णात्मकमूढमदेष्काण इभस्तुत्य ( १६ ) प्रमाणं स्यात् । शंकुच्छायाद्य-  
वगते सावयवे प्रश्नकालादिगतेरेतयोः सूर्यवाराचतुष्कक्षयः गुलिकवाक्य(स) संवादि  
(दी) सूर्यवारे विकल्पश्चतुष्कक्षयः पण्डितशतिर्नाडिकाः, सोमवारे तथा विकल्पः द्वाविं-  
शतिः, भौमवारं ततोपि क्षयः अष्टादश, बुधवारे चतुर्दश, गुरुवारे दश, भृगुवारे पद,  
मन्दवारे द्वावित्यहोरात्रविकल्पश्चेन व्यञ्जितम् । तस्मादहोरात्रविकल्पो गुलिकः  
तथा चोक्तम्—

“चन्द्रो रुद्रो जयो विद्या नयस्तेनखनी रवेः ।

त्रिंशन्नाड्यहि गुलिकं दिनपंचकवान्निशि ॥” इति ।

गुलिकस्वरूपं चोक्तमन्यत्र—

“अथ गुलिकः कूरतमः शनैश्चरस्यात्मजः खलः पापः ।

सत्त्वाकृतिरपुष्टो निगद्यते मृत्युरखिलसंहारी ॥

नीलाञ्जनसंकाशो रक्ताशो विषमभीषणो दीर्घः ।

पंचाक्ष्यः पृथुदंष्ट्रो भयंकरः सर्वदा गुलिकः ॥

इत्याद्युक्तस्वरूपा गुलिकोप्यत्र सर्वकालोपादानकारणत्वेऽत्र शास्त्रारम्भे प्रदर्शित  
इति चेदित्यम् । अत्रान्योऽपि योजनाप्रकारः एके अहोरात्रविकल्पं पूर्वापरवर्णलो-  
पाद्धोरेति बांछंतीति योजना । एके केचित्सम्प्रदायविद इत्यर्थः अत्रान्योपि योज-  
नाप्रकारः अहोरात्रविकल्पमहोरात्रशब्देन द्वादशराशयः कथ्यन्ते, तेषां घटिकाम-  
ण्डलसमानत्वात् । अथवाऽहोरात्रेत्यत्र हकारसंख्ययाऽष्टकं रेफेण द्विकप्रकारेण च  
द्विकमेतेषां संकलिते द्वावश्च लभ्यन्ते इत्यहोरात्रेण राशयः कथ्यन्ते एतेषां विक-  
ल्पश्चतुर्धा कल्पनमेकेकस्य राशेश्चतुश्चतुर्भागकल्पनं होरेति बांछन्ति पूर्वापरवर्ण  
लोपात्पूर्वापरवर्णलोपं निमित्तीकृत्य, पूर्वशब्देनलयरहितो यथापूर्वं स्थापिधातुरुच्यते  
अपरशब्देन मूलं वक्ष्यते । वर्णशब्देन जीवः । लोपशब्देनापि नष्टं वस्तु उच्यते ।  
पूर्वं चापरश्च वर्णश्च लोपश्चेति द्वन्द्वः । सर्वा द्वन्द्वोपि विभाषैकवद्भवति इत्येकव-  
द्भावः धातुमूलजीवमृतानि वस्तूनि निमित्तीकृत्येत्यर्थः । मेषादिराशिषु चतुर्धा  
विभक्तेषु प्रथमो भागो धातुः । द्वितीयो मूलम् । तृतीयो जीवः । चतुर्थो मृतः इति  
कल्पनं होरेति बांछन्ति । इयुक्तं भवति चतुर्भागस्य होरात्वकथनेन तत्र चतुर्भागे  
लग्नवत् संकल्पनं कर्तव्यमिति द्योत्यते । एको राशिर्नवक्षरणात्मकस्तस्यचतुर्भागः  
पादत्रययुक्तास्त्रयस्त्रिंशद्वटिका भवन्ति तत्र नवांशकः पादेनचतुर्नाडिकात्मको भवति  
पञ्चाशच्च पृथिव्यग्नेर्वाय्वाकाशघटिकात्मको भवति । द्वादशांशकः एकोनप-  
ञ्चाशद्दिनादिकायुक्तपटीद्वयात्मकश्च भवेत् इत्यादिभिर्धात्वादीनां विशेषा वक्तव्या,  
इति वियेन्यादिष्वायोपयोगादशा द्योत्यते । तस्मादहो रात्रेश्च द्वाद्विंशत्योस्त्रैरा-

शिकेन गुलिकानयनं कर्तव्यमित्यपि द्योत्यते कालनिर्देशमात्रादेव ग्रहसंयुक्तानामुदय-  
लग्नस्य चानयनं गणितशास्त्रज्ञानादेव वेत्स्यति । गुलिकानयनमत्र व्यक्तमुक्तं च  
अतो जातकादिनिरूपणस्योपादानसर्वस्वमत्राविहितं भवति । अत्राह गोविन्दः-

‘होरेति अहोरात्रस्य द्वादशपरिवर्तनकालस्य विकल्पं होरेत्येके वाञ्छन्ति ।  
द्वादशराशिभिस्तदाश्रयेर्ग्रहैश्च हि सर्वं शुभाशुभं विचिन्त्यते ।’ तथा च सारावल्याम्  
“आद्यंतवर्णलोपाद्धोराऽस्मात्संभवत्यहोरात्रात् ।

तत्प्रतिबन्धः सर्वो ग्रहभगणश्चिन्त्यते यस्मात् ॥” इति ।

अन्ये होरासंज्ञामग्नया वर्णयन्ति यथैव तत्रैव सारावल्याम्-

“जातकमिति प्रसिद्धं यल्लोके तदिह कीर्त्यते होरा ।

अथवा देवविमर्शनपर्यायः खल्वयं शब्दः ॥” इति ।

आचार्यस्य तु पूर्वोक्तमेवाभिमतं तस्य युक्तिमत्त्वादहोरात्रविकल्पं होरेत्यत्र ।  
विकल्पो विविधः कल्पः कल्पनाया विविधत्वं द्वादशराशितन्त्रवांशकद्वेषकाण-  
होरात्रिंशशकादिभेदः अथवा अहनि निशि चाष्टभिर्विभक्तयोर्गुलिकयमघण्टाकार्द्ध-  
ग्रहरादयो भवन्ति । तैरपि शुभाशुभं चिन्त्यते अहोरात्रेषु अष्टभिर्विभक्तये सूर्यचार-  
श्चिन्त्यते । तथा चोक्तम्-

“यामार्द्धमुदयात्पूर्वमारभ्याष्टासु संस्थिताः ।

अङ्गारादित्रयादीन्तेशान्तमृतसादिकत्रयम् ॥

ध्वजोच्च शेषाद्वितयं दीप्तः शान्तध्वजा इति ।”

एष विधिः सर्वेषां शुभाशुभशंकूनां फलनिरूपणे ग्राह्यः । पुनः क्षणिकग्रहादि-  
संचारोऽप्यहोरात्रादेर्विज्ञायते । तस्मादहोरात्राद्धोराशब्दो व्युत्पाद्यते । इति युक्तं-  
भवति किमस्य होराशास्त्रस्य प्रयोजनमित्यत्राह-

पूर्वभवे पूर्वजन्मनि सदादि यत्कर्म स्वोपार्जितं तस्य पक्तिं पाकं व्यञ्जयति इयं  
होरेत्यर्थः । अथवा पूर्वभवः आधानसमयस्तस्मिन्काले ग्रहराश्यादिभिः सदादि-  
कर्मफलं व्यञ्जयति ।

अथवा पूर्वभवः पूर्वं पितृपितामहादयस्तेषां भवे संसारे यत्कर्म सदादि  
पुण्यादि तत्फलं पुत्रपौत्रानुभावादयस्तानिपं होरा व्यञ्जयति । अथवा पूर्वभवे  
पूर्वजन्मनि सदादि पुण्यपापव्यामिश्ररूपं यत्कर्म गर्भाधानादिमेतकार्यान्तं क्रियते  
तस्य हि तत्कालकृतस्य फलमयं कालः करोति । तथा चोक्तम्-

“सुखदुःखकरं कर्म शुभाशुभमुद्भूतजम् ।

जन्मान्तरेऽपि वा कुर्यात्फलं तस्यान्वयेऽपि वा ॥” इति ।

किं बहुना सर्वथापि कालाख्यस्येश्वरस्य दृढादिकर्मफलदानृत्वमत्रोच्यते ।  
तथा च जातकसंग्रहे-

“दृढादिकर्मत्रयकालमोन्धरः कालस्वरूपः प्रददाति देहिनाम् ।  
 फलत्रयं यत्सदसद्विमित्रं तत्संक्षये संक्षेपकृतया पुनः ॥  
 तस्माच्छुभं कर्म शुभस्य कारणं फलस्य चान्यस्य यदन्यमित्यतः ।  
 शुभे तु काले शुभकृत्फलं शुभं प्रयाति तस्मादिदमत्र चिन्त्यताम् ॥  
 दशाग्रभेदेन विचिन्तयेद्दृढं दृढेतरं चाष्टकवर्गगोचरैः ।  
 दृढादृढं योगवशेन चिन्तयेदिति त्रिधा जातकसूत्रमसंग्रहः ॥  
 फलं क्रमाच्चञ्जगदुः पुरातनाः ॥” इति ।

तस्मादिदं होराशास्त्रमवश्यमभ्येतव्यम् । पुरुषार्थोपयोगितयावगन्तव्यम् । अस्य  
 शास्त्रस्यारम्भे त्वाचार्यः । ईश्वरस्यादित्यस्य प्रणिपातं कृत्वाऽस्माकं वाचं दधात्विति  
 वरं प्रार्थितवान् । इति यत्तस्मादेतदभ्येतृणां भगवतो रवेः प्रसादादेव त्रैकाल्यज्ञानं  
 भवतीत्युक्तं भवति । तथा चोक्तम्—

“अनेकहोराशास्त्रज्ञः पञ्चसिद्धान्तकोविदः ।

ऊहापोहपटुः सिद्धमन्त्रो जानाति जातकम् ॥”

संहितायामप्युक्तम्—

“तन्त्रे सुपरिज्ञाते लभे छायाम्बुयंत्रसंविदिते ।

होरायं च सुरुद्धे नादेष्टुर्भारती बन्ध्या ॥” इति ।

अस्यापमर्थः तन्त्रे सुपरिज्ञाते ग्रहगणिततन्त्रे दृग्गणितसाम्येन सुपरिज्ञाते । तथा  
 च जातकसंग्रहे—

“योगे ग्रहाणां ग्रहणेऽसोमयोर्मध्ये तथा वक्रगतेषु पञ्चसु ।

दृष्टानुरूपं करणं यदन्वहं तेन ग्रहेन्द्रान्गणयेन्निवारकान् ॥” इति ।

लभे जन्मलभे प्रश्नलभे वा छायायां शंकुच्छायादिना तज्ज्ञाने अम्बुयन्त्रैः  
 कालज्ञानसाधनैर्वा लभं सम्यग्विदिते होराशास्त्रार्थतत्त्वे मनसि सम्यग्भूते गुरुमु-  
 खाद्धोराशास्त्रार्थं समावगते गुरुदेवताप्रसादात् प्रकाशिते सति जादेष्टुर्देवज्ञस्य  
 वाङ्मनिष्कला न भवति इति ॥ ३ ॥

( शार्दूलविक्रीडितम् )

कालाङ्गानि वराङ्गमाननमुरो हृत्क्रोडवासो भृतो

वस्तिर्व्यञ्जनमूरुजानुयुगले जडे ततोऽग्निद्वयम् ।

मेपाश्विप्रथमा नवर्क्षचरणाश्चक्रस्थिता राशयो

राशिक्षेत्रग्रहर्क्षभानि भवनं चैकार्थसम्प्रत्यये ॥ ४ ॥

नवर्क्षचरणाः मेपाश्विप्रथमाश्चक्रस्थिता राशयो वराङ्गादीनि कालाङ्गानि भवन्ति इति सम्बन्धः । सप्तविंशतिनक्षत्रेषु द्वादशधा विभक्तेष्वेको भागो नवर्क्षचरणात्मको भवति ।

मेपाश्विप्रथमाः नक्षत्राणां कादाचित्कयोर्धनिष्ठादित्वकृत्तिकादित्वयोरप्युदासायाश्विप्रथमतत्त्वमुक्तम् चक्रस्थिताः । चक्रं द्विविधं स्थिरचक्रं चरचक्रं चेति चरचक्रं तु “मेपादेः कन्यान्तं सममुदङ्मण्डलार्द्धमुपयान्तम् । तौल्यादेर्मौनान्तं शेषार्द्धं दक्षिणेनैव ॥” इत्युक्तस्वरूपमपक्रमण्डलम् । तत्र चक्रस्थिता राशयः प्रश्ने-  
ष्वारूढज्ञानार्थं गृह्यन्ते चरचक्रस्थिताः पुनः जातके प्रश्ने च खिलमानयनाय गृह्यन्ते ।

राशय इति घनसेनादिष्ववयवनिवृत्त्यर्थत्वेन राशिश्चदस्त्वस्मादंशकानां प्राधान्यं व्यनक्ति । अंशकेष्वपि नवर्क्षचरणेत्युक्तनवांशकानां प्राधान्यं ध्वन्यते । एते राशयः कालपुरुषस्याङ्गानि तत्र मेपो वराङ्गं षडाधारेभ्यः परस्ताद्भागम् । वृषभस्तस्याद्यस्थितमार्कंडादाननम् । उरस्तदधो यावद्वाहन्तरान्मिथुनम् । तदधस्तनान्तरमुदरस्योपरि हृदयं कर्कटः तस्याधस्तान्नाभेरुपरिभागं सिंहः । नाभेरधस्ताद्वस्तेरुपरिभागो वासस्थानं कन्या । लिंगनाभ्योर्मध्यादारभ्य लिंगमूलावधिप्रदेशो वस्तिशब्देनोच्यते तुलाराशिः । लिंगनाभ्योर्मध्यप्रदेशे द्विधाविभक्ते तदुपरिभागः कन्याराशिः । तदधोभागस्तुलाराशिरित्युक्तं भवति, । लिङ्गमूलादारभ्य गुदावधिर्व्यञ्जनं वृश्चिकः अपं पुमानियं स्त्री व्यज्यते अनेनेति व्यंजनम् । गुदादिजानुपर्यन्तमूरु चापराशिः । जानुमण्डलद्वयं मकरराशिः तदधो गुल्फावधि जंघायुगलं कुम्भराशिः । तस्याधोभागः पादयुगलं मीनः । इति देहे स्थिरचक्रन्यासः प्रदर्शितः ।

अङ्गालंभनादिभिर्वेति वक्ष्यमाणनष्टजातकप्रश्नादावस्योपयोगः । राश्यादयः पञ्चशब्दाः भवनशब्दश्चकार्यसंप्रत्यये एकस्यार्थस्य संप्रत्ययेऽवबोधने वर्तते । गोविन्दः ।

‘एवमिष्टेयतास्तुतिं च तद्वरप्रार्थनां चिकीर्षितप्रतिज्ञामधिकारभेदशास्त्रस्वरूपं प्रयोजनं चोक्ताऽनुष्ठानप्रकारार्थं राशिस्वरूपमाह ।

‘कालाङ्गानीति’ ज्योतिः शास्त्रं तावत्रिस्कन्धमंकस्तावद्भाणितस्फंधः, अपरः संहितास्कन्धः, तृतीयोऽयं होरास्कन्धस्तत्र गणितस्कन्धे गणितगोली प्रतिपाद्यते । संहितास्कन्धे तु सामान्यफलं वर्षलक्षणजनक्षयपुष्ट्यादिसमस्तानां पदार्थानां लक्षणा चोच्यते । होरास्कन्धे तु जातकप्रश्नमुद्घर्ता निनिगद्यन्ते । तत्र सुहृत्तन्निधानं पृथक्कृत्या सुहृत्तन्निधानाणि पुरातनैः कृतानि । जातफलक्षणेनैव प्रश्नफलं च निरूपणीयम् । तथा च ‘वासिष्ठे’—

“शुद्धां शास्त्रं तथा न्यायं घलाबलविधानतः ।

तथोक्तं जातके सर्वं तद्वत्प्रश्ने विचिन्तयेत् ॥”

तथापि जातकप्रश्नौ पृथक्कल्पयित्वा कृष्णादिभिर्ऋषेः प्रश्नशास्त्राणि रचितानि,  
निमित्तानि तु संहिताहोरास्कन्धयोरुपरि कैश्चिन्निमित्तशास्त्राणि पृथक्कृतानि ।

ज्योतिःशास्त्रं पटङ्गमुच्यते तथा चोक्तम्—

“जातकगोलनिमित्तप्रश्नमुहूर्ताख्यगणितनामानि ।

अभिदधतीह पटङ्गान्याचार्या ज्योतिषे महाशास्त्रे ॥”

इत्यनेनाचार्येण जातकप्राधान्येनेदं शास्त्रं क्रियतं प्रश्नविधिरप्यत एव सिद्ध्यति ।

ततोऽत्र जातकप्रश्नयोः कालप्राधान्यात् कालपुरुषस्य लक्षणं प्रथममुपदिश्यते ।

‘मेपाधिप्रथमा नवर्क्षचरणाश्चक्रस्थिता राशयो’ वराङ्गादीनि कालाङ्गानित्यन्वयः ।

अयं मूर्तस्य कालस्य मूर्तानां राशीनां सप्तविंशतिनक्षत्रांतर्भूतानामवयवत्वमुप-  
पद्यते अपमण्डलगतानां प्रदेशानामत्रावयवत्वेनोक्तास्ते राशयो यावता कालेन देश-  
देशे भिन्नरूपा ऽन्मण्डलादुद्यन्ति स कालोऽत्राहोरात्रस्यावयवेन परिणमति इति  
वराङ्गाप्रभृति यावदाननं तावदङ्गं मेपः । आननाप्रभृति यावदुरस्तावदङ्गं वृषः  
इत्यादि द्रष्टव्यम् । कथममूर्तस्य कालस्य मूर्तत्वमुच्यते कालनिकत्वमेव फलविज्ञाप-  
कत्वेन तादृशत्वत्वात् भञ्जाद्वयस्कंधांशदेश उरःशब्देनोच्यते । वासोभृच्छब्देन  
कटिप्रदेशो गृह्यते । तथा च सारावल्याम्—

“शीर्षास्यबाहुद्वयंकजठरकटिवस्तिमेहनोरुयुगम् ।

जानू जंघे चरणे कालस्याङ्गानि राशयोऽत्राद्याः ॥ ” इति ।

अस्य प्रयोजनं तु कालपुरुषवत्कल्पमाने पुरुषशरीरे यद्वाशिभागे शुभग्रहस्तस्य  
पुष्टिः । यत्र पापग्रहस्तत्रोपद्रवः इति । तथा च सारावल्याम्—

“कालनरस्यावयवात्पुरुषाणां कल्पयेत्प्रसवकाले ।

सदसद्ग्रहसंयोगात्पुष्टिश्चोपद्रवाश्चेति ॥ ”

नष्टजातकाध्याये जन्मराशिकल्पनेऽप्युक्तम्—

“लग्नत्रिकोणोत्तमवीर्ययुक्तं भं प्रोच्यतेऽङ्गालभनादिभिर्वा । ”

यौराशिर्जिज्ञासितः सोमस्पर्शं विज्ञातव्यः । अत्र पुनर्ब्रह्मणविकटक्षतानामुत्पात्ति-  
स्थानं जिज्ञासितं, तत्रापि स्फुटेन राशीनां तद्विज्ञायते । एतत्प्रश्नेष्यपयुज्यते  
यदङ्गभूतो राशिरुदयः, आरूढस्यश्च तद्वाशौ पापग्रहयोगे तत्र रोगादि  
वाच्यम् । पुनः रास्याधिपयोरभेदोपचाराच्छरीरे राशिस्थानानि, ग्रहाणां  
स्थानानि च भवंति । मेपकुजयोर्वरांगम् । वृषशुक्रयोर्मुखम् । मिथुनबुधयोर्हरः ।  
कर्कटचन्द्रयोर्हृदयम् । सिंहरव्योः क्रोडभागः । चापयुवोरुरुः । मकरमन्दयोरार्जुनः ।  
राहोः पादम् । एवं ग्रहस्थानान्यनेनेक्तानि । मेपाधिप्रथमा इत्यत्र पञ्चांगेषु  
नक्षत्राणां प्राधान्यं सूचितम् । तान्येवेह प्रत्यक्षतो दृश्यन्ते । मुहूर्तप्रश्नादिषु  
जन्मविषयप्रत्ययविवधजन्माष्टमराशितारावैनाशिकर्क्षादयो तैरेव प्रयोगितया निगद्यन्ते ।

नवर्क्षचरणा इत्यनेन नवांशकानां प्राधान्यं सूचितम् । चक्रस्थिता इति राशीनां समुदायवशादेवं लग्नं प्रवहाक्षेमादेव न विशेषाश्च लग्नं राशीनां चक्रस्थिता इति चक्रवत्स्थिताः कुलालचक्रवत्तेषां समुदायसंस्थानम् अपमण्डले । तथाचार्यभट्टः-

“मेपादेः कन्यान्तं सममुदङ्मण्डलार्द्धमपयातम् ।

तौल्यादेर्मनान्तं शेषार्द्धं दक्षिणेनैव ॥ ” इति ।

ग्रहाधार इति सूचितम् ।

चक्रस्थिता इत्यनेन भूचक्रसंस्थानमपि सूचितम् । मेपवृषौ प्राच्याम् । मिथुनमात्रे-  
ध्याम् कर्किसिंही दक्षिणस्याम् । कन्या नैऋत्याम् । तौलिश्रुधिकौ पश्चिमायाम् ।  
धनुर्वायव्याम् । मकरकुम्भाशुत्तरस्याम् । मीनमैशान्यामिति भूचक्रसंस्थानम् ।

“प्राच्यादिगृहे क्रियादयो द्वौद्वौ कोणगता द्विमूर्तयः ।” इति ।

वक्ष्यति चैतद्भूचक्रसंस्थानं दैवज्ञस्य समन्ताद्याप्तम् । अस्मिन् भूचक्रे यत्र प्रच्छक-  
स्थितिः सै राशिरारूढसंज्ञकः । प्रच्छके राशिचक्रं विलिख्य प्रागादिषु दिक्षु मेपा-  
दिराशीनुत्पाद्य तेषु राशिग्रहनक्षत्रादीन्सम्पृज्य प्रच्छकस्तेष्वेकं राशिं स्पृशेत् । तद्वा-  
शिं लग्नं कल्पयित्वा सर्वफलानि निरूपयितव्यानि । प्रच्छकारूढराशौ विज्ञाते स  
एव राशिरारूढत्वेन ग्राह्यः । प्रच्छकदैवज्ञयोः फलजिज्ञासायां पृच्छायामसत्यामपि  
दर्शनादेव फलं चिन्तनीयम् ।

तथा च वसिष्ठः-

“अपृच्छतः पृच्छतो वा जिज्ञासोर्त्यस्य कस्याचित् ।

होराकेन्द्रत्रिकोणेभ्यो शुभाऽशुभफलं वदेत् ॥” इति ।

शुभदिवसे ग्रहनक्षत्रराश्यादीन्संपृज्य दैवज्ञाय प्राभृतकं समर्प्य पृच्छत एवं दैव-  
ज्ञेन शुभाशुभं निरूपणीयम् अन्यथा न परमार्थफलविज्ञानसिद्धिः । शास्त्रनिराशोपि  
संपद्यते तस्माद्भर्मत्वं जायते । तथा चोक्तं मनुना-

“नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्नचाज्यायेन पृच्छतः ।

विज्ञानत्रापि मेधावी जडवह्नीक आचरेत् ॥”

भट्टोत्पलेनाप्युक्तम्-

“रम्यतले भूभागे सम्पृज्य ग्रहगणं सनक्षत्रम् ।

पश्चात्प्रश्नविधानं कुर्याद्येनाभुयात्सिद्धिम् ॥

प्रष्टा मणिकनकयुतैः फलकुसुमैः राशिं विवाहकल्पिते काले ।

सुखासीनं सुखमियं दैवज्ञं भक्तितो नत्वा ॥

सम्पृज्य च यथाबलमुडुनिनामनी चोक्ता संपृच्छेत्स तु दैवतम् ॥”

“राशिंक्षत्रग्रहर्क्षभानि भवनं चैकार्थसंप्रत्यये ।” इति ।

एतत्पण्डेकार्यसंप्रत्यये वर्तन्ते प्रत्ययोऽज्ञानं संप्रत्ययः संज्ञानम् । तथा च हलधरः—

“प्रत्ययोधीनविश्वासक्षपथज्ञाननिश्चयाः ॥” इति ।

राशिपर्यायाणां षट्त्तया षड्राशयश्चिन्त्याः जातकेषु लम्बराशिरैकः, अपरश्चन्द्रा-  
धिष्ठितराशिः तयोरधिपतिस्वितराशिश्च । चन्द्रलम्बांशराशी चेति । प्रश्नादौ त्वेक-  
स्तावदुदयः । अपर आरुढः । तृतीय उद्यन्नवांशराशिः । चतुर्थश्चन्द्रराशिः । पञ्चमः  
पृष्ठांशराशिः । षष्ठश्चन्द्राधिष्ठितराशिः । षड्भिरतैः फलं निरूप्यत इति । एकार्यसं-  
प्रत्यये एकस्यार्थस्य निर्णये षड्राशयश्चित्तनीया इति च सूचितम् । षड्वर्गफलबलं  
निरूपणीयमिति ॥ ४ ॥

( वसंततिलका )

मत्स्यौ घटी नृमिथुनं सगदं सवीणं

चापी नरोऽश्वजघनो मकरो मृगास्यः ।

तौली सप्तस्यदहना प्लवगा च कन्या

शेपाः स्वनामसदृशाः स्वचराश्च सर्वे ॥ ५ ॥

अपिना भावसिद्धेनाक्षेपेणात्रान्वयो निर्बहणीयः । मीनो राशिर्मत्स्यौ मुखपुच्छ-  
प्रतिबंधमत्स्यद्वितयाकारः । कुंभराशिः घटी, स्कन्धन्यस्तारिक्तघटः पुरुषः । सगदं  
सवीणं नृमिथुनं, गदाहस्तपुरुषः, वीणाहस्ता नारो च । नवमो राशिश्चापी,  
धनुर्धरोऽश्वाकारोऽधःशरीराद्धौ नरः । दशमो राशिर्मृगाकारपूर्वाद्धः मकराकारो-  
पराद्धः । सप्तमो राशिस्तुलाधरः पुरुषः । षष्ठो राशिः प्लवगाः सप्तस्यदहनेन च  
सहिता कन्यका । शेपाः स्वनामसदृशाः । तत्र प्रथमो मेपाकारः, चतुर्थः कर्कडा-  
कारः, पञ्चमः सिंहाकारः, अष्टमो वृश्चिकाकारः । सर्वे स्वचराश्च । सर्वे  
मेपादयो द्वादशराशयः स्वाकारसमुचितदेशचारिणस्ततो मेपो दिवा घनचरः  
रात्रौ ग्रामचरः तद्वद्वृषभः क्षेत्रचरश्चेत्यादिप्रदेशः । नष्टद्वयचोरादिस्थानज्ञानार्थ-  
मवगन्तव्यः ।

अयोक्तानां राशीनां स्वभावाकृतिस्थानान्याह—मत्स्यौ घटीति संज्ञामात्रेण  
मेपादिराशयो लोकप्रसिद्धास्तेषां मेपादीनां नामानि न केवलं संज्ञामात्रप्रयोजनानि  
रूपानुरूपानीत्युपदिश्यन्ते । शेपाः स्वनामसदृशा इति लोकप्रसिद्धाः । येषां नाम-  
भवेण अशेषाणां विशेषो नावगम्यते स एवात्रोपदिश्यते ।

मत्स्याविति मीनराशिरित्युक्ते तस्य द्वित्वं न प्रतिभाति द्वित्वप्रतिभानाप्य  
मत्स्याविति द्विवचनम् । “लभं समेत्युभयतः पृथुरोमयुग्मम् ।” इति वक्ष्यति  
तेनान्योन्यपुच्छाभिमुखमत्स्ययुगलं मीनराशिरिति च सिद्धयति । घटात्यननं

कुम्भराशेरकृतिरुच्यते । घटोऽस्यास्तीति घटी तस्मात्स्फंधविन्यस्तारिक्तघटः पुरुषः  
 कुम्भराशिरिति च सिद्धयति । नृमिथुनमिति तृतीयो राशिः नरमिथुनं नारीनरी  
 सगदं सवीणमिति सगदः पुरुषः सवीणा नारीति योग्यतया विज्ञायते । चापी  
 नरोऽध्वजघन इति धनराशिः चापोऽस्यास्तीति चापी धनुष्मान्पुरुषोऽध्वजघनः अश्वस्तु-  
 रगस्तस्य जघनमिव जघने यस्य सोऽध्वजघनः नवमराशेरूर्ध्वभागश्चापपाणिर्मनुष्यः,  
 अधोभागस्तुरग इत्युक्तं भवति । मकरो मृगास्यः पूर्वभागो मृगास्याकृतिः अपर-  
 भागो मकर इति सिद्धं भवति । तौली तुलाधरः पुरुषः । सस्यदहना प्लवगा च  
 कन्या, सस्यं दहनं च दधाना प्लवगा नौस्था इति जले, शेषाः स्वनामसदृशा इति  
 मेपासिंहकुलीरकीटाः । मेपो मेपाकृतिः वृषो वृषाकृतिः । कर्कः कुलीराकृतिः ।  
 वृश्चिको वृश्चिकाकृतिः । स्वभावाश्च नामसदृशाः । मत्स्यौ घटीत्यनेन श्लोकेन लोक-  
 प्रसिद्धौ नावगन्तव्यो विशेष उच्यते चेत्तादृशं विशेषणं मीनादिराशीनां न विदुः  
 विशेषोऽस्येव । मीन इत्युक्ते मीनपुग्ममिति न वेदितव्यं वेदितव्यमेव "लघं समेत्यु-  
 भयतः पृथुरोमपुग्मम्" इति स्वयमेव वक्ष्यति, तस्य नामश्रवणेन रूपसिद्धिर्न स्यात्  
 तदेवं बहुषु नामसु सस्य केवलत्वमनेनैवाचार्येणैव कथितम् । कल्याणवर्मणाप्युक्तं  
 तथा च तद्वाक्यम्-

"कुम्भः कुम्भधरो नरोऽथ मिथुनं वीणागदाभृत्तरी  
 मीनौ मीनपुगं धनुश्च सधनुः पश्चाच्छरीरे नरः ।  
 एणास्यो मकरः सस्यदहना कन्या च नौस्था जले  
 शेषो राशिगणः स्वनामसदृशो धत्ते तुलाग्रं तुला ॥" इति ।

स्वभावास्तु स्वचराश्च सर्वे स्वचराः स्वस्थानचराः स्वस्वे स्थाने चरन्ति । अथवा  
 स्वचराः स्वभक्षाः 'चरगतिभक्षणयोः' इति धातुः । मेपस्तावत्कटुकोष्णादिभक्षणः ।  
 वृषस्तृणभक्षणः । मिथुनराशिरन्नपानादिलेह्यादिभक्षणः । कुलीरो मत्स्यादिभक्षणः ।  
 सिंहो मृगमांसादिभक्षणः । इत्याद्याकृतिसदृशानि भक्ष्याणि कल्प्यानि, स्वभावश्च  
 तद्वत् । तथाहि मेपस्तावत्संचारशीलः, शीघ्राशनः, कुनखः तोषभीरुः कामीत्यादि ।  
 वृषः मन्दगामी, पृथ्वक्कः, दीप्तोदराभिः, क्लेशसहिष्णुरित्यादि । मिथुनो राशिस्तु  
 मेयवाद्यकलाविद्यासु कुशलः, निधुवननिपुणः, हास्येङ्गितज्ञः, नृत्यज्ञः, भोजनतत्पर  
 इत्यादि । कुलीरस्तु वक्रगतिः, जलतत्परः, जलाशयनिर्माणशील इत्यादि । सिंहस्तु  
 पृथुवदनः, स्त्रीद्वेषी, तीव्रात्मा, मांसादिभक्षणतत्परश्च, गुहानिवासशीलः, उदरदन्ता-  
 दिरोगपीडः, पराक्रमगर्वाधिकः, क्षुत्पादित इत्यादि । कन्याराशिस्तु सुरतप्रियः,  
 लज्जान्वितः, परगृहवासी, प्रियभाषी इत्यादि । तुलाराशिस्तु क्रयविक्रयकुशलः,  
 कुशचलदेहः, अर्धपतिः, वाणिज्यतत्पर इत्यादि । वृश्चिकराशिस्तु विषधरः,



श्वध्वरः, क्रूरचेष्ट इत्यादि । धनूराशिस्तु कुब्जांगः, सहायापेक्षी, समरोत्सुकः, धन्वापराद्धं तु दीर्घमुखः, वीर्यान्वितः, स्थूलदन्तः, राजसन्निविनिवासशीलः इत्यादि । मकरराशिस्त्वधःकाये कृशः, सुन्दरनेत्रः, अल्पस्पृक्, शीलता इत्यादि । कुम्भस्त्वल्पजलार्थी, पृथुरूपः, भारवाहीत्यादि । मीनराशिस्तु मनोज्ञदेहः, बृहच्छिराः सुन्दरनेत्रः, जलचरद्रव्यभोक्त्यादि ।

मेपवृषादिजन्तूनां स्वभावानन्यांश्च लोक्तः शास्त्रतश्च विज्ञाय फलनिरूपणे योजयेत् ।

अत्राचार्येण राशीनां चतुष्पदमनुष्याम्बुचरसरीसृपयोनित्वं पौरग्रामारण्यत्वं च स्वचरांश्च सर्वं इत्युक्तत्वारिसिद्धं भवतीति अतो नोक्तम् । मेपवृषौ चतुष्पादाविति को न जानाति । अश्वजघन इत्युक्तत्वाद्धनुषोऽन्यार्द्धस्य साश्वत्वाच्चतुष्पदत्वं केन न ज्ञायते । मकरपर्वाद्धस्य मृगास्यत्वात्तस्यापि चतुष्पात्वं न वक्तव्यम् । मिथुनकन्याचापाद्यर्द्धकुम्भानामप्युक्ताकृतिविशेषान्मनुष्यत्वमवगंतव्यम् । कर्कस्य कुलीरत्वात्कीटस्य वृश्चिकत्वादन्यस्य मीनत्वाच्च सरीसृपत्वमूहम् । कुलीरमकरान्त्यार्द्धमीनानां जलनिलयत्वाजलराशित्वमपि केन नावगम्यते तौलिराशेर्वणिक्तात्कन्याराशेर्नौस्थत्वान्नवमाराशेर्धनुर्धरत्वाद्वाजसंनिधिनिवासाच्च पौरत्वं केन न वक्तव्यम् । नार्यपि कदाचिन्नावमारोहतीति न चित्रम् । मेपवृषमिथुनकुम्भानां ग्रामवासित्वमपि लोके दृश्यते इति नोक्तम् । मृगपतिमकरार्द्धयोराकृतिकथनादेवारण्यत्वमुक्तम् । तथा च कृष्णाचार्येणैतत्सर्वं स्पष्टतरमुपदिश्यते—

“मेपो वृषोऽथ सिंहस्तुरगान्त्यार्द्धं मृगस्य पर्वाद्धम् ।

योनश्चतुष्पदानां मध्ये जनुषो भवेन्मर्त्यः ॥

कन्याषट्मिथुनतुलाहयार्द्धमाहुर्मनुष्ययोनिरिति ।

कर्कटक्षपकुम्भचरा मृगापरार्द्धं च जलयोनिः ॥

पृश्चिककुलीरमीनाः सरीसृपाणां वदन्ति योनिरिति ।

मृगपतिमकराद्यर्द्धवारण्यौ सर्वभावेषु ॥

अरण्यमिति च मेपं वदन्ति होराविदः केचित् ।

कन्यातुले च तुरगो राक्षिषु पौरा विनिर्दिष्टाः ॥

मेपवृषकुम्भमीना ग्राम्या इति सुरिभिः समाख्याताः ॥ ” इति ।

‘मत्स्यौ षटीति’ विलोमोक्त्या कचिद्विलोमतो निरूपणीय इत्युक्तं भवति । स्थानविधिस्तु मेपादीनां जन्तूनां यानि निवासस्थानानि लोकेषु दृश्यन्ते तान्येवात्र निरूपितव्यम् । राश्याकृतिस्थानस्वभावकथनस्य प्रयोजनं तु यत्रपत्राकृतिस्वभाव-

विशेषापेक्षा जन्तूनां स्थानविशेषपरिज्ञानापेक्षा च विद्यते तत्रतत्रानेन विधिना विनियोगः । शुभनिमित्तोप्यनेन श्लोकेन मत्स्याविति सूच्यते ।

जलचरो मत्स्ययुगलम् । घटीति पूर्णकुम्भधरः । नृमिथुनमिति नरयुगलं, सगदं सर्वाणामिति गदाखट्वादिस्वकीयायुधधारी पुरुषः, सर्वाणामिति वीणावेषुमृदङ्ग-  
शंखपटहाद्यं तत्रादः । चापी नरो चापधरः पुरुषो विशेषायुधभृतसुशस्तः, अश्वजघनोऽश्वारूढः । मकरः पृथुरोमा सभेदः मृगास्यः मृगाणामपृष्ठभागदर्शनम् । तीलिः श्रीमान्वर्द्धमानो वणिक् । सप्तस्यदहना सस्यादिद्रव्याणि दहनशब्देन ज्वलदग्निः नावाभिमुख्यकन्या मङ्गलानि निमित्तानि । शेषाः स्वनामसदृशाः नामप्रवणेन दर्शनेन वा दृङ्मनसोयंत्र प्रसादो भवति तन्निमित्तन्तु शुभम् । तथा च भट्टोत्पलः—

“दृङ्मनसोः प्रीतिकरं प्रश्ने यद्दर्शनं च यच्छृणुम् ।

माङ्गलिकं द्रव्याणां भवति शुभं निर्दिशेत्तत्र ॥ ” इति ।

नामशब्देन गौणनामानि गृह्यन्ते एतदुक्तं भवति भाववाचिनां शब्दानामपि नामत्वं परिणमति । यथा द्वैधीकरणाक्रियायां छेदनमिति नाम विदारणक्रियां भिदा इतिनाम, तथासति छेदनं प्रश्नकाले दृश्यते चेत्प्रष्टुः कार्यस्यापि तत्सादृश्यं भवति विनाशो भवतीत्यर्थः । एवं येयं शब्दाः क्रियावाचिनश्च शुभा अशुभाश्च ते सर्वे प्रश्नकालेऽवश्यमवगन्तव्याः । शेषाः स्वनामसदृशा इति वचनादपि च स्वनामसदृशाः स्वस्वसंज्ञासदृशाः । पुंनामानः पुंसां स्त्रीनामानः स्त्रीणां शुभाः । एतदुक्तं भवति दक्षिणभागः पुरुषभागः वामभागः स्त्रीभागः । महादिशश्चतस्रः पुरुषाणां, विदिशश्चतस्रः स्त्रीणां शुभं भवति । गर्भप्रश्ने प्रष्टुः पुंनामकथने पुरुषो जायते, अन्यथा स्त्री जायते इति निरूपणीयम् । स्वचराश्च सर्वे इति प्रश्नकाले यदुक्तं यद्वृष्टं यच्छुतं तत्सर्वं सादृश्येन प्रष्टुर्बदेत् । स्वचराः स्वपक्षचरा एतदुक्तं भवति । विवाहप्रश्ने यादृशी तत्र दृश्यते तादृश्याः कन्यकायाः विवाहः । संततिप्रश्ने यादृशः पुरुषो दृश्यते स्त्री वा तादृशः पुरुषोद्भूतः चेति वक्तव्या । ननु मत्स्यौ घटीत्यादि श्लोकेन शुभनिमित्तमपि सूच्यते इति यदुक्तं तत्केनावगम्यते एते शुभनिमित्ता इत्यनुक्तत्वादुच्यते स्वचराश्च सर्वे इत्यनेन कथमवगम्यते एते शुभा इति । स्वचराः स्वकीयचराः स्वाभिप्रेतार्थगमकाः इत्यर्थः ॥ ५ ॥

( त्रोटकः )

क्षितिजसितज्ञचन्द्ररविसौम्यसितावनिजाः  
सुरगुरुमन्दसौरिगुरवश्च गृहांशकपाः ।

अजमृगतौलिचन्द्रभवनादिनवांशविधि-

भवनसमांशकाधिपतयः स्वगृहात्क्रमशः ॥ ६ ॥

क्षितिजसितज्ञादयो गृहांशकपा भवन्तीति शेषः । क्षितिजो मेषराशेर्मेघनवांश-  
कस्य मेषद्वादशांशकस्य चाधिपतिर्भवति । सितो वृषराशेर्वृषनवांशकस्य वृषद्वा-  
दशांशकस्य चाधिपतिर्भवतीत्याद्यनुसंधेयम् । नवांशाधिपतिरजमृगतौलिचन्द्रभव-  
नादिरिति संबंधः । मेषराशौ मेषादिचापान्तानां नवांशानां संभवात् । वृषभे  
मकरादिकन्यान्ताः । मिथुने तुलादिमिथुनांताः । कर्कटे कर्कटादिमीनांता नवांशा  
भवेयुरित्यनुवादः । अतो मेषादिचतुष्के पदत्रिंशन्नवांशकाः । राशेर्नवर्षचरणत्वा-  
देको नवांशकः एकं नक्षत्रचरणम् । ततो मेषवृषमिथुनकर्कटनवांशकात्मकमश्विनी-  
नक्षत्रम् । सिंहाद्यंशचतुष्कं भरणी, चापाद्यंशचतुष्कं कृत्तिका नक्षत्रमित्यादिफलाः  
कुजस्य भाषस्थस्य सेनाधिपतित्वादजमृगतौलिचन्द्रभवनादित्यत्र चन्द्रभवनस्य  
कर्क्यादीनि स्वरूपशब्दवाच्यत्वे चन्द्रभवनप्रयोगात्कोऽप्यभिप्रायो गम्यते । मत्स्यौ  
षटीतिग्रन्थेन निर्दिष्टस्वरूपाणां राशीनां स्वाधिपतिग्रहैर्भूतैः फलनिरूपणे चन्द्रोऽपि  
विशेषान्निरूपणीय इति सूचितम् ।

“भवनसमांशकाधिपतयः स्वगृहात्क्रमशः ।”

द्वादशांशकाधिपतयः स्वगृहात्क्रमश इति । मेषे मेषांशात्मभृतीत्यादि, तेषा-  
माधिपाः पूर्वोक्ता इति । सुरगुरुभन्दसौरिगुरवश्चेत्यत्र विलोमेन सृष्टिक्रमः सूचितः ।

मीनराशेर्गुरुराधिपतिर्गुरोराकाशो भूतम् । कुम्भस्य मन्दोऽधिपतिस्तस्य वायु-  
भूतम् । मकरचापयोस्तयोरेकाधिपतित्वात्पुनरुक्त्या तौ गृह्येते । वृश्चिकस्य कुजो-  
ऽधिपतिः कृत्तिका नक्षत्रमित्युक्तं भवति । एवं नवनव नक्षत्राणि पदत्रिंशद्भिर्नवांश-  
कैर्भवन्ति । भवनसमांशकाधिपतयः द्वादशांशकाधिपतयः स्वगृहात्क्रमशो भवन्ति  
स्वस्वं राशिमारभ्य द्वादशांशका भवन्तीत्यर्थः । मेषे मेषादिमीनान्तः । वृषे  
वृषादिमेषान्तः । इत्यादि । अत्राह गोविन्दः-

इदानीं राश्यधिपानाह-क्षितिजेत्यादि क्षितिजादयो युर्वन्ताः गृहांशकपाः,  
गृहाणाम् अंशकानां च पतयः । मेषादिप्रथमा इति, मेषस्य प्रथमोक्त्या  
मेषाधिराश्यधिपा इति वक्तव्यम् । अजमृगतौलिचन्द्रभवनादिर्नवांशविधिरित्यजा-  
दिचापान्तो मेषनवांशविधिः । मृगादिकन्यान्तो वृषे । तुलादिमिथुनांतो मिथुने ।  
कुलीरादिमीनान्तो कर्कटे नवांशविधिः । पुनरप्येवमेव राशीनां नवांशकानामधिपा  
उक्ता अनेनैव हि सर्वत्रोपयोगः । तथा च सारावल्याम्-

“भवनाधिपैः समस्तं जातकविहितं विचिंतयेन्मतिमान् ।

एभिर्विना न शक्यं पदमपि गन्तुं महाप्राज्ञैः ॥” इति ।

गृहांशकपाः इति । गृहानंशकांश्च पान्तीति गृहांशकपाः । गृहशब्देन राशीनां जडत्वं सूचितम् । अधिपशब्देन ग्रहाणां चैतन्यत्वं सूचितम् । यथा कश्चित् पुरुषः स्वगृहाधिपतिर्भवति तथैव राश्यधिपो ग्रहो भवति । अधिपदौर्बल्येन राशेरपि दौर्बल्यं भवति । अधिपतेः प्राबल्ये राशेरपि प्राबल्यं भवति । तथा च शास्त्रान्तरे-

“लग्ने लग्नपतौ बलेन सहिते तत्तुल्यवीर्यं विदुः-

स्तत्रैवोपचयस्थिते सति ततो वीर्योत्कटं जायते ॥ ” इति ।

गृहांशकपाः इति समस्तपदकथनाद्वाश्यंशाधिपयोः फलदाने बलवतः कर्तृत्वम् । ‘बलयोगात्फलमंशकर्क्षयोः’ इति वक्ष्यति च । वाश्यंशाधिपयोर्भेदाभावोपि समासोक्त्या सूचितम् ।

यथा मेघलग्ने मेघेण तदधिपतिना भौमेन च फलं निरूप्यते तथा स्थितिरव-  
गंतव्या ‘वृत्ताताम्रदृग्’ इत्यादिश्लोके मानी अस्थिरधनः सेति । तस्याभिर्भूतम् ।  
तुलायाः शुक्रोधिपतिस्तस्य जलं भूतम् । कन्याया बुधोधिपतिस्तस्य पृथिवी भूतम् ।  
एवं भूतसृष्टिक्रमः । तथा च श्रुतिः-

“आकाशाद्वायुर्षायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवीत्यादि” कालचक्रदशा सूच्यते ।

क्षितिजाद्यष्टपदानां समासः । सुरगुर्वादिचतुर्णां समासस्तेन दक्षिणक्षेपे मेघा-  
दिमीनांतं क्रमेण गणनीयम् । वृश्चिकादिचापान्तं व्युत्क्रमेण गणनीयम् । तदर्थं  
क्षितिजाद्यष्टपदच्छेदः कृतः । वामक्षेपे चापादिवृश्चिकान्तं क्रमेण गणनीयम् ।  
मीनादिमेघान्तं व्युत्क्रमेण गणनीयम् । इत्युक्तं भवति । तदर्थं सुरगुरुमंदसौरि-  
शुरयश्चेति पृथक् समासः । अजमृगतौलिचन्द्रभवनादिनवांशविधिरिति दशापहारः  
कथितः । मेघत्रिकोणराशीनां मेघादिनवांशकाधिपा दशापहर्तारः । वृष-  
त्रिकोणराशीनां मृगादिनवांशकाधिपा दशापहर्तारः । मिथुनत्रिकोणराशीनां  
तुलादिनवांशकाधिपा दशापहर्तारः । भवनसमांशकाधिपतय इति । मेघादारभ्य  
मीनान्तं गणिते सति पुनरेव वृश्चिकादिव्युत्क्रमेण गणनीया इत्युक्तं भवति ।  
कालचक्राकृतः ॥ ६ ॥

( पुष्पिताग्रा )

कुजरविजगुरुज्ञशुक्रभागाः

पवनसमीरणकौर्प्यजूकलेयाः ।

अयुजि युजि तु मे विपर्ययस्थाः

शशिभवनालिङ्गपान्तमृक्षसंधिः ॥ ७ ॥

अथ त्रिंशंशकानाह—अयुजि पवनसमीरणकौर्प्यजूकलेयाः कुजरविजगुरुज्ञशुक्र-  
भागाः भवन्ति । ओजराशौ पंचभागाः प्रथमं कुजस्य । ततः पंच शनेः । ततोष्टौ  
गुरोः । ततः सप्त बुधस्य । ततः पंच शुक्रस्येत्यर्थः । ते युजि विपर्ययस्थाः,  
युग्मराशौ ते ग्रहांशा उक्तविपर्ययेण, प्रथमं पंचांशाः शुक्रस्य । ततः सप्त बुधस्य ।  
ततोष्टौ गुरोः । ततः पंच शनेः । ततः पंच कुजस्येति यावत् । शशिभवनालिङ्ग-  
धान्तमृत्सन्धिर्भवतीति । कर्कटशुक्रमीनानामन्त्यमृत्तयोः राशिनक्षत्रयोः समम-  
सितत्वादसन्धिर्भवति ।

अयास्मिन्नाशिचक्रे त्रयः खण्डा अवान्तशब्देन यस्य कस्यचिद्वसाने चक्रेष्वे  
कर्कटशुक्रमीनाः निरूपणीया इत्युक्तं भवति ।

गोविन्दः—अथ त्रिंशंशकानाह—कुजरविजेत्ययुजि पवनसमीरणकौर्प्यजूकलेयाः  
संख्याः । कुजरविजगुरुज्ञशुक्रभागाः । युजि तु ते विपर्ययस्था उक्तांशसंख्याभेदा  
ग्रहाश्च विपर्ययेण स्थिताः । शुक्रजगुरुशनिकुजांशाः क्रमेण ज्ञेयाः युग्मराशावित्य-  
न्यदर्थान्तरं चिन्त्यम् ।

यस्य त्रिंशंश उदितस्तदशाद्रवणादिष्ववकाशोऽवगन्तव्यः । कुजरविजयोः शुक्र  
स्याप्यस्योप्यवकाशः । तथा कृष्णायै—

“ग्रहभागेष्ववकाशो भोजनविधिशयनमैयुनादि पुनः ।

वाच्यो वर्णोत्कर्षो विमर्दिनां पुरोक्तानाम् ॥” इति ।

पुनरपि त्रिंशंशैः प्रयोजनमुपरिष्ठादस्यति । शशिभवनालिङ्गपांतमृत्संधिः ।  
नक्षत्रराशयोर्गुणपच्छेदस्यानं गण्डान्तसंज्ञः । अन्यशब्देनाशुभत्वं सूचितम् । तथा  
च सारावल्याम्—

“जातो न जीवति नरो मातुरवश्यं भवेत्स्वकुलहंता ।

यदि जीवति गण्डान्ते बहुगजतुरगो भवेद्भूयः ॥” इति ॥ ७ ॥

(आर्या)

क्रियतावुरिजितुमकुलीरलेयपाथोनजूककौर्प्याख्याः ।

तौक्षिक आकोकेरो हृद्रोगश्चान्त्यमं चेत्यम् ॥ ८ ॥

पञ्चाङ्गः—दीनां पारिभाषिकाणि संज्ञान्तराण्याह—मेपादयः क्रमशः क्रियादिसंज्ञका  
विभाषाणां । गोविन्दः संज्ञाविधानमाह—क्रियेति । मेपादीनां क्रियादयः संज्ञा उक्ताः ।  
शुक्ररादिमीनां समासस्तौक्षिकादयो व्यस्ताः । तेनायं श्लोकेतेनायमर्थः सूचितः ।  
उक्ता अनेनैव दिवचतुर्भाषस्यापेक्षत्वमात्मनो धर्मसापेक्षत्वम्, धनस्य प्रयुक्तिसापेक्षत्वम् ।  
योगमसापेक्षत्वम् । सुखस्य च धन सापेक्षत्वम् । पुत्रसिद्धेर्धर्मसापेक्षत्वं

शत्रुक्षयस्य प्रवृत्तिसापेक्षत्वम् । कलत्रसुखस्यार्थागमसापेक्षत्वं, मरणरोगपरापवादादेः  
पापार्थनाशसापेक्षत्वम् एवं चतुर्भिः श्लोकैः राशिनामरूपप्रतिपादनं कालपुरुषस्य  
देहं चोक्तम् ॥ ८ ॥

( इन्द्रवज्रा )

द्रेष्काणहोरानवभागसंज्ञास्त्रिंशशकद्वादशसंज्ञिताश्च ॥

क्षेत्रं च यद्यस्य स तस्य वर्गो होरेति लग्नं भवनस्य चार्द्धम् ॥९॥

षड्वर्गानाह—द्रेष्काणहोरानवभागसंज्ञाः त्रिंशशकद्वादशसंज्ञकाश्च क्षेत्रं चैतेषु  
षट्सु यद्यस्य स तस्य ग्रहस्य वर्गो भवतीति यावत् । होरेति लग्नं भवति, तस्यार्द्धञ्च  
होरेत्युदयलग्नस्य राश्यर्द्धस्य च संज्ञेति यावत् । अत्र कालपुरुषदेहप्रतिपादनानन्तर-  
मुक्तानां षड्वर्गाणां द्रेष्काणादिक्रमेणोक्त्या कालपुरुषस्य मूलाधारादिषडाधाराः  
क्रमेण सूचिताः—

“मूलाधारे द्रकाणः स्यात्पितृचिन्ता रविस्तथा ।  
स्वाधिष्ठाने तु होरा स्यान्मातृचिन्ता तथा शशी ॥  
मणिपूरे नवांशः स्याद्भ्रातृचिन्ता कुजस्तथा ।  
अनाहते च त्रिंशशे घाणीचिन्ता बुधस्तथा ॥  
विशुद्धौ द्वादशांशः स्यात्पुत्रचिन्ता तथा गुरुः ।  
आज्ञायां क्षेत्रमुदिष्टं जायाचिन्ता सितस्तथा ॥  
द्वादशांशे शनैश्चारी नाशचिन्ता चिकीर्षिता ।  
तत्रस्थैस्तदधीशश्च बलाबलवशात्फलम् ॥ ” इति ।

तत्र दिङ्मात्रमित्यवगन्तव्यम् ।

गोविंदश्च—वर्गसंज्ञामाह—द्रेष्काणादयः षट् कथितास्तेषु यद्यस्य स तस्य वर्गः ।  
वर्गशब्देनोक्ता द्रेष्काणादयः षडपि ज्ञेया बुद्धीन्द्रियादिः । दशकाः ।

“प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ।

नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः ॥

धनञ्जयव्यतिरिक्ता नव प्राणा नवांशकाः ।

नव प्राणा मनोबुद्धीन्द्रियादिदशकात्मकाः ॥”

नवभिः प्राणैर्द्वादशभिरिन्द्रियैरप्येकविंशतिविधसूक्ष्मशरीरमुत्पद्यते । तथा चोक्तं  
भगवत्पादाचार्येण—

“इह तावदक्षदशकं मनसा सह बुद्धितत्त्वमय वायुगुण इति त्रिलिङ्गमेतदमुना  
पुरुषः सह संगतो भवति जीवतीति । स्थूलशरीरं तु त्वमसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जा-  
शुक्रमयम् । तद्वाशिसंज्ञमिति । अनाथा केचिद्वाशिः स्थूलशरीरं द्रेष्काणः शरीर-

स्योर्ध्वमध्याऽधोभागेन त्रिधा भिन्नः । होरा वामदक्षिणभेदेन भिन्ना । नवांशः । क्षेत्रज्ञो, द्वादशांशा वायुमनोबुद्धयः, त्रिंशांशकाश्चक्षुरादीन्द्रियपञ्चक इत्येभिर्लभ्यन्तेः षड्भिरपि फलदो भवति ।”

तथा च सारावल्याम्—

“एभिः स्पष्टतरं तं प्रत्यक्षपरीक्षणं यस्मात् ” इति ।

होरेति लग्नं लग्नचलेन सर्वभावसिद्धिश्चिन्त्या । होराशास्त्रार्थनिरूपणविषयो लभराशिरेक एवेति । तथा च सारावल्याम्—

“जातकमिति प्रसिद्धं यल्लोके तदिह कीर्त्यते होरा ।”

तत्र जातके लग्नस्यार्द्धं फलमर्द्धं चन्द्रस्य । मन्त्रेऽप्युदयलग्नारुडयोस्तद्वत् । अतो लग्नचन्द्रयोर्बलवतोः षड्वर्गफलं होराशास्त्रेण निरूपणीयमिति सूचितम् ।

( वसन्ततिलका )

गोजाश्विकर्कमिथुनाः समृगा निशाख्याः

पृष्ठोदया विमिथुनाः कथितास्त एव ॥

शीर्षोदया दिनवलाश्च भवन्ति शेषा

लग्नं समेत्युभयतः पृथुरोमयुग्मम् ॥ १० ॥

समृगा गोऽजाश्विकर्कमिथुना निशाख्याः कथिता इत्यन्वयः । विमिथुनाः ते एव पृष्ठोदया इत्यन्वयः । शेषाः शीर्षोदया दिनवलाश्च भवन्ति । तत्र विशेषमाह— पृथुरोमयुग्मं लग्नमुभयतः समेति मुखपुच्छप्रतिबंधनादतो मीनराशिरुभयोदयः ।

गोविन्दः—गोजाश्वीति । गोऽजाश्वादयः षड्दशयो निशाराशयः अन्ये शेष दिनवला दिवाराशयः इत्युक्तत्वात्त्रिंशपतेरप्येते राशयो भवन्ति ।

दिनवला इत्युक्तत्वाद्दिनपतेः राशय इत्युक्तम् । तथा चोक्तम्—

“सिंहः कन्या तुलाली च कुम्भान्त्यौ मूर्यराशयः ।

अन्ये च राशयश्चान्द्रा युनिगाराशयश्च ते ॥ ”

निशाराशयो निशाफलदाः । दिनराशयो दिनफलदा इति । पृष्ठोदया विमिथुना इति । पृष्ठेन दध्यन्तीति पृष्ठोदयाः अशुभा इत्युक्तम् । शेषाः शीर्षोदयाः शीर्षेण दध्यन्तीति शीर्षोदयाः । पृथुरोमयुग्मम् उभयतो लग्नं समेत्युदयतोत्यर्थः । पृष्ठोदयाः अशुभाः, शीर्षोदयाः अशुभदा इत्युक्तं भवति । तथा च कृष्णाये—

“पृष्ठोदयेषु सिद्धचत्यशुभं मूर्द्धोदयेषु शुभमुक्तम् ।

उभयोदयेषु विमिश्रं ग्रहरहितम्यः फलं वाच्यम् ॥” इति ।

ग्रहयोगे ग्रहानुगुणं फलम् । पृष्ठोदये पापसंबन्धेऽन्यमशुभम् । पृष्ठोदये शुभ-  
सम्बन्धे मध्यमत्वम् । तद्विपरीतं शीर्षोदयेषु वक्तव्यम् पृष्ठे । उदयो येषां ते पृष्ठो-  
दयाश्विरेण फलदा इत्यर्थः । अन्यथा शीर्षोदयाः । अन्यदप्यस्ति पृष्ठोदयस्थानां  
ग्रहाणां राशिषु दशासु पृष्ठे फलोदयः । शीर्षोदयस्थानामादौ उभयोदयस्थानां  
मध्ये फलोदयः । वक्ष्यति च-“पृष्ठोभयकोदयर्क्षगास्त्वन्त्यातः प्रथमेषु पाकदाः”  
इत्यनेन पृष्ठोदयोभयोदयमूर्द्धोदयविज्ञापनेन प्रश्नजातकेषु बहुप्रयोजनमिति ॥ १०॥

( मन्दाक्रान्ता )

क्रूरः सौम्यः पुरुषवन्ति ते चरागद्विदेहाः  
प्रागादीशाः क्रियवृषनृयुक्कर्कटाः सत्रिकोणाः ॥  
मार्तण्डेन्द्रोस्युजि समभे चन्द्रभान्वोश्च होरे  
द्रेष्काणाः स्युः स्वभवनसुतत्रित्रिकोणाधिपानाम् ॥ ११ ॥

अन्यमपि राशिविशेषमाह-क्रूरः सौम्यः-ओजराशयः क्रूराः । युग्मराशयः  
सौम्याः । पुरुषवन्ति ओजराशयः पुरुषाः, युग्मराशयस्त्रियः ते च राशयः  
चरागद्विदेहाः चराः स्थिरा उभयाश्च भवन्ति । पुनरपि तथैव क्रमतः । अतो  
मेपकर्कटतुलामकराश्चाराः इत्यादि सत्रिकोणाः क्रियवृषनृयुक्कर्कटाः प्रागादीनामि-  
न्द्रादिदिशामीशा भवन्ति । अयुजि मार्तण्डेन्द्रोरोजराशौ राश्यर्द्धरूपा होरा  
प्रथमा सूर्यस्य, द्वितीया चन्द्रस्य । समभे चन्द्रभान्वोश्च समराशौ प्रथमा चन्द्रस्य  
होरा, द्वितीया र्कस्य । द्रेष्काणाः स्वभवनसुतत्रित्रिकोणाधिपानां स्युः राशित्रि-  
भಾಗरूपेषु द्रेष्काणेषु प्रथमस्तद्राश्यधिपस्य । द्वितीयः पंचमराश्यधिपस्य । तृतीयो  
नवमराश्यधिपस्य । मेपाश्विप्रथमा इत्युक्तमत्र चिन्त्यम् । मेपाद्योजराशयः  
शूराः । वृषादियुग्मराशयः सौम्याः । ओजराशिषु जाताश्चिन्तिता वा पुरुषाः क्रूरा  
भवन्ति । युग्मराशिषु जाताश्चिन्तिता वा सौम्या भवन्ति । तथा च सारापल्याम्-

“ओजेपूग्राः पुरुषाः सौम्या युग्मेषु सर्वभवेणु ।”

ओजराशिषु द्रव्याण्यपि रुक्ताणि । युग्मराशिषु द्रव्याण्यपि सौम्यानि । तथा  
च कृष्णीये भोजनप्रश्ने-

“ओजेषु रुक्तमन्नं द्रव्यन्तु युग्मे जलचरे वा” इति ।

तथा च सुरतप्रश्ने, ओजराशिषु विषमसंख्यं मिथुनकर्म, समराशिषु  
समसंख्यमिति । तथा कृष्णीये-

“विषमेषु गृहराशिषु मिथुनमकं दिशारमितेषु” इति ।



किं बहुना सर्वपदार्थानां विषमराशिषु क्रूरत्वं समराशिषु सौम्यत्वं च वक्तव्यम् ।  
 ओजराशयः पुरुषाः, युग्मराशयो वनिताः । ओजेषु चिन्तिताः पुरुषाः, युग्मेषु  
 स्त्रियः । ओजराशिषु जाताः सत्त्वादिगुणयुताः । युग्मराशिषु जाताश्चापल्यादिस्त्री-  
 गुणयुताः । ओजराशिषु ग्रहवद्भूते पौरुषयुक्तो भवति पुरुषः, विपरीते विपरीत  
 इति । अस्योपयोगे इयान्विशेषः । जातकेषु जन्मलभराशयोस्तदधिपतिस्थित-  
 राशयोश्चौजयुग्मावयगम्य जातानां क्रूरसौम्यत्वं पुरुषवनितात्वं च निर्णेतव्यम् ।  
 प्रश्ने तूदयारुढश्चात्र चन्द्राधिष्ठितराशिभिरेतच्चिन्त्यते इति । ते च रागाद्विदेहाः, ते  
 मेपादयश्चरस्थिरोभयाः । चरराशिषु सर्वे ग्रहा जन्मलग्ने चरस्ये चेज्जातो संचार-  
 शीलः । स्थिरराशिगताः सर्वे चेत्स्थितिशीलाः । उभयराशिषु मिश्रस्वभावाः ।  
 गोचरफलानिरूपणे चैवम्—

“जन्मलग्नतदीशेषु चरस्येषु चरत्यसौ ।

स्थिरस्येषु स्थितो जन्तुः द्वन्द्वस्थेषूभयात्मकः ॥”

प्रभादावपि—चरराशौ चरभूतं फलं, स्थिरराशौ स्थिरं, न वृद्धिनाशावुभयोर्मिश्र-  
 मिति । तथा च भट्टोत्पलः—

“स्थिरराशौ लग्नगते स्थानप्राप्तिं वदेन्न गमनं च ।

रोगोपशमो नाशो द्रव्याणां स्यात्पराभवो नात्र ॥

चरराशौ विपरीतं मिश्रं वाच्यं द्विमूर्त्युदये ।

स्थिरवत्प्रथमार्द्धे स्यादपरं चरराशिवत्सर्वम् ॥” इति ।

पुनः धातुमूलजीवाश्चरादिभिरूहाः । चरो धातुर्धातोर्नाहि स्थिरवासः ।  
 न गच्छतीत्यगः, स्थिराणि मूलद्रव्याणि । द्विदेहाः देहशब्देन जीव उक्तः इति ।  
 प्रागादीशा इति—सत्रिकोणाः क्रियवृषपनृयुक्कर्कटाः, मेपासिंहचापाः प्राचीशः ।  
 वृषभकन्यामकरा दक्षिणेशाः । मिथुनतुलाकुम्भाः पश्चिमेशाः । कर्कशृश्चिकमीना  
 उत्तरेशाः । अनेन दिक्परिज्ञानं प्रयोजनम् तथा चोक्तम्—

“राशिभ्यः कालदिदेशा वयो जातिश्च लग्नपात् ।” इति ।

प्रागादीशाः क्षत्रियादिचतुर्वर्णेशाः सत्रिकोणाः क्रियवृषपनृयुक्कर्कटाः इत्युक्तं  
 भवति । मार्तण्डेन्द्रोरिति । होराधिपत्यग्रुच्यते । ओजराशौ मार्तण्डेन्द्रोः होरे  
 समभे चन्द्रभान्वोश्च । अधिपतिबलसंपन्नविव होरायाः फलत्वम्, अन्यथा  
 विफलत्वम् । तदर्थं मार्तण्डेन्द्रोरिति सम्बन्धार्थं पठ्यते । क्रूरः सौम्य इति । राशी-  
 नामोजानां फलं क्रूरत्वं, युग्मानां सौम्यत्वमूह्यमिति । द्रेष्काणाः स्युरिति स्वभव-  
 नस्तुतत्रित्रिकोणाधिपानां लग्नपंचमनवमराशीनामधिपानां द्रेष्काणाः । वृषे शुक्रबुध-  
 मन्दानामित्यादि । अन्यथाऽन्ये व्याचक्षते एकस्मिन्नाशौ प्रथमपंचमनवमांशाधिपानां

द्रेष्काणाः । यथा मेपे कुजरविगुरुणाम् । वृषे शनिसितबुधानाम् । मिथुने शुक्रमन्दबुधानाम् । कुलारे चन्द्रकुजगुरुणाम् । सिंहादिष्वेवमेव द्रेष्काणा इति । तथा च कृष्णीये—

“क्षितिमुतासितगुरुसौरा भृगुजबुधौ भार्गवश्च रवितनयः ।

बुधचन्द्ररुधिरजीवा द्रेष्काणगणेश्वराः प्रोक्ताः ॥ ” इति ।

द्रेष्काणाः स्युरिति फलदाने शक्ता भवेयुरित्यर्थः । तस्मात् “द्वाविंशः कथितस्तु कारणं द्रेष्काणाः कथितास्तु सूरिभिः” इत्यग्रे वक्ष्यति ।

प्रश्नादावपि—

“द्रेष्काणसदृशश्चौरो लग्नांशसदृशं धनम् । ”

इत्याद्युक्तमाचार्येण । द्रेष्काणानां स्वरूपं ‘कट्यां सितवस्त्रवेष्टितः’ इत्यादिपद्-  
त्रिंशद्भिः श्लोकैरुपरिष्ठाद्वक्ष्यति तेनापि फलनिरूपणे प्राधान्यमवगन्तव्यम् ॥ ११ ॥

( इन्द्रवज्रा )

केचित्तु होरां प्रथमां भपस्य वाञ्छन्ति लाभाधिपतेर्द्वितीयाम् ।

द्रेष्काणसंज्ञामपि वर्णयन्ति स्वद्वादशैकादशराशिपानाम् ॥ १२ ॥

होराद्रेष्काणयोः पक्षान्तरमाह—केचित्तु होरां प्रथमां भपस्य वाञ्छन्ति, भपो राश्यधिपः । द्वितीयां लाभाधिपतेः । प्रथमद्रेष्काणस्तद्वाश्यधिपस्य द्वादशस्थानाधिपस्य द्वितीयः । एकादशस्थानाधिपस्य तृतीयः । अत्र गोविन्दः पक्षान्तरेण होराद्रेष्काणाधिपत्यमाह—केचिदिति । प्रथमां होरां तद्वाश्यधिपतेः । द्वितीयां होराम् एकादशस्थानाधिपतेः केचिदाचार्या वाञ्छन्ति, न बहुमतमिति स्वाभिमतम्—‘मार्तण्डेन्द्रोरयुजि समभे चन्द्रभान्वोश्च होरे’ इति । प्रथमोक्तहोराधिपत्यविधिर्जातके पुनरुक्तः प्रभे इति वाऽऽचार्यमतम् । तथा चोक्तं कैश्चन—“स्वीन्द्रू विपमे चन्द्ररवी वात्र समे क्रमात् । होरा स्पष्टप्रपत्यैव द्वितीया लाभस्य तु ॥ आद्या तु जातके प्रोक्ता द्वितीया प्रभकर्माणि ॥” अथ द्रेष्काणसंज्ञामपि स्वद्वादशैकादशराशिपानामिति केचिदाचार्या वाञ्छन्ति । अथ द्रेष्काणाधिपत्यमपि त्रिप्रकारम्—‘द्रेष्काणाः स्युः स्वभवनसुतत्रिकोणाधिपानाम्’ इति । अत्र स्वाधिपते राशेः प्रथमः द्रेष्काणः, द्वितीयः सुताधिपतेः तृतीयस्त्रिकोणाधिपतेः इत्येकप्रकारः । चरागदिदेहा इत्युक्तक्रमेण त्रिकोणगतचरराशिपतेः प्रथमद्रेष्काणः । स्थिरराशिपतेर्द्वितीयः । त्रिकोणगतोभयराशिपतेस्तृतीयो द्रेष्काणः । इति द्वितीयप्रकारः । द्रेष्काणसंज्ञामित्यादिना तृतीयः । (केचित्चित्पत्र तु शब्देन विषयविभागोऽस्तीति सूचितम् । तत्कथमिति चेदुच्यते । आद्यः पक्षो जातकाधिपाने । द्वितीयो जातके । तृतीयः प्रभे । तथा च यवनेश्वरः—

“लघुपुत्रशुभपाश्वरे गृहे पुत्रवर्मस्तनुषा युगे गृहे ।  
धर्मलघुसुतपाश्वरे गृहे जातके खलु दृकाण उच्यते ॥  
सर्वराशिषु दृकाण उच्यते लग्नपस्य सुतपस्य चाप्यथ ।  
धर्मपस्य तु विधानकर्मणि प्रश्न एव तनुरिष्कलाभपाः ॥”

आचार्यस्य तु जातके लग्नपुत्रवर्मेशानामेव सर्वराशिषु द्रेष्काणाधिपत्यामिष्टम् ।  
किलाचार्यस्य श्रीवराहमिहिरस्य वचनस्यापि गंभीरत्वात्केन खलु तस्याभिप्रेतार्थो  
विज्ञापते । गुरुमुखात्सम्प्रदायेन ज्ञेयम् ॥ १२ ॥

( पुष्पिताम्ना )

अजवृषभमृगाङ्गनाकुलीरा  
झपवणिजौ च दिवाकरादितुङ्गाः ।  
दशशिखिमनुयुक्तिथीन्द्रियांशै-  
स्त्रिनवकविंशतिभिश्च तेऽस्तनीचाः ॥ १३ ॥

राशीनां ग्रहवशेन विशेषमाह-अजवृषभमृगाङ्गनाकुलीरा झपवणिजौ च  
दिवाकरादितुङ्गा भवन्ति । दिवाकरस्य मेपस्तुङ्गः । चन्द्रस्य घृपस्तुङ्गः ।  
इत्यादि । उच्चभागानाह-दशशिखिमनुयुक्तिथीन्द्रियांशैस्त्रिनवकविंशतिभिश्चेति ।  
तत्रापि तुङ्गा इत्यध्याहार्यम् । तत्र मेपे दशभिर्देशैस्तुङ्गो दिवाकरस्येत्यादि  
योजनीयम् । तेऽस्तनीचाः । ते ग्रहाः अस्तो नीचो येषान्तेऽस्तनीचाः उच्चानां  
सप्तमराशयो नीचारस्तेषां दशाद्यंशाश्चातिनीचा इत्युक्तं भवति अग्राह गोविन्दः-

सूर्यादीनामुच्चान्याह-अजेति अजादिसप्तराशयो दिवाकरादिसप्तग्रहतुङ्गाः दश-  
शिखादयोऽत्युच्चांशा इत्यर्थः । तेऽस्तनीचाः दशशिखाद्यंशकैरतिनीचाश्चोक्ताः ।  
अस्य श्लोकस्येन्द्रदैवत्यचन्द्रन्दस्तेनाजवृषभादिपंचराशय एकपदेनोक्तास्तदा पंचसु  
ग्रहेषु तुङ्गगतेषु जातो दिव्यो भवतीति सूचितम् । तथा च कृष्णोपे-

“सुखिनः प्रकृष्टकार्या राजप्रतिरूपकाश्च राजानः ।  
एकद्वित्रिचतुर्भिर्जायन्तेऽनः परं दिव्याः ॥” इति ।

( वसंततिलका )

वर्गोत्तमाश्चरगृहादिषु पूर्वमध्य-  
पर्यन्ततः सुशुभदा नवभागसंज्ञाः ।  
सिंहो वृषप्रथमपष्ठहयाङ्गत्तोलि-  
कुंभास्त्रिकोणभवनानि भवन्ति सूर्यात् ॥ १४ ॥

उच्चोपदेशानंतरमुच्चतुल्यफलान्वर्गोत्तमानाह—चरगृहादिषु पूर्वमध्यपर्यन्ततो नव-  
भागसंज्ञा वर्गोत्तमा भवन्ति, सुशुभदाः । शत्रुनीचाद्यंशत्वंपि वर्गोत्तमानां शुभदत्व-  
मस्तीत्युक्तं भवति । मूलत्रिकोणत्वं च सिंह रश्मिः क्षेत्रत्वं त्रिकोणत्वं च । कन्यायां  
बुधस्य क्षेत्रत्वं त्रिकोणत्वमुच्चत्वं चेत्यादिषु विशेषमाह—विद्यामाधवः—

“सिंह विंशतिरादितो गवि परे सर्वेशकास्तुंगतो

मेघे द्वादश पंच योषिति परे तुंगादयांगे दश ॥

जूके पंच घटे तु विंशतिरमी मूलत्रिकोणाह्वयाः । ” इति ।

गोविंदः वर्गोत्तमांश्चिकोणराशीनाह—वर्गोत्तमा इत्यादि । चरस्थिरोभयेषु  
क्रमात्प्रथमपंचमनवमनवांशवर्गोत्तमा भवन्ति ते शुभदाः तथा च स्वयमेव वक्ष्यन्ति—

“शुभं वर्गोत्तमे जन्म वेशिस्थाने च सद्ग्रहे ॥ ” इति ।

“वर्गोत्तमस्वपरगेषु शुभं यदुक्तं तत्पुष्टमध्यलघुताऽशुभमुक्कमेण” इति ।

मेघे मेघनवांशो, वृषे वृषनवांशो वर्गोत्तम इत्युक्तम् । अथ नवभागसंज्ञाश्च  
सुशुभदा इत्युक्तवाद्द्वादशांशः शुभदा इति तर्कणीयम् । तथा च सारावल्याम्—

“वर्गोत्तमा नवांशाश्चाद्यमध्यान्तगाश्चराद्येषु ।

सूतौ कुलमुख्यकरा द्वादशभागाः स्वराश्याद्याः ॥ ” इति ।

सिंहो वृष इत्यादि सूर्यादारभ्य ग्रहाणां सिंहो वृष इत्यादि सप्त त्रिकोणभव-  
नान्युक्तम् । त्रिकोणभवानि भवन्तीति वचनाच्चिकोणराशीनां स्वक्षेत्रेभ्यः  
प्राधान्यं सूचितम् ॥ १४ ॥

( वसंततिलका )

होरादयस्तनुकुटुम्बसहोत्थवंधु

पुत्रारिपत्निमरणानि शुभास्पदायाः ।

रिष्काख्यमित्युपचयान्तरिकर्मलाभ—

दुश्चिक्वसंज्ञितगृहाणि न नित्यमेके ॥ १५ ॥

राशीनां प्रभकालविशेषविषयं विशेषमाह—होरादयो राशयस्तनुकुटुम्बस-  
होत्थवन्धुपुत्रारिपत्निमरणानि शुभास्पदायाः रिष्काख्यमिति वदन्ति । अरि-  
फर्मलाभदुश्चिक्वसंज्ञितगृहाणि उपचयानि भवन्ति । लग्नात् षष्ठदशैकादशराशयः  
उपचयसंज्ञा भवन्ति । शिष्टा राशयः अपचयसंज्ञा भवन्ति । अत्र मतान्तरमाह—  
एके उपचयत्वं न नित्यमिति वदन्ति । “अयोपचयसंज्ञा स्याच्चिलाभरिपुकर्मणाम् ।  
न चेद्भवन्ति ते दृष्टाः पापैः स्वस्यामिश्रुभिः” इत्यादिवचनदर्शनादेवमुक्तम् ।  
इदं परादमिहिराचार्यस्य नाभिप्रेतम् ।

गोविन्दः—अथ होरादय इत्यनेन श्लोकेन लग्नादिद्वादशभावानां देहधनादि-  
स्वरूपत्वमुच्यते । एतैर्द्वादशभावैः शरीरिणां प्रश्रजातकेषु समस्तपदार्था-  
श्चिन्त्यन्ते । अथ सम्यग्विज्ञातजन्मकालस्यैव जातकफलं चिन्त्यम् ।  
तथा च संहितायाम्—

“तन्त्रे सुपरिज्ञाते लग्ने छायांभुयन्त्रसंविदिते ।  
होरायै च सुखे नादेष्टुर्भारती वन्त्या ॥” इति ।

श्रीपातिश्चाह—

“ज्ञेयोऽत्र प्रथमं हि जन्मसमयश्छायादिपन्त्रैः स्फुटैः” इति ।

अत्राचार्येण सर्वशास्त्रसिद्धत्वाद्वह्मणिततन्त्रादिभावानपनं नोक्तं तदस्माभिः  
शिष्यहिताय प्रदर्श्यते ।

छायाजलयन्त्रादिभिर्दिवसे रात्रौ वा सूर्योदयादस्तसमयाद्वा जन्मनि-  
गतनाडीविनाड्यादिकालं सम्यग्विज्ञाय लग्नमानयेत्, तत्पट्टाशियुक्त-  
मस्तलग्नम् । पुनर्मध्यलग्नमानीय तस्मिन् पट्टाशियुक्तं पाताललग्नमिति । चत्वारि  
लग्नान्युपरि वक्ष्यति च ।

“कण्टककेंद्रचतुष्टयसंज्ञाः सप्तमलग्नचतुर्यखभानाम्” इति ।

एवं लग्नचतुष्टयेनान्यभवनानपनप्रकार उच्यते । पाताललग्नं विन्यस्योदयलग्नं  
विशोध्य त्रिभिर्विभज्य लब्धमुदयलग्ने संयोज्य द्वितीयभावमानयेत् लब्धं द्विगुणी-  
कृत्योदयलग्ने, योजयेत्तृतीयभावे भवति । एवमस्तलग्नात्पाताललग्ने विशोध्य पंचमप-  
ट्टभावीं साध्यौ । मध्यमलग्नादस्तलग्नं विशोध्याष्टमनवमौ साध्यौ । उदयलग्नान्म-  
ध्यलग्नं विशोध्यैकादशद्वादशभावी च साध्यौ । तथा चोक्तं पराशरमुनिना—

“लग्नं सुखात्सुखं कामात्कामं स्वात्स्वं च लग्नतः ।

त्यक्तैकद्विगुणं त्र्यंशं योज्यं लग्नादिषु क्रमात् ॥”

आसन्नभावयोर्योगार्द्धं भावसन्धिः. भावारंभभाववसानप्रदेश इत्यर्थः । पराशर  
आह—“अत्रापि सूर्यवाराद्धं सन्धिः स्याद्भावयोर्द्वयोः । एवं भावाश्च विज्ञेया संययो वा  
भवन्ति हि ॥” इति । तथापि युक्तेनाप्युक्तम्—

“लग्नं पाताललग्नान्मदनभवनतो वेदमभं चैव हित्वा  
कामं स्वान्मध्यलग्नात्तदपि च ततो रामभक्तं च शिष्टम् ।

चन्द्रद्विगुणं युज्यात्तनुभवनमुखास्ते तु भावाः क्रमात्स्युः

भावपश्चाद्भावयुक्तैर्दलमय च तयोः सन्धयः स्युः क्रमेण ॥” इति ।

भाववशाद्भावफलभेदोऽत्र यवनेश्वर आह—

“भावांशैः समतां ग्रहः खलु गतः पूर्णं विधत्ते फलं ।  
सन्धिस्थो न फलप्रदोऽन्तरगतश्चैराक्षिकेनैव च ।

भावा न्यूनमथ ग्रहस्य गणयेदंशाधिकं चाधिपे-

हृत्वा चाप्यथ संधितोऽधिकमथ प्रोक्तं फलं भावजम् ॥” इति ।

चतुर्गुणितं भावग्रहान्तरं भावसाधनमित्युच्यते । एवं द्वादशभावा आनीयन्ते । होरादयस्तनुकुटुम्बेत्यादि । होरादयस्तनुः शरीरम् । कुटुम्बो भरणीयो जनः । सहोत्थो भ्राता कन्युर्मातुलभाग्निर्वायदयः । अरिशब्देन शत्रुरोगादिरुच्यते । पत्नी भार्या । मरणशब्देन द्रव्यनाशविषद्रोगपरापवादादिरुच्यते । शुभशब्देन भाग्यधर्मादिरुच्यते आस्पदशब्देनावलम्ब उच्यते । आयशब्देन सर्वाभीष्टागमः । रिष्कशब्देन पापरोगादिरुच्यते । इति शब्देनामी भावा एव सर्वजन्तूनां सर्वपदार्थज्ञापका इति सूचितम् ।

अरिकर्मलाभदुःखिव्यानामुपचयसंज्ञा कृता यतः अत्र स्थिता ग्रहा उपचयकरा संघकारा अतस्तेषामुपचयसंज्ञेति । एके वर्णयन्ति । पापैः स्वाधिपातिशत्रुभिरदृष्टश्चेदुपचया अन्यथा नोपचया इति ।

“अथोपचयसंज्ञाः स्युस्त्रिलाभिरपुकर्मणाम् ।

न चेद्भवन्ति ते दृष्टाः पापैः स्वस्वामिशत्रुभिः ॥” इति ।

आचार्यस्येतैवाभिप्रेतम् ॥ १५ ॥

( वसंततिलका )

कल्पस्वविक्रमगृहप्रतिभाक्षतानि

चित्तोत्थरंभ्रगुरुमानभवव्ययानि ।

लग्नाच्चतुर्थनिधने चतुरस्रसंज्ञे

यूनश्च सप्तमगृहं दशमर्क्षमाज्ञा ॥ १६ ॥

लग्नादीनामेव संज्ञांतराऽप्याह-होरादय इत्यनुवर्तन्ते । होरादयः कल्पादिसंज्ञा-  
वन्तोऽपि भवन्ति । लग्नाच्चतुर्थनिधने चतुरस्रसंज्ञे भवतः । सप्तमगृहं यूनं च भवति ।  
दशमर्क्षमाज्ञा च भवति । गोविंदः पुनरपि भावानाह-कल्पस्वेति । कल्पः स्वस्थः ।  
ह्यं धनम् । विक्रमं पराक्रमम् । गृहं भवनम् । प्रतिभा बुद्धिः । क्षतं व्रणः ।  
चित्तोत्थः कपटः । रंभं विषत् । गुरुः पिता, उपदेष्टा वा । मानो मानः । भवा  
संसाधः । व्यूमी द्रव्यनाशः । लग्नादास्त्यैवं द्वादशभावाः । चतुर्थनिधनयोश्चतुर-  
स्रसंज्ञा । दशमर्क्षमाज्ञा, दैवज्ञैः दशमेनाज्ञा विन्तनीया । लग्नादिपञ्चभावा एकेन  
पदनाक्ता अतः सप्तमादिपञ्चभावा दृश्यभागस्था इति सूचितम् । उपरितनाध्याये

पर्यायमन्यमुपलभ्य वदेच्च लोकादिति वक्ष्यति तस्मादन्यशास्त्रेभ्योऽप्येषां द्वादश-  
भावानां पर्याया वेद्यास्तदत्रोच्यते । तथा च पराशरमुनिः ।

“लम्नाच्छरीरविन्ता स्याद्वितीयात्स्वं च पैतृकम् ।

भरणीयं दृशं पापं पश्चादि च वदेद्ब्रह्मणः ॥

तृतीयात्सोदराद्वृद्धिं दुष्पूर्वा विक्रमं विदुः ।

चतुर्थोत्पितरं वैश्वं सुखं लालित्यमेव च ॥

सौमनस्यमपत्यादि प्रज्ञां मेधां च पञ्चमात् ।

हानिं व्याधिमरिं पष्टान्मैथुनं स्त्रीजयं ततः ॥

मृतिं पराजयं दुःखं हानिं व्याधिं तथाष्टमात् ।

सौशील्यं भाग्यधर्मांश्च नवमाद्दशमात्तथा ॥

मानास्पदाज्ञाकर्माणि लामालाभं व्ययाद्वयम् ॥” इति ।

जातकसंग्रहेऽप्युक्तम्—

“लम्नाच्चिन्त्यं मूर्तिकीर्तिस्त्विति च वित्तं नेत्रं वाक्कुटुम्बं च वित्तात् ।

धैर्यं वीर्यं भ्रातरं विक्रमेण विन्द्यात्क्षेत्रं चाह्नं वाधवांश्च ॥

बन्धुस्थानान्मातुलं भागिनेयं तोयं वैश्वमाजाविकादीन्सुखं च ।

पुत्रं वृद्धिं पूर्वपुण्यत्वमान्दं पष्टाद्याधीञ्छात्रणं द्विद्व्यणादीन् ॥

मदनगमनजायालोकनान्यस्तभ्रातृसु—

भरणहरणदासकेशविघ्नानि रंभात् ।

गुरुजनपरपुण्यान्यौषधं भाग्यासिद्धिं—

नयनभवनतः खान्मानकर्मास्पदाद्यम् ॥

सर्पौषातिं दुःखहानिं भवाख्याद्विष्पाद्विष्णुं स्वक्षयं भ्रंशमेव ॥”

इत्यादि जातकविषये मूर्तिरमत्रं भक्ष्यं भोज्यं भोजपितृभावमुपदेशसेचनमत्रं  
सहस्रकशर्तिकथाशयनमपि लम्नादिति । भोजनप्रश्नविषये लम्नाद्याः स्युर्भावमूर्तिः  
कोशो योधो घाहो मन्त्रो शत्रुमार्गोऽप्यायुः स्वान्तं व्यापारश्च प्रात्यमातिरिति प्रभुविषये  
इत्यादि शास्त्रादवगन्तव्यम् । एषां भावानामधिपतिशुभयोगद्वष्टिवशाद्वृद्धिः, पाप-  
योगद्वष्टिवशाद्धानिः । तथा चाक्तम्—

“यो यो भावः स्वामिदृष्टो युतो वा सौम्यैर्वा स्यात्तस्पतस्यास्ति वृद्धिः ।

पार्परेवं तस्य भावस्य हानिर्निर्दष्टव्या पृच्छतां जन्मतो वा ॥” इति ।

उत्तरत्राचार्यः स्वयमेव वक्ष्यति—

“लम्नात्पुत्रकलत्रेभ्यो शुभपतिप्राप्तेभ्यवालोकिते ।

चन्द्रादा यदि सम्पदस्ति हि तयोर्ज्ञेयोऽन्यथाऽसम्भवः ॥” इति ।

अत्र चन्द्रादिति विकल्पाच्चन्द्रादपि द्वादशभावाश्चिन्त्या इत्युक्तं भवति तयोर्वै-  
लाधिकादिति सिद्धं भवति ॥ १६ ॥

( त्रोटकम् )

कण्टककेन्द्रचतुष्टयसंज्ञाः सप्तमलग्नचतुर्थखभानाम् ।

तेषु यथाभिहितेषु चलाढ्याः कीटनरां वुचराः पशवश्च ॥ १७ ॥

पुनर्लग्नादीनां नामान्तराण्याह प्रकारान्तरेण-कण्टककेन्द्रचतुष्टयमिति तिस्रः  
संज्ञा भवन्ति । अथ लग्नादीनामुभयत्र संज्ञानिर्देशेन लग्नादिभावानां तत्तत्संज्ञा-  
विषयफलं प्रत्येकं संज्ञान्तरानपेक्षतया स्वातंत्र्यं द्योत्यते । यस्य पुरुषस्य जातकं  
निरूप्यते तस्य साक्षात्सम्बन्धिनः कल्पादयो भावाः परम्परासम्बन्धिनस्तन्वादय  
इति विशेषद्योतनाय पृथङ्निर्देशः कृतः । तद्यथा । कल्पः स्वस्यः "वार्ता  
निरामयः कल्प उल्लाघो निर्गतो गदात् इत्यमरः । रोगारोग्यसुखदुःखाद्यनुभव-  
कृदन्तरात्मा कल्पः सः प्रथमभावः । स्वमात्मनो वसनाशनादिसम्पादकं धनं स  
द्वितीयभावः । तृतीयो विक्रमः 'विक्रमस्त्वतिशक्तिता' इत्यमरः । चतुर्थो गृहम्,  
आत्मनो भोजनाशनशयनाधिकरणं मन्दिरम् । पञ्चमः प्रतिभा, तत्तदुचितकार्या-  
कार्यविशेषप्रतिभानुष्ठानम् । षष्ठभावः क्षतं, वातपित्तादिनिमित्तोऽभिघात-  
पतनादिनिमित्तो निजागन्तुकभेदाद्विविधो व्रणः । सप्तमभावश्चित्तोत्थः, वनिताभो-  
गादिविशेषः । अष्टमो रन्ध्रम्, आधिव्याध्याद्यनिष्ठागमः । नवमो गुरुः, ऐहिक-  
पारात्रिकसुखोपायोपदेष्टा । दशमभावो मानः, मानश्चित्तसमुन्नतिः । एकादशो भावः  
अर्थागमः । द्वादशो व्यय इति यावत् । एते भावा आत्मनः सम्बन्धिनः । तन्वा-  
दयस्तु परम्परया सम्बन्धिनस्तत्र पितृमातृशुक्रशोणितोद्भवस्त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थि-  
मज्जाशुक्रस्वरूपः क्रिया देहस्तत्रात्मनः काष्ठाभिवत्सम्बन्धः प्रसिद्धः प्रथमभावः ।  
द्वितीयभावः कुटुम्बः, वसनाशनादिप्रदानेन भरणियो वर्गः । तृतीयो भ्राता,  
समानोदरः सहोत्पश्यन्नेन भ्रातृसदृशा वयस्यादयो गृह्यन्ते । चतुर्थो बन्धुः,  
मातुलपितृव्यादयः । पञ्चमः पुत्रः । षष्ठः शत्रुः । सप्तमः पत्नी । अष्टमो मरणं,  
प्राणवियोगावस्था । नवमः शुभं धर्मः । दशम आस्पदः, शत्रुभिरपरिभवनीयं  
स्थानम् । एकादशद्वादशभ्यामायव्ययौ । येषां तन्वादीनां परम्परास्वकीयत्वेन  
सम्बन्धः । एवं परम्परासम्बन्धवन्तोऽन्येपि भावाः शास्त्रान्तरोक्ताभिरभितन्वादिभिः  
साधर्म्येणोपलक्ष्यन्ते । तथा हि-

"लम्बाद्याः स्युर्भावा मूर्तिः फोशापोषोवाहोमन्त्रः ।

शत्रुमार्गोऽप्यायुः स्वान्तर्धर्मो व्यापारश्च मान्यप्राप्तिः ॥"



मूर्तिरमत्रमिवेद्यादि । तन्मन्त्रेनात्मशरीरायोज्यायुः स्वादृष्टस्यानमान-  
सम्बन्धासम्बन्धतत्त्वानद्वाष्टिनद्योजलात्सप्तमद्वयं लक्षिताः राशीनां बलावल-  
निरूपणप्रकारमाहोत्तराद्धेन-यथाविहितेषु सप्तमलप्रचतुर्थस्वमेषु कीटनराम्बुचराः  
पशवश्च बलाढ्या भवन्ति । सप्तमे कीटराशिर्वलवान् । लभे नरराशिः । चतुर्थे  
जलराशिः । दशमे चतुष्पद्मराशिरत्युक्तं भवति, तदन्तरेऽनुपातः । तत्प्रकारस्तु-  
कीटराशिभ्यः उदयलग्नं विशोध्य, चतुष्पद्मराशिभ्यो चतुर्थलग्नं विशोध्य,  
नरराशिभ्योऽस्तं लग्नं विशोध्य, जलराशिभ्यो मध्यमलग्नं विशोध्य बलहीना  
इति च सिद्धं भवति । तदन्तरेऽनुपातः । तत्प्रकारस्तु चतुष्पाद्मराशिभ्यः  
पाताललग्नं विशोध्य पद्माश्याधिके चक्राद्विशोध्य भागीकृत्य त्रिभिर्भजेऽष्टमं पष्टमं  
शभूतं बलं भवति । तथाच पाराशरमुनिः-

“नृपुमजूरुपायो नमृगचापार्द्धकुम्भभात् ।

मृगचापपराद्धारुमेपासिदृष्टादपि ॥

अलिकर्कटकाद्यापि मृगपूर्वार्द्धमोनभात् ।

अस्तं सुखं क्रमाल्लग्नं खं हित्वाद्वादिके सति ॥

चक्राद्विशोध्य रामेश्च भक्ता भागीकृतं बलम् ॥” इति ।

एवं केन्द्रबलमानीयैकत्र संरक्षयेत् ॥ १७ ॥

( वसन्तातिलका )

केन्द्रात्परं पणफरं परतस्तुसर्व-

मापोह्लिमं द्विचक्रमंभु सुखं च वेदम् ।

जामित्रमस्तभवनं सुतमं त्रिकोणं

मेपूरणं दशममत्र च कर्म विद्यात् ॥ १८ ॥

केन्द्रान्तरालराशीनां संज्ञामाह-केन्द्रात्परं पणफरं भवति केन्द्रस्यानन्तरो राशिः  
पणफरसंज्ञः तद्वत्परमापोह्लिमं भवति पणफरात्परो राशिरापोह्लिमसंज्ञ इत्यर्थः ।  
फेपोविद्वन्नानां प्रसिद्धानि संज्ञान्तराण्याह-वेदमराशिः द्विचक्रमंभु सुखं च भवति ।  
अस्तमवनं जामित्रं भवति । सुतमं त्रिकोणं भवति । दशमं मेपूरणं भवति । अत्र  
कर्म च विद्यादशमे कर्मेति संज्ञामपि विद्यात् ।

गोविन्दः-अथ पणफरादिसंज्ञामाह-केन्द्रादित्यादिना । केन्द्रात्परं स्यात् पणफरं  
द्वितीयपंचमाष्टमैकादशस्यानानि पणफरसंज्ञानि । ततः परं तृतीयपष्टनवम-  
द्वादशस्यानान्यापोह्लिमसंज्ञितानि । केन्द्रपणफरापोह्लिमस्यैवैवास्त्यर्थोक्तवार्द्ध-  
कावस्थासु फलं वाच्यम् । तथा च सारावस्थाम्-

“केन्द्रात्परं पणफरमापोक्लिमसंज्ञितं तयोः परतः ।

वाल्युवस्थाविरत्वे भवन्ति फलदा ग्रहास्तेषु ॥” इति ।

हिबुकमम्बु सुखं च वेदम चतुर्थस्थानसंज्ञा । जामित्रमस्तभवनम् । पुत्रस्थानं  
पंचमम् । मेपूरणं दशमम् । दशमे पुरुषस्य प्रवृत्तिं विद्यात् । केन्द्रेष्वन्योन्यं  
चिन्त्यानि । तथा शास्त्रान्तरे-

“हृदयं ग्रहं च हिबुके मध्याह्ने स्थानमानकोशज्ञाः ।

आत्मार्यजीवितान्यखिलश्रेयश्च नष्टजातकाय ॥

प्रवासपरिदेवनानि जामित्रे मृतरोगतापचिन्ता ।”

तथा प्रवासश्च विज्ञेयाः । चंक्रमणासनमरुधनास्थितिरित्युदयास्ताहिबुक-  
मध्यलग्नेषु ।

“रूपतिर्षिलग्न्यादिबुकाच्च शुद्धिर्मध्याह्न्यासोऽस्तमयान्निवृत्तिः ।”

हिबुकेनाथः सलिलं नद्या गमनं च सप्तमेनैव ।

दशमेन शृष्टिपतनं ब्रूयादुदयेन तन्नितयम् ॥” इत्यादि ।

प्रश्नजातकेषु विषयविभागं विमृश्य निरूपणीयम् ॥ १८ ॥

( शार्दूलविक्रीडितम् )

होरा स्वामिगुरुक्षवीक्षितयुता नान्यैस्तु वीर्योत्कटा  
केन्द्रस्था द्विपदादयोऽहि निशि च प्राप्ते च संध्याद्वये ।

पूर्वाद्धे विषयादयः कृतगुणा मानं प्रतीपं च त-

दुश्चिक्रयं सहजं तपश्च नवमं व्याप्य त्रिकोणं च तत् ॥ १९ ॥

होरालग्नबलमाह-स्वामिगुरुक्षवीक्षितयुता होरा वीर्योत्कटा भवति । स्वामिना,  
गुरुणा, बुधेन वीक्षिता युता होरा वीर्योत्कटेति शेषः । अतएव पणफरस्था मध्य-  
बलाः । आपोक्लिमस्था हीनबला इति च द्रष्टव्यम् । तथा च वादरायणः-

केन्द्रस्थाः स्युरतिबलाः पणफराश्रिता मध्यबला ज्ञेयाः ।

आपोक्लिमगताः सर्वे हीनबला राशयः कथिताः ॥” इति ।

द्विपदादय आहि निशि च सन्ध्याद्वये च प्राप्ते वीर्योत्कटा भवन्ति । द्विपाद्राशयः  
आहि । चतुष्पाद्राशयो रात्रौ । कीटराशयः पूर्वसन्ध्यायामपरसन्ध्यायां च वीर्योत्कटा  
भवन्तीत्यर्थः । पूर्वाद्धे मेपादिके विषयादयः पंचपदसप्ताष्टनवदश च संख्याः कृत-  
गुणाश्चतुर्गुणाः मानं राशिप्रमाणं भवतीति शेषः तत उत्तराद्धे तुलादिपदके प्रतीपं  
प्रतिलोमेन दशादयो विषयान्ताः संख्याश्चतुर्गुणा प्रमाणं भवति । ह्रस्वदीर्घादि-  
परिज्ञानेनास्य प्रमाणस्योपयोगः । सहजं दुश्चिक्रयं भवति । नवमं तपश्च भवति  
इति शेषः । तद्व्याप्य त्रिकोणं च नवमस्य त्रित्रिकोणसंज्ञाप्यस्तीति यावत् ।

गोविन्दः—होरा स्वामीत्यनेन द्वाष्टिवलमुदयवलं स्थानवलं कालवलं चोच्यते । होराराशिः स्वामिना गुरुणा तेन वा वीक्षितो दृष्टो बलयुतो भवत्युत उदयवलयुतो भवति । तद्वलानयनमत्र मयाच्यते—‘होराफलं लग्नपतेः समानम्’ इत्यध्याये वक्ष्यति । ततो बलवशात्फलनियम इति न्यायाद्वाद्यपचिपतेर्बलं गणितेनानोय तद्वांशिं प्रति शुभद्वाष्टिरस्ति चेत्तद्वाष्टिचतुर्थांशपञ्चांशरूपेण पष्ट्यंशरूपे स्वामिवले योजयेत् । पापद्वाष्टिचतुर्थांशं वर्जयेत् । स्वस्वामिगुरुबुधद्वाष्टिरस्ति चत्तद्वाष्टिं चयोजयेत् । बुधशुभन्यां योगे पूर्णमेकं बलं स्वामिवले योजयेत् । मन्दभौमरविभिर्युक्तस्य पूर्णमेकं बलं शोभयेत् । एकैकस्य त्रिभिर्गुणयुक्तस्य पूर्णं बलत्रयमुपनयेत् । पूर्णशब्देन पष्ट्यंशानां पाष्टिरूपते । चन्द्रशुक्रयोगे बलहानिवृद्धी नो भवतः । नान्यैश्चेत्यग्राण्यशब्देन पापग्रहा गृह्यन्ते । अत्र पराशरमुनिराह—

“शुभद्वाष्टिचतुर्थांशयुतश्च ज्ञेयदृग्युतः ।

हीनः पापदृग्व्यंशयुतं स्वामिवलं बलम् ॥

गुरुज्ञान्यान्तु युक्तस्य पूर्णमेकन्तु योजयेत् ।

मन्दाररवियुक्तस्य बलमेकेन वर्जितम् ॥ ” इति ।

केन्द्रस्या द्विपदादय इत्यत्र लग्नदशमसप्तमचतुर्यमावेषु नरचतुष्पात्कीटास्व-  
चरराशयो बलवन्त इति सूचितम् । तत्पूर्वमेव तेषु यथाविहितेषु बलादथा  
इत्यनेनोक्तं तदिदानीं पुनर्वचनमिति चेन्न, इदं प्रश्ने ज्ञेयम् । नात्र त्रैराशिकन्यायः,  
पूर्वोक्तं जातकविप्रसम् । पुनः केन्द्रस्या इत्यत्र केन्द्रस्या इति अभिप्रायोऽस्ति केन्द्रगताः  
सर्वे राशयो बलवन्तः । पणफरस्था मध्यबलाः । आपोक्लिमस्था हीनबला  
इत्यर्थः । केन्द्रगतानां राशीनां पष्ट्यंशानां पाष्टिं योजयेत् । पणफरगतानां  
त्रिंशदापोक्लिमस्थानां पञ्चदशैषमानोक्तं राशिबलं स्वामिनो बलादेकाकारं चेद्वांशिः  
पूर्णबलः । तथा च पराशरमुनिः—‘राशीनां स्वामिनो बलादधिकं पूर्णमेकं तद्वलं  
चेद्बालिनो मताः’ इति । गतयवनेश्वरश्चाह—

“बलानि सप्त चेद्वावाः पूर्णवीर्याः प्रकीर्तिताः । ”

अत्र गोऽजाश्वान्यादिराशीनां दिननिशासंज्ञाविधाने ‘शीर्षोदया दिनबलाश्च  
भवन्ति शेषाः’ इत्यत्र बलं गृहाण तत्र दिनराशयो दिने बालिनः । निशाराशयो  
निशायां बालिनः इति कथयन्ति । अत्र राशिबलानयने बुधजीवराहितशुभद्वाष्ट्रे  
चतुर्थांशयोजनं न कराहमिहिराचार्यस्याभिप्रेतम् । ‘होरा स्वामिगुरुबुधवीक्षितपुता  
नान्यैश्च’ इत्युक्तत्वात् । ‘द्विपदादयोऽहि निशि च मासे च सन्त्यादये’ इत्यत्र द्विपदच-  
तुष्पदादीनि निशायामुदयरश्वस्तमे राशयो बलवन्त इत्युक्तमत्र कीटशब्देन  
पृथ्विककुलीरमीनमकरान्यार्द्ध इत्यादिवलमुक्ता राशीनां मानं कथयन्ति पूर्वार्द्धं

इत्यादीनां पूर्वाद्दशब्देन मेपवृषमिथुनमीनकुम्भमकराश्चोच्यन्ते । कृतगुणा विषयादयो मानम् । द्वादशराश्यात्मकस्य चक्रस्यैकपरिभ्रमणकालः खल्वहोरात्र-स्ततः एकैकराशेः पंचपंच नाडिका उदेतुं कालः कल्पनीयः । तथा न जायते राशि-चक्रस्य तिर्थाभ्रमणवशात् पंचनाडिकाम्य ऊनो वा राश्यादयकालः । विषयादयः पंच-दश इत्येताः कृतगुणाः कृतजीवा येषां कालज्यामानयेदित्यर्थः । पट्टिगुणिताः पंच-गुणिता नाडिकात्रिंशती सा पट्टिगुणिता सहस्राहिका शतसंख्या प्रमाणमानोदय इत्य-क्षरसंख्यया संपरोत्तरेण हत्वा स्वस्वाहोरात्रेण विभज्यावाप्तफलं चापत्रयं विन्यस्य द्वितीयं तृतीयं शोधयित्वा शिष्टद्वयं प्रथमचापं च मिथुनवृषात्र विन्यस्य द्वितीयं तृतीयं शोधयित्वा शिष्टमिथुनवृषमेपाणां मीनकुम्भमकराणां च लङ्कादयप्रमाणाः । मेपवृषमिथुनानां प्रतीपवृत्त्या कर्कासिंहकन्यकानामुदयमाणा भवन्ति । मीनकुम्भ-मकराणां प्रतीपवृत्त्या धनुर्शुक्रतुलानामुदयमाणा भवन्ति । तत्र भास्करेणोक्तम्—

“शशिकृतनभरामैराहता राशिजीवाः स्वकादिवसग्रहाद्धै भाजिताः काक्षिताश्च । भवेति समतिरिक्ताः पूर्वपापैरजाद्यैर्विषुवदुदयराशिमाणपिण्डाः क्रियाद्यात् ॥”

लङ्कादयप्रमाणाः भूमेर्गोलाकृतित्वात्स्वदेशोदयस्य सम्पादनाय स्वदेशचराः संस्कृताः स्वदेशराश्यादय भवन्ति । ततोऽप्युक्तं भास्करेण—

“शून्यादिरसरूपाणि भूतन्धमुनान्दवः ।

पंचानिरन्ध्रशशिनो मेपादीनां निरक्षजाः ॥

चरमाणाः क्रमाच्छोध्या दीयन्तेऽप्युक्तमेव ते ।

स्वदेशभादयामपे व्यत्ययं च तुलादितः ॥” इति ।

एतत्सर्वं गोलासिद्धत्वान्नोक्तम् । दुश्चिह्नं सहजं भवति । तपः नवमः त्रित्रिकोणं च अन्यदर्पांतरं सूच्यते । तृतीयराशिप्रमाणं नवमराशेः लङ्कादयप्रमाणमिति । अन्यत्र व्यज्यते नवमस्थानं विशेषमिति चिन्त्यते इत्युक्तं च—‘सर्वमपहाय चिन्त्यं भाग्यर्क्षं तु-विशेषेण इति ॥ १९ ॥

( मन्दाक्रांता )

रक्तः श्वेतः शुक्लतनुनिभः पाटलो धूम्रपाण्डु—

श्चित्रः कृष्णः कनकसदृशः पिङ्गलः कर्बुरश्च ।

यन्मृः स्वच्छः प्रथमभवनायेषु वर्णाष्टवत्वम्

स्वाम्याशाख्यं दिनकरयुताद्भाद्वितीयं च वेशि ॥ २० ॥

इति श्रीमदायनिकाचार्यद्विजयरादमिहिरकृतं बृहज्जातके

राशिमेदाध्यायः प्रथमः ॥ १ ॥

राशीनां वर्णानाह—मेपो रक्तः । वृषः श्वेतः । मिथुनः शुक्रतनुनिभः हरित इत्यर्थः । प्रथमभवनाद्येषु मेपादिराशिषु वर्णाः रक्तादयः इति सम्बन्धः । प्लवत्वं दिक्प्रबलत्वम् । स्वेशाशाख्यं राशीधरदिगाख्यं गृहदिशः प्रागाद्या इति वक्ष्यन्ते । ततो मेपराशि-  
र्दक्षिणप्लव इत्यादि । दिनकरयुताद्वा द्वितीयं वेशिसंज्ञं च भवति । एवं राशीनां  
निसर्गभवा, ग्रहभवा, समयभवाश्च विशेषतयोक्ताः ।

गोविन्दः राशिवर्णानाह—रक्तः श्वेत इति । मेपाद्येषु राशिषु वर्णा भवन्ति  
ग्रहरहिते राशीनां वर्णसिद्धिः फलवत्त्वं स्वेशाशाख्यं स्वाधिपतिदिक्प्लवो राशि-  
रिति । स्वजन्मलग्नराशिः, प्रभललग्नराशिर्वा यदिक्प्लवो भवति तां दिशं गतो  
राजा चिरेण रिपुं जयति । तथा च सारावल्याम्—“भावाधिपतिदिशाह प्लव”  
इति । यवनैः “प्रयन्नतस्तत्प्लवगा निहन्याच्चिरेण महीपतिः शत्रुम्” इति । दिनकर-  
युताद्वा द्वितीयं वेशि । द्वादशं वा वेशीति चकारेण सूच्यते । पूर्ववर्णप्रयोजनं  
तु “जन्मोदयगृहे वर्णास्तदाधिपतेः पुजितो गृहे प्रतिमा । हन्ति हरेरिह शत्रूनिन्द्र-  
धनुर्ध्वजिनीपतिदेवरिपुनिति ॥ २० ॥

इति होराशास्त्रे बृहज्जातकस्य दशाध्यायीटीकायाः प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

## अथ ग्रहयोनिभेदाध्यायः ।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

कालात्मा दिनकृन्मनस्तुहिनगुः सत्त्वं कुजो ज्ञो वचो  
जीवो ज्ञानसुखे सितश्च मदनो दुःखं दिनेशात्मजः ।

राजानो रविशीतगू क्षितिसुतो नेता कुमारो बुधः

सूरिर्दानवपूजितश्च सचिवौ प्रेप्यः सहस्रांशुजः ॥ १ ॥

पूर्वोक्तस्य मेपादिराश्यवयवनिष्पन्नस्य होरापुरुषस्य सूर्यादिग्रहैः सम्बन्ध  
उच्यते—कालपुरुषस्यात्मा दिनकृत् । तस्य मनश्चन्द्रः सम्पदामपि कारकः ।  
सत्त्वं कुजः । बुधो वचः । जीवो ज्ञानसुखे । मदनः शुक्रः । दुःखं दिनेशात्मजः ।  
इत्यात्मादिभूतेषु ग्रहेषु बलवत्सु जातस्य पुरुषस्यात्मादयो बालिनो भवन्ति ।  
दुर्बलेषु दुर्बला भवन्ति । आत्मभूतस्य दिनकृतो बलवत्त्वे तस्यात्मप्रभावो जायते  
आत्मप्रभावादेव हि सर्वकायपौरुषसिद्धिस्तस्मादादित्यबलमपि विशेषतः  
श्चिन्त्यम् । मनोभूतस्य चन्द्रस्य बलवतो मनःप्रभावो जायते । मनःप्रभावादेव हि  
सर्वकार्यसिद्धिस्तस्माच्चन्द्रबलमपि विशेषाच्चिन्त्यम् । आत्ममनसोरितरेतराश्रय-  
त्वात्सूर्याचन्द्रमसोरैकस्य बलवशादितरस्य बलसिद्धिः तथा च संहितायाम्—

“आत्मा सहेति मनसा मन इन्द्रियेण

स्वार्थेन चेन्द्रियगणक्रम एवमेव ।

योगो यथैव मनसः किमगम्यमस्ति

यस्मिन्मनो व्रजति तत्र गतो यदात्मा ॥ ” इति ।

आत्मवियोगे मनसो जाड्यं प्रसज्यते तस्मादकेंद्रोर्बलं सर्वत्र चिन्त्यम् । तथा चोक्तम्-

“सविता दशाफलानां वाचयिता चन्द्रमा प्रचोदयिता ।

सर्वेतरग्रहाणां ज्ञेया ॥ ” इति ।

कोर्भूमेर्जातः कुजः कुजशब्देन स्थिरत्वं सूचितम् । ज्ञशब्देन ज्ञानरूपत्वं बुधस्य सूचितम् । जीवशब्देन गुरोर्जीवाधिपत्यं सूचितम् । ज्ञानसुखे च जीवः, ज्ञानशब्देन बुद्धिरप्युच्यते । बुद्ध्या खलु सर्वं जानाति पुरुषः । सुखशब्देन धनमपि गृह्यते धनस्य सुखपरमसाधनत्वात्सुखशब्देन पुनरपरमप्युच्यते । तथा चोक्तमन्यत्र-

“पुत्रजन्मविपत्तिभ्यां न परं सुखदुःखयोः । ” इति ।

तस्माद्देहाद्यविविक्तपुत्रबुद्ध्यादिस्वरूपो जीवः । तथा चोक्तम्-

“गुरुणा देहप्राप्तिः स्याद्बुद्धिपुत्रार्थसम्पदः । ” इति ।

सितश्च मदनस्तत्र चशब्देन सितस्य विज्ञानसुखस्वरूपत्वं सूचितमयं तु विशेषः सङ्गीतसाहित्यादिज्ञानं शुक्रस्य । वेदादिज्ञानं जीवस्य । सुखमपि तद्वत्, सात्त्विकसुखं जीवस्य राजससुखं सितस्य । गुरुसितयोः सत्त्वरजोमयत्वान्मदनशब्देन सुरभिद्रव्यहृद्यान्नवांयरभार्याविवाहकर्मभोगस्थानवाहनशीतकल्यदयो गृह्यन्ते । दुःखं दिनेशात्मज इति अत्र दुःखशब्देन शवाशीचर्दाक्षावन्धुनाशव्याधिभरणविपदउच्यन्ते । तथा चोक्तम्-

“संवादो गुरुसंयोगे शशियोगे विपद्यम् ।

चिन्तितव्याः सदा पुंसां सर्वे भावानुसारतः ॥ ” इति ।

अत्र दिनकृदादयो वारक्रमेण कथितास्तं किञ्चित्प्रयोजनं विद्यते दिनपामाधिपत्यविज्ञानम् । तथा चोक्तम्-

“ग्रहा वारनाथादयो वासरस्य प्रमाणाष्टभागाधिनाथाः क्रमेण ।

मुपामाधिपत्यं च तत्पञ्चमाद्या य आद्यं शनाथः स एषाष्टमस्य ॥ ” इति ।

दिनेशात्मज इति । दिनेशशब्देनार्त्तांशस्य वारंशाधिपत्यमुक्तं दुःखस्वरूपस्य जनेर्यामात्मना विद्यमानस्य गुलिकस्यापि दुःखमयत्वं सूचितम् । कालात्मा दिनकृत्स्वादिना जातस्य जन्तोः शरीरावस्था सूचिता । प्रथममात्मानुपपन्नस्ततो मनसः प्रादुर्भाषस्ततः सत्यमयाद्बुद्धगुद्वयस्ततो मदनविगारादिपयसंगतिस्ततो पार्दका-

वस्यायां क्षीणो भूत्वा दुःखितो भवतीत्यादि । अत्र रविचन्द्रयोर्वियोगयोगवशात्तिथयो नित्ययोगाश्चोत्पद्यन्ते ।

नक्षत्राणि तु चन्द्रस्य नक्षत्रप्रवेशात्तस्माद्विचन्द्रवशाद्धि नक्षत्रतिथिकरणसंभवस्तस्मात्कालस्यात्ममनोमयत्वमनयोरुक्तम् ।

कालात्मा दिनकृदिति । कालस्वरूपो हि रविरित्युक्तस्तथा हि रविगतिवशादपममण्डलकल्पना दिवसकल्पना चापममण्डलस्यद्वादशराश्युदयवशादहोरात्रसिद्धिः त्रिंशदहोरात्रैर्मासः । मासद्वयेनर्तुः । पङ्क्तिः ऋतुभिः संवत्सरः । इत्यादि कालाधिभागकल्पनया हि लवादिप्रलयान्तः कालो निष्पद्यते । तस्मात्कालात्मा दिनकृद्भवति । मनस्तुहिन्यारिति—पुरुषस्य मनःप्राधान्येन हि सर्वप्रवृत्तिर्दृश्यते चन्द्रवलक्षये अन्यग्रहबलेन किञ्चित्प्रयोजनं विद्यते । तथा चोक्तम्—

“अमृतकिरणवीर्यादीर्यमाश्रित्य सर्वे  
विंदधति फलमेते खेचराः साध्यसाधु ।

निजनिजविषयेषु व्यापियन्ते यथामू—

न्यलमिह मनसैवाधिष्ठितानीन्द्रियाणि ॥” इति ।

तस्माच्चंद्रार्कयोर्वलं विशेषतश्चिन्त्यमित्युक्तं भवति । तथा चोक्तम्—

“चन्द्रार्कौ बलयुक्तौ कुजादयः प्रोक्तमार्गबलहीनाः ।

हीनाः शुभवलमास्ते सर्वे दशाषु योगेषु संचिन्त्याः ॥” इति ।

राजानौ रविशितिविवति । रविचन्द्रौ राजानौ । क्षितिजः सेनापतिः । कुमारौ युवराजा बुधः । गुरुशुक्रौ सचिवौ । प्रेप्यः शनिः । तथा च सारावल्याम्—

“राजा रविः शशधरश्च बुधः कुमारः

सेनापतिः क्षितिसुतः सचिवौ सितेज्यौ ।

प्रेप्यस्तयोश्च रविजः सबला नराणां

कुर्वन्ति जन्मसमये निजमेव रूपम् ॥” इति ।

जन्मकाले यो ग्रहो बलवाञ्जातस्तत्समानरूपो भवतीत्यन्यदर्थान्तरमस्तीत्येव सूचितम् । द्वादशराश्यात्मकस्य कालचक्रस्य राजानौ रविशितौ अधिपतौ इत्यर्थः । दिनपतिर्निशापतिश्च द्वादशराशीनामधिपौ । तत्र रविः स्वस्थानाग्निसिंहादाभ्य क्रमात् पट्टाश्वधिपतिः ततश्चन्द्रः स्वस्थानात्कुलीरादारभ्य उत्क्रमेण पट्टाश्वधिपतिः । रविचन्द्राभ्यां दत्तमेव कुजादीनां राश्याधिपत्यम् । तद्यथा—कुमारभूतस्य बुधस्य रविणा स्वस्थानाद्धनस्थानं दत्तम् । सचिवभूतस्य शुक्रस्य पराक्रमस्थानं दत्तम् । सेनापतिभूतस्य कुजस्य वाहनस्थानं दत्तम् । गुरोर्बुद्धिस्थानं पंचमं दत्तम् । प्रेप्यस्य शनेः प्रेप्यस्थानं षष्ठं दत्तम् । एवं चन्द्रेण व्युत्क्रमगणनया धनादीनि स्थानानि दत्तानीति । तथा च सारावल्याम्—

“द्वादशमण्डलभगणस्तस्यार्द्धं सिंहतो रविर्नाथः ।

फर्कटकात्प्रतिलोमाच्छशभृदयान्वेषि तत्स्थानात् ॥ ”

भानोरथं विहगाः शूरास्तेजस्विनश्च साहसिकाः ।

शशिनो मृदुश्च सौम्याः सौभाग्ययुताः प्रजायन्ते ॥ ” इति ॥ १ ॥

( शालिनी )

हेलिः सूर्यश्चंद्रमाः शीतरस्मि-

ह्मेन्नोविद् ज्ञो बोधनश्चेन्दुपुत्रः ।

आरो वक्रः क्रूरदृक्चावनेयः

कोणो मंदःसूर्यपुत्रोऽसितश्च ॥ २ ॥

( वसन्ततिलका )

जीवोऽङ्गिराः सुरगुरुर्वचसांपतीज्यो

शुक्रोभृगुर्भृगुसुतः सित आस्फुजिच्च ।

राहुस्तमोगुरुरश्च शिखी च केतुः

पर्यायमन्यमुपलभ्य वदेच्च लोकात् ॥ ३ ॥

सूर्यचन्द्रयोर्द्वे संक्षेपे प्रोक्ते, अन्याः संज्ञा लोकतो वेद्याः । लोकप्रसिद्धत्वात्प्रथममुक्तौ प्रकाशकग्रही, पुनरुक्ताः पञ्चताराग्रहाः तदनन्तरमुक्तौ द्वौ यौ तमौ-ग्रही । प्रथमोदितौ सूर्येन्दु सर्वसाधारणौ सर्वनिरूपणीयौ ॥ बुधोप्याभयवशात्सुखदुःखदो ज्ञेयस्तदनन्तरोदितौ कुजशनी ह्यनिष्टदौ सर्वत्र । तदनन्तरोदितौ राहुकेतुक्षेत्रौच्चादिहीनत्वादशुफलदाविति । ‘पर्यायमन्यमुपलभ्य वदेच्च लोकात्’ इति विधिर्न केवलमस्मिन् शास्त्रे यः पर्यायोऽत्र नोक्तः स लोकाच्छास्त्रेषु दर्शनाज्ज्ञात्वा वदेत् । अत्रानुक्तानि यानि लक्षणानि तानि न निरूपणीयानि इति नावगन्तव्यम् । तानि ज्ञात्वा सर्वं वदेदित्युक्तम् । बुधजीवशुक्राणौ चत्वारिचत्वारि नामान्युक्तानि । मन्दारपोस्त्रीणि त्रीणि । राहोस्त्रयः तमः अशुः असुरश्चेति । केतोश्चैकं शिखीति ॥ २ ॥

( शालिनी )

रक्तः श्यामो भास्करो गौर इन्दु-

र्नात्युच्चाङ्गो रक्तगौरश्च वक्रः ।

दूर्वाश्यामो ज्ञो गुरुर्गौरगात्रः

श्यामः शुक्रो भास्कारिः कृष्णदेहः ॥ ४ ॥



ग्रहाणां वर्णा उक्ताः । किमस्य प्रयोजनमिति चेद्यस्मिन् ग्रहे बलवति जातस्तदानीं तत्तुल्यो वर्णो भवति । तथा च कृष्णीये—

“आत्माकृतिवर्णादि ग्रहस्तु न जहाति चरगृहस्थोऽपि ।

तत्स्वाम्याकृतिवर्णो जातस्येत्यपरे व्यवस्यन्ति ॥ ” इति ।

‘चन्द्रसमेतनवांशपर्यणः’ इत्यत्रायं गृह्यत्वे—उच्चगो रक्तः, नीचगः श्यामः रविर्भवति । नायुश्चाङ्गः श्यम इत्यर्थः । गौरगात्रः धवलगात्रः गौरावयवः इत्युक्तम् । भास्करेः कृष्णदेहः अन्तः स्वच्छ इत्यर्थः ॥ इति ॥ ४ ॥

( शार्दूलविक्रीडितम् )

वर्णास्ताम्रसितातिरक्तहरितव्यापीतचित्रासिता

बहुयम्बुवग्निजकेशवेन्द्रशचिकाः सूर्यादिनाथाः क्रमात् ।

प्रागाद्या रविशुक्रलोहिततमः सौरैर्दुर्वित्सूरयः

क्षीर्णेद्वर्कमहीसुतार्कतनयाः पापा बुधस्तैर्युतः ॥ ५ ॥

एवं ग्रहाणां निजशरीरवर्णानुक्त्वा तदाधिदैवतान् वर्णानाह—ताम्रादयो वर्णाः सूर्यादिनाथाः सूर्यादयो नाथा येषां तेतयोक्ताः अनेन ग्रहश्रुतादौ तद्वर्णकुसुमवस्त्रपद्मादयः शक्यन्ते । पदार्थानामसंख्यत्वात्पदार्थस्य प्रथमं साक्षात्कथनं दुष्करं स्यात् । बहुयम्बुव्यादि—बहुयम्बुवग्निजकेशवेन्द्रशचिकाः सूर्यादिनाथा भवन्ति । सूर्यादिनाथा इत्यत्र पठ्यतत्पुरुषसमासः । अत्र वह्निशब्देनानिश्च रुद्रश्च विवक्षितौ, कृशानुरेता हि भगवान्हरः । अम्बुशब्देनापरः सूचितः । शब्दैकदेशकथनावधिक्या गौरी च । अग्निजशब्देन स्कन्द उच्यते । कुण्डाभयत्वादग्नेरधिष्ठानभूता भूमिश्च । केशवशब्देन विष्णुरेव विवक्षितः । इन्द्रशब्देन शक्रः ब्रह्मा वा देवानामाभयभूतत्वात् । शचीशब्देनेन्द्राणी इन्द्रो वा । कशब्देन ब्रह्मा गृह्यते । शब्दैकदेशेन कालो वेत्सुक्तार्थानुसारेण—शास्त्रान्तरे पक्षद्वयत्वेनोक्तम् । तथा च शास्त्रान्तरे—

“सूर्यादितः शिवशिवागुहकेशवेन्द्रकालाः क्रमेण पतयः कथिताः सुधीभिः ।

बहुयम्बुभूमिहरिशक्रशचीसुरेन्द्रास्तेषां पुनर्मुनिपरैः प्रतिदेवताश्च ॥”

द्वितीयपक्षानुसारेण पतयोऽत्र सुगमाः । तथा च सारावल्याम्—

“पावकजलगुहकेशवशक्रशचीवधसः पतयः ।

पूर्वादिग्रहदैवतमत्रः सम्पूज्य देवतामाशाम् ॥

कनकगजवाहनादीन् ग्रामोतिभूपतिः शीविम् ॥” इति ।

प्रागाद्या इति । प्रागादिदिङ्नाथाः सूर्यादयो भवन्ति । एते जातकविषयाः । अथ पक्षान्तरम् । रवेः प्राची । शुक्रस्य प्रतीची । लोहितस्याग्नेयी । तमसः ऐशानी ।

सौरैर्वापयी । इन्द्रोश्चन्द्रस्योदीची । बुधस्य नैर्ऋती । सुरैरवाचीति अयमुपदेशगम्यः ।  
केशरीभोगशेषो त्वयं पक्षो नष्टमुष्ट्यादिषु ग्राह्यः । तथा च कृष्णीयं-

“रविकुजसुरगुरुशशिसुतभृगुसुतसौरिन्दुसैर्हिकंयानाम् ।

प्रादक्षिण्यं दिशः प्राच्याद्याः फल्पिताश्चान्येः ॥” इति ।

एवं द्विविधग्रहदिकृत्कथने यां दिशं प्रति ग्रहो गच्छति सा तस्य दिगित्युपदेशः ।

“क्षीणेन्द्रित्यादि । क्षीणेन्द्रादीनामुत्तरोत्तरं पापफलसूचकत्वमवगन्तव्यम् । अनेन  
प्रयोजनं तु शुभग्रहैः पापग्रहैश्च बलयुतैः फलभेद उच्यते । रविकुजसौराः निसर्गतः  
पापाः । चन्द्रबुधयोरवस्थान्तरेणैव पापत्वम् । गुरुशुक्रयोः सर्वदा शुभफलदत्वमवगन्त-  
व्यम् । अत्र चन्द्रस्य क्षीणत्वे पापत्वं स्वतो जायते । चन्द्रस्य क्षीणत्वेऽन्ये ग्रहाः स्थान-  
बलादिवलवन्तोऽपि विबला भवन्ति । तस्मात्सर्वे ग्रहाः शुभानि न दद्युः । तेन  
हि क्षीणचन्द्रस्य पापत्वं क्षीणचन्द्रादप्यर्कस्य पापत्वं, तस्मादपि कुजस्य, तस्मादपि  
शनेः, रविकुजौ तु घट्टिभूतस्य स्वरूपौ, क्षत्रकुलाधिपौ च, तथापि रवेः सत्त्वगुण-  
मयत्वादत्यन्तं पापत्वं न विद्यते कुजस्य तमोमयत्वादकार्कादिभिः पापत्वमुच्यते ।  
शनेस्तु तमोमयत्वाद्वायुमयत्वाद्बुधमयत्वाच्च कुजादपि पापत्वं जायते । यवनपक्षे  
तु रवेः झूरत्वं कुजशन्योः पापत्वमिति विशेष उक्तस्तथा च तद्वाक्यम्-

“झूरग्रहोर्कः कुजसूर्यजौ तु पापौ शुभाः शुक्रशशाङ्गजीवाः ॥” इति ।

अस्य प्रयोजनं तु-शुभग्रहैः पापग्रहैश्च बलयुतैः फलभेद उच्यते तथा  
च सारावल्याम्-

“आचारसत्त्वशुभशौर्ययुताः स्वरूपा-  
स्तेजस्विनः कृतविदा द्विजदेवभक्ताः ।

स्रग्वस्त्रगन्धजलभूषणसम्प्रियाश्च

सौम्यग्रहैर्बलयुतैः पुरुषा भवन्ति ॥

लब्धाः कुकर्मनिरता निजकार्येनष्टाः

साधुद्विपः सरलहासमनोभिभूताः ।

झूराः सदा वधरता मलिनाः कृतघ्नाः

पापग्रहैर्बलयुतैः पिशुनाः कुरूपाः ॥” इति ।

क्षीणेन्द्रोरधमकथनं तस्य शुभसूचकम् “अमायां च चतुर्दश्यां क्षीणचन्द्रो  
न, सर्वदा ॥ ५ ॥

( औपच्छन्दासिकम् )

बुधसूर्यसुतौ नपुंसकाख्यौ

शशिशुकौ युवती नराश्च शेषाः ।

## शिखिभूखपयोमरुद्गणाना-

धिपा भूमिसुतादयः क्रमेण ॥ ६ ॥

ग्रहाणां नपुंसकस्त्रीपुरुषत्वमुच्यते । बुधसूर्यसुता नपुंसकौ । शशिशुक्रौ युवती । नरास्तु शेषाः । अत्र तु अर्थविशेषो ध्वन्यते । शेषाः रविकुजगुरवः पुरुषास्तेषां क्रममध्येर्जकः पिता, कुजो भ्राता, गुरुः सुतः । शशिशुक्रौ युवती-शशी भ्राता, शुक्रो भार्या । अत्र स्त्रीग्रहकथनानन्तरं पुंग्रहविधिस्तथापि नपुंसकोपि । स्त्रीपुंविभागे ज्ञेयः बुधस्त्रीनपुंसकं, सूर्यसुतः पुंनपुंसकम्, अर्थाद्बुधशान्येन नपुंसकत्वविधानाः । चेष्टामात्रफलानां तिरश्चामपि सूचकत्वमूहम् । अथ स्त्रीपुरुषसंयोगाल्लब्धानां, तथा दत्तपुत्रादीनामपि कारकत्वं तर्कणीयम् । पुंस्त्रीनपुंसकचिन्तायां सर्वत्राश्रयं विधिः । शिखीत्यादिना ग्रहाणां भूतसम्बन्ध उच्यते । शिखिभूमभृतीनां भूमिसुतादयोऽधिपाः स्वामिनो भवन्ति । गणशब्दः पादप्रणार्थमिति कैश्चिद्वाक्यात् तदसत्, यतः अथ बहुलं स्वल्पं शास्त्रत्वं प्रारभे इत्युक्तवताऽऽचार्येण न केवलं पादप्रणार्थमयं शब्दः प्रयुक्तः इति प्रतिभाति, तस्मादयमर्थोऽत्र गम्यते गणशब्दः प्रत्येकं योजनीयः । शिखिगणास्तावद्गह्विरूपचक्षुरेन्द्रियपादव्यानमनोमयकोशाः । भगणाः पृथिवीगन्धघ्राणेन्द्रियोपस्थप्राणमयकोशाः । खगणाः ह्याकाशशब्दश्चोत्रेन्द्रियवाक्समानानन्दमयकोशाः । पयोगणाः खलु रसनेन्द्रियाद्यपानप्राणमयकोशाः मरुद्गणा वायुस्पर्शत्यागिन्द्रियपाण्युदानविज्ञानमयकोशाः । एवमुपदेशसिद्धौः । मेपादिराशीनामपि स्वामिग्रहोक्तान्येव भूतानीत्यवगन्तव्यम् । राशीनां भूतानुपदेशः । तथा च कृष्णीये-

“क्षित्यम्बुपवनपावकवियन्ति भूतानि पञ्च कथितानि ।

तुधभृगुयमभीमानां जीवस्येषां गृहाणां च ॥ ” इति ।

कुलीरसिंहयोर्जलाग्नी भूते, ‘बृहद्यम्बु’ इत्यादिना रविचन्द्रयोः पूर्वमेव कृते, अत्र ग्रहाणां शुष्काद्रित्वमप्यनया भूतोक्त्यैव सिद्धमेव । कथमाग्निमयत्वादर्ककुजयोर्वायुमयत्वाच्छनेस्तु शुष्कत्वमवगन्तव्यम् । जलमयत्वाच्छशिशुक्रयोरार्द्रत्वमवगन्तव्यम् । गुरुबुधयोराकाशपृथिवीमयत्वादाभयतुल्यत्वमवगन्तव्यम् । तथा च कृष्णीये-

“शुष्का रविकुजसौराः सितचन्द्रमसौ जलात्मकौ ज्ञेयौ ।

आश्रयगौ गुरुसौम्यौ सबलावित्युक्तमाचार्यः ॥ ”

अनेन भूतकथनेनैव ग्रहाणां राशीनां च सजलविजलात्मकत्वमवगन्तव्यम् । रविकुजमन्दा अग्निवायुमयत्वादतोषाः । शुक्रचन्द्रावाप्यत्वाजलमयौ । बुधगुरुक्षित्याकाशतुल्यत्वादाभयतुल्यौ । एवं राशीनां च । तथा च कृष्णीये-

“मीनकर्कमृगान्त्यार्द्धवृषतौल्पालियोपितः ।

कुम्भश्च तोयभानि स्युर्ग्रहेषु शशिभार्गवौ ॥

तोयात्मकौ ज्ञजीवौ तु सतोयी जलराशिगौ ।

वितोयी वहिराशिस्थौ शुष्काः शन्यर्कभूमिजाः ॥ ” इति ।

भूमिषु जलप्रश्ने वर्षप्रश्ने चास्य विनियोगः । पुनरप्युपदेशः प्रदर्श्यते । यत्र रविकुजौ दुःस्थौ तत्रामेयाः पैत्तिकाः । यत्र चन्द्रशुक्रौ दुःस्थौ तत्र जलप्रधानरोगाः । यत्र बुधो दुःस्थस्तत्र त्रिदोषप्रधानाः ।

यत्र शनिर्दुःस्थस्तत्र वातप्रधानाः । यत्र गुरुर्दुःस्थस्तत्राकाशप्रधाना बधिरत्वादयो रोगा भवन्ति । एवं भूतवशाद्बुधा फलं चिन्त्यते । उदयादारभ्य पादोनचतुर्वटिका-  
कालेन पृथिव्यादिपञ्चभूतानि क्रमोत्क्रमाभ्यामुद्यन्ति । तथा चोक्तम्-

“पादाभ्याधिकमथैकं त्रिपादमर्थं च पादं च ।

भूम्यादीनामुदयवटिकामानं विदुः क्रमोत्क्रमतः ॥”

राशिभूतादयोऽपि हि निरूप्यन्ते । तथा च भगवत्पादाचार्यः-

“पुटयोरुभयोश्च दण्डसंस्था पृथिवी तोयमधः कृशानुरूर्ध्वम् ।

पवनो नसीहवामे मध्ये गगनं भूतगतिस्तनूद्भवेयम् ॥” इति ।

“न मृतिर्न रोगशान्तिः पृथ्व्या उदये जलोदये च पुनः ।

ईप्सितमचिरात्सिद्ध्यति बह्वे रुदये मृतिर्विरोधश्च ॥

वायोरुदये सिद्ध्यति सर्वं गमनागमादिवलकार्यम् ।

व्याधयारम्भो नाशो द्रव्याणामाहवश्चात्र ॥

आकाशोदयकाले सिद्ध्यत्यशुभं विशेषेण ॥” इति ।

अलमतिप्रसङ्गेन ॥ ६ ॥

( उपजातिः )

विप्रादितः शुक्रगुरु कुजार्कौ

शशी बुधश्चेत्यसितौत्यजानाम् ।

चन्द्रार्कजीवा शसितौ कजार्कौ

यथाक्रमं सत्त्वरजस्तमांसि ॥ ७ ॥

विप्रादयः शुक्रादयो वर्णाधिपाः शुक्रगुरु विप्राधिपौ कुजार्कौ क्षत्रियाधिपौ । शशी वैश्याधिपः । बुधः शूद्राधिपः । शनिरन्यजानामधिपः इति । तथाचोक्तम्-

“विप्राह्वयो गुरुसितौ नृपती कुजार्कौ ।

वैश्यः शशी शशिसुतो वृषलोऽर्कजोऽन्यः ॥” इति ।

शशी बुधश्च वैश्याधिपौ, शनिः शूद्राधिप इति केचित् । तथा च कृष्ण्ये-

विमौ भृगुदेवगुरु क्षत्रियभावौ दिवाकरोर्वीजौ ।

वैश्यौ बुधचन्द्रमसौ शनैश्चरः शूद्रसंकरकृत् ॥ ” इति ।

पक्षद्वयानुसारेण शनिर्बुधश्चेत्यसमासनिर्देशः । शुक्रगुरु इत्यत्र शुक्रो मध्यमब्राह्मणः गुरुस्तमब्राह्मणः । राशिग्रहसम्बन्धवशाच्छेषं कुजार्कावित्यत्रायं न्यायो द्रष्टव्यः- कुजो माण्डलिकः, रविः सार्वभौमः । सामाद्युपायचतुष्टयाधिपत्यमनेन सूचितम् । शुक्रगुरोर्विपत्वात्सामाधिपत्यमूह्यम् । कुजार्कयोः क्षत्रियत्वाद्दण्डाधिपत्यमवगन्तव्यम् । शशिनो वैश्याधिपत्यं देयमवगन्तव्यम् । बुधशन्योरन्यवर्णाधिपत्यत्वाद्देवाधिपत्यं वेद्यम् । तथा च संग्रामविजये-

“साम्नो भृग्वङ्गिरसौ दण्डाधीशौ दिवाकरोर्वीजौ ।

दानाधिपः शशाङ्को भेदस्य युधार्कपुत्रौ च ॥ ” इति ।

अथ ग्रहाणां द्विपदचतुष्पदपक्षिसरीसृपत्वमप्यनेन सूचितम् । विप्रशब्देन द्विपात्प्रवरो ब्राह्मणः । द्विपदादित इति यावत् । शुक्रगुरु द्विपदौ । कुजार्कजौ चतुष्पदौ । शशी सरिसृपः । बुधसितौ पक्षिणौ इति । तथा च कृष्ण्ये-

“सूर्यात्मजेन्दुपुत्री पक्षिसमानौ सरिसृपश्चन्द्रः ।

द्विपदौ भृगुदेवगुरु चतुष्पदौ भूमिपुत्रार्कौ ॥ ” इति ।

जातिनिर्णयेऽस्य विनियोगः । चन्द्रार्कजीवा इत्यादि ग्रहाणां त्रिगुणात्मकत्वं मनेन विधीयते । यस्मिन्ग्रहे बलवति पुरुषो जातस्तद्ग्रहगुणस्वभावो भवति । त्रिविधा हि पुरुषा भवन्ति । सात्त्विका राजसिकास्तामसिकाश्चेति । स्वभावश्च संहितायामुक्तम् । तथा च तद्राक्यम्-

“यः सात्त्विकस्तस्य भवेत्स्थिरत्वं सत्पार्जवे ब्राह्मणदेवभाक्तिः ।

रजोधिकाः कान्यकलाकृतिः स्त्रीसंसक्तचित्तः पुरुषोऽतिशूरः ॥

तमोधिको वञ्चयिता परेषां हिंस्रोऽलसः क्रोधपरोऽतिनिद्रः ।

मिश्रेणैर्मिश्रगुणस्वभावा भवन्ति सर्वेऽपि शरीरभाजः ॥ ” इति ।

लभे-ग्रहदृष्टियोगाभ्यां वा चलवद्ग्रहवशास्त्रिगुणाधिपत्यं चिन्त्यम् । अथवा यस्य त्रिंशशके रविस्तद्ग्रहगुणप्रधानः पुरुषो भवति । तथा च स्वल्पज्ञातके-

“सत्त्वं रजस्तम इति त्रिंशशे यस्य भास्करस्तादृक्- । ” इति ।

देवताविशेषश्चिन्त्यः । तुद्ग्रहयोगदृष्टिवशादनुकूलस्थाने ग्रहाणां स्थितिवशाद्विशेष उक्तः । पुंस्त्रीराशिग्रहवशादेवतापुंस्त्रीविभागः कल्प्यः तत्र चन्द्रः सात्त्विकः प्रकृतिः, रविः सात्त्विकः शिवः, गुरुः सात्त्विको विष्णुः इत्यादि । जातकेषु ग्रहवशास्त्रिगुणाधिक्यं विज्ञाय परुषस्य शभाशमफलं चिन्त्यम् ॥ ७ ॥

मधुपिंगलदृक्चतुरस्रतनुः

ज्वलनप्रकृतिः सविताऽल्पकचः ।

तनुवृत्ततनुर्बहुवातकफः

विबुधश्च शशी मृदुवाक् शुभदृक् ॥ ८ ॥

अथ ग्रहस्वभाव उच्यते । मधुपिंगला दृग् यस्य । चतुरस्रतनुश्चतुष्कोण इत्यर्थः  
पुनः भावफलाध्याये 'शूरस्तब्ध' इति वक्ष्यति । तदत्र योज्यम् । शूरस्तब्धः प्रधान  
इत्यर्थः । गम्भीरश्च पित्तप्रकृतिरित्यनेन सारावल्यामुक्तम्-

"अल्पाकुञ्चितमूर्ध्वजः पटुमतिः सत्त्वस्वरूपश्चलो  
नात्युच्चो मधुपिङ्गचारुनयनः शूरः प्रचण्डोऽस्थिरः ।

रक्तः श्यामतनुर्निगूढचरणः पित्तास्थिसारो महान्  
गम्भीरश्चतुरस्रकः पृथुकरः कौस्तुभवासा रविः ॥ " इति ।

व्याधिप्रश्नोपयोगत्वादन्योर्थो ध्वन्यते । मधुपिंगलदृगिति नयनविकलः । अल्प-  
कचो नष्टकचः । ज्वलनप्रकृतिः पित्तप्रकृतिः; पित्तप्रधानदाहोष्णज्वरादिभानि-  
त्यर्थः । चतुरस्रकथनेन भोजननष्टादिषु पात्रद्रव्याकृतिज्ञानं प्रयोजनम् । तनुवृत्ततनु-  
रिति-तनुर्लघुः, वृत्तं वर्तुलं, विबुधः प्राज्ञः त्रिकालवित् । मृदुवाक् मधुरवचाः । शुभदृक्  
सुनयनः । तथा च सारावल्याम्-

सौम्यः कान्तविलोचनो मधुरवाग्गौरः कृशांगो युवा  
प्रांशुः सूक्ष्मविकुञ्चितासितकचः प्राज्ञो मृदुः सार्विकः ।  
चारुर्वातकफात्मकः प्रियसखा रक्तैकसारो घृणी  
पुतः स्त्रीषु रतश्चलति सुभगश्चित्रांबरश्चन्द्रमाः ॥ " इति ॥ ८ ॥

( स्वागता )

क्रूरदृक् तरुणमूर्तिरुदारः

पैत्तिकः सुचपलः कृशमध्यः ।

श्लिष्टवाक् सततहास्यरुचिर्ज्ञः

पित्तमारुतकफप्रकृतिश्च ॥ ९ ॥

क्रूरदृग् अशुभदृष्टिः । तरुणमूर्तिर्युवा । उदारो दाता । पैत्तिकः पित्तप्रकृतिः । सुचपलः  
स्वस्थः । कृशमध्यो दुर्धूलकृष्टिः । क्रूरं पश्यतीति क्रूरदृक् । तरुणमूर्तिर्बालाकार  
इति पैत्तिकः । क्रूरदृगिति क्रूरा दृग् यस्येति, कुतश्च दृष्टेः शुभत्वं सूचितम् ।  
अप्या लोचनस्पर्शत्वाच्चक्रूरदृक्, तरुणमूर्तिः । सुदृश्यः, पैत्तिक इत्यादिदीप्तिः

सूचिता । उदारशब्देन पटुतरत्वं सूचितम् । चपलः अविमृश्यभाषी अनिष्पन्नवा-  
गित्यर्थः । तरुणशब्देन कुञ्चितकेशत्वम् । अथवा क्रूरदृगिति चण्डः विघातकुशलः  
संरक्षणे भीरुः कुज इति । श्लिष्टवागिति । श्लिष्टवाग्यस्येति प्रियवागित्यर्थः । अथवा  
श्लिष्टा युक्ति युक्ता वाग्यस्येति । अथवा श्लिष्टा यथास्थानप्राप्ताऽक्षरा वाग्यस्येति । सत-  
तहास्परुचिः सततं सर्वदा हास्ये हसने रुचिरस्येति, हसनशील इत्यर्थः । दृष्टात्मा वां  
अथवा हास्परसरुचिः शुभा यस्येति । सर्वेषामनुकरणेन हास्परसजनक इत्यर्थः ।  
पित्तमारुतकफप्रकृतिश्चेति चशब्देन मध्यरूप इत्यपि सूचितम् । एवं बुधस्वरूपम् ।  
तथा च सारावल्याम्—

“रक्तान्तायतलोचनो मधुरवाक् दूर्वादलश्यामल-  
स्त्वक्सारोतिरजोधिकः स्फुटवचाः स्निहितस्त्रिदोषात्मकः ।  
दृष्टो मध्यमरूपवान् सुनिपुणो वृत्तः शिराभिस्ततः  
सर्वस्यानुकरोति वैपवचनैः पालाशवासा बुधः ॥ ९ ॥” इति ।

( वंशस्थम् )

बृहत्तनुः पिङ्गलमूर्द्धजेक्षणो  
बृहस्पतिः श्रेष्ठमतिः कफात्मकः ।  
भृगुः सुखी कान्तवपुः सुलोचनः  
कफानिलारुमाऽसितवक्रमूर्द्धजः ॥ १० ॥

भ्रेष्ठमतिरिति धर्मबुद्धिः न श्रोत्रज्ञश्च क्षमावान् वेदशास्त्रज्ञश्च कफात्मक इति  
श्लेष्मप्रकृतिः दयापरश्च बृहस्पतिः इति स्वरूपम् । तथा च सारावल्याम्—

“ईपसिंगललोचनोऽश्रुतिपरः सिंहाब्दनादः स्थिरः ।  
सत्त्वाढ्यः सुविशुद्धकाञ्चनवपुः पीनोन्नतोत्तरस्थलः ॥  
द्वस्वो धर्मपरः सुनीतिनिपुणो वदोत्कटाक्षः क्षमी ।  
व्यापीताम्बरभृत्कफात्मकतनुर्भेषाप्रधानो गुरुः ॥” इति ।

भृगुः सुखीति शुक्रस्वरूपमुच्यते—शान्तेन सुरभिद्वयैरन्नपानैश्चाभ्यर्च्यैः स्त्रीभिश्च  
मदनोपकरणैरन्यैश्च काव्यादिभिरिष्टजनेन च सुखीत्युक्तम् । कान्तवशुरिति ललित-  
देहः कान्तिमान् स्त्रीणां मनोहरश्चोक्तः सुलोचनः इति विशालायतनयन उक्तः ।  
कफात्मेति कफप्रधानवातप्रकृतिरुक्तः । असितवक्रमूर्द्धजेति तथा चोक्तम्—

“कृष्णाकुञ्चितसूक्ष्मलंबितकचः” उक्तः । एवं शुक्रस्वरूपम् । तथा च सारावल्याम्—  
“चारुर्दूर्ध्वभुजः पृथूरुवदनः शुद्धाधिकः कान्तिमान्

कामी वातकफाधिकोऽतिसुभगश्चित्राम्बरो राजसः

लालावान्मतिमान्विशालनयनः स्थूलात्मदेहः सितः ॥ १० ॥" इति ।

( वसंततिलका )

मन्दोऽलसः कपिलदृक्कृशदीर्घगात्रः

स्थूलद्विजः परुषरोमकचोऽनिलात्मा ।

स्नाय्वस्थसृक्त्वगथ शुक्रवसा च मज्जा

मन्दार्कचन्द्रबुधशक्रसुरेज्यभौमाः ॥ ११ ॥

एवंगुणो मन्दः । अलसः मन्दोत्साहः मन्दस्वरूपमुच्यते । अलस इति परि-  
धमेण सह क्रोधपरश्चोक्तः । मन्द इति पिशुनश्चपलः अज्ञः रौद्रश्चोक्तः । कपिलदृक्  
कपिलनिम्नलोचनः । अथवा कपिलदृगिति कपिला कलुषिता स्थूला नखदन्तादयो  
यस्य अधोभागे परुषाणि रोमाणि बहूनि सन्तीति ज्ञानार्थमेवं मन्दस्वरूपमुक्तम् ।  
तथा च सारावल्याम्-

"पिंगो निम्नविलोचनः कृशतनुर्दीर्घः सिरालोलसः

कृष्णांगः पवनात्मकोऽतिपिशुनः स्नाय्वात्मको निर्धृणः ॥

मूर्खः स्थूलनखद्विजेतिमलिनो रूक्षो शुचिस्तामसो

रौद्रः क्रोधपरो जरापरिणतः कृष्णाम्बरो भास्करिः ॥" इति ।

अत्रात्पाकुश्चितमूर्धजः इत्यादिश्लोकाः इह स्वरूपप्रदर्शकाः । सारावलीगता ये  
मया लिखितास्तेपूक्तानि ग्रहवर्णगणधातुवस्त्राण्याचार्येणाप्युपदिष्टानि । रक्तश्याम  
इत्यादिना वर्णः । चन्द्रार्कजीवा इत्यादिना गुणाः स्नाय्वस्थीत्यादिना धातवः ।  
वर्णास्ताम्रत्यादिना वस्त्रवर्णविशेषाश्च कथिताः । अनेन ग्रहस्वरूपकथनेन प्रयोजनम् ।  
प्रश्नजातकादौ देहस्यभावकथनम् । तथा च कृष्णीये-

"अयं ग्रहा बलस्याश्रिन्ताकाले नृणां स्वमूर्तिसमाः ।

क्षुपदेहात्रियतं बहवस्तु समागता भिन्नम् ॥" इति ।

स्नाय्वस्थीति ग्रहाणां धातवः । बलवद्ग्रहधातुसारो जातः । रोगप्रश्ने तु दुष्ट-  
ग्रहधातुगतो रोगो भवति । अथवा रोगप्रदग्रहन्वांशकाधिपतिधातुरोगो भवति ॥ ११ ॥

( शार्दूलविक्रीडितम् )

देवास्त्र्यग्निविहारकोशशयनक्षित्युत्करेशाः क्रमाद्

वस्त्रं स्थूलमभुक्तमग्निकहतं मध्यं दृढं स्फाटितम् ।



ताम्रं स्यान्मणिहेमयुक्तिरजतान्यर्काच्च मुक्तायसी

द्रेष्काणैः शिशिरादयः शशुरुचज्ञग्वादिपृथस्तु वा ॥ १२ ॥

अर्कादारभ्य ग्रहाणां स्थानानि । देवशब्देन देवगृहं राजगृहं च सूच्यते । त्रित्युत्तरः  
पांसुत्तर उपस्फुरो वाक्तः । यत्र सर्वादीनां नष्टादीनां स्थानजिज्ञासा तत्र गृहवशा-  
त्स्थानकथनेयं विधिः । देवाम्बादेः समीपं वासगृहं वा स्वरूपं वा योग्यमूलम् ।  
वेष्टं स्थूलमित्यादि स्थूलं परुषमभुक्तमननुभूतम् । नवमाच्छिन्नमभिहतं दग्धं छिन्नं  
वाऽऽक्षितत्वात् कहतं मलिनं छिन्नं वा । तथा च कृष्णीये—

“मलिनच्छिन्नदृढादृढदग्धस्थूलाम्बुधातु नीर्णानि ।

सौम्येन्दुगुरुभुजङ्गमकुजार्कशिविभृगुसूर्याजानां स्युः ॥” इति ।

स्थूलशब्देन चर्म च सूचितम् । अभुक्तशब्देनाक्षलितदुकूलः वस्त्रादयो गृह्यन्ते ।  
अभिकहतमभिगतं ‘हन हिंसागत्योः’ इति गत्यर्थस्य निष्क्रान्तरूपं हतमित्युच्यते ।  
काष्ठादग्निर्जायते । कारणकार्याभिदोषचाराद्भूतत्वमित्यर्थः । कहतं जलवन्मृदु  
प्रवालजलसम्बन्धे हिंसितमिति वा । मध्यं कौशेयं, दृढं प्रसिद्धम् । कार्पासकृत-  
मम्बरम्, स्फाटितं—वल्कलमित्यर्थान्तरं सूचितम् । तथा च कृष्णीये—

“वल्कलमर्ककुजाभ्यां गुरुणा कौशेयामिन्दुजे शालम् ।

शशिना चं दुकूलपदं रविणा चर्माम्बरं भृगुणा ॥” इति ।

ताम्रं स्यादित्यादिताम्रशब्देन पाटलवर्णं पाषाणाद्यं च गृह्यते । अम्पानि  
द्रव्याणि च रवेस्तावत्सूर्यकान्तं आरकूटं वैदूर्यञ्च गृह्यते । चन्द्रस्य जलस्वरू-  
पत्वान्मुक्ताशङ्खस्फटिकार्कस्थप्रणुणि । तापेष्टकादि भौमस्य । मुक्तकादि बुधस्य ।  
रजतस्फटिकमुक्तादि शुक्रस्य । आरक्तमणिकनककाचादि चरुवतो बृहस्पतेः ।  
अञ्जनलोहेन्द्रनीलादि शनेरिध्यादि । सामान्यजलस्थस्य बृहस्पतेः रजतं शास्त्रा-  
न्तरादवगन्तव्यम् । आमेयग्रहयोः सूर्यभौमयोर्वर्गं भौमवीक्षितं चेद्दाम्यो धातुः ।  
जलस्वरूपयोश्चन्द्रशुक्रयोर्वर्गं चन्द्रशुक्रावीक्षितौ—चेद्दाम्योधातुरित्यनुक्तमपि पञ्च-  
भूतग्रहयोरभेदत्वाद्वह्यम् । ‘छाया महाभूतकृताञ्च सर्वं भिव्यञ्जयन्ति स्वदशा-  
मवाप्य’ इत्युक्तत्वादर्गास्ताप्रेत्यादिधातुना वर्णाश्रित्याः । द्रेष्काणैः शिशिरादयः  
इति शानिशुक्रराधिरचन्द्रज्ञगुरुमिराद्यक्षरोक्तैः रवैः शिशिरादि पडर्तवो ज्ञेयास्तेषां  
द्रेष्काणे वा तेषामुदयादित्यर्थः ॥ एषवृत्तपु ग्रहातुगुणो गणैरप्युन्नेयं शीतं हिमाधि-  
क्यात्तद्वतौ मन्दस्य दुःखकारकत्वेन दुःखकालः । शुक्रस्य मदनस्वरूपत्वात्तद्वतौ  
मदनोदयः । रुधिरस्यामेयत्वात्तद्वतौ तैक्ष्ण्यम् । चन्द्रस्य जलमयत्वात्तद्वतौ वर्षागमः ।  
इस्य वैमल्यात्तद्वतौ वैमल्यम् । गुरोः ज्ञानस्वरूपत्वात्तद्वतौ बुद्धिः सात्त्विकमित्यादि ।  
यो ग्रहो व्याधिप्रदो दुःस्थस्तद्वतौ तद्गोविक्त्ररः । इति ॥ १२ ॥

( प्रहर्षिणी )

त्रिदशत्रिकोणचतुरस्रसप्तमा-

न्यवलोकयन्ति चरणाभिवृद्धितः ।

रविजामरेज्यरुधिराः परे च ये

क्रमशो भवन्ति किल वीक्षणेऽधिकाः ॥ १३ ॥

चतुरस्रमध्यमा परे च, ते चरणाभिवृद्धितं अवलोकयन्ति ग्रहा इति सिद्धं भवति । तत्रायं विशेषः । रविजामरेज्यरुधिराः ये परे च ते वीक्षणेऽधिकाः । त्रिदशत्रिकोणयोश्चतुरस्रयोः सप्तमे च वीक्षणेऽधिकाः फलप्रदाः भवन्ति । समप्रफलदा भवन्तीत्यर्थः । अत्र न केवलं सप्तमे दृष्टे विनियोगः । अन्यस्थानानामपि पादार्धपादो-  
नदृष्टानामपि जन्मकाले निरूपणीयत्वमप्यमेव । तथा च सारावल्याम्-

“वृषे शशी लग्नगतः सुपर्णो बुधोऽपि पातालगतो यदि स्यात् ।

तदास्य जातो भवति क्षितीशः-॥” इति ।

अस्य योगस्य वृषस्थस्य शशिनः सुपर्णत्वे सूर्यस्य वृश्चिकस्थितिरेव संगच्छते । ततो बुधस्य सिंहस्थितिर्न घटते । इत्यसम्भाव्यत्वं विद्यते । इति चेदस्तु पूर्वशास्त्रानु-  
सारेण कृतोऽयं योगः । दृष्टिग्रामाप्याय पुनरपि योगान्तरमस्ति । तथा हि तत्रैव सारावल्याम्-

“एकः स्वोच्चेशुभः स्याच्छुभगनगः संस्थितो निर्मलाशुः

केन्द्रे भानुः प्रकटितबलः केवलं पूर्णवीर्यः ।

दृष्टः कुर्यादमरगुरुणा पञ्चमस्थेन जातं

भूमेर्नार्यं बहुगजयुतं सर्ववन्द्यं कृतार्थम् ॥” इति ।

किल शब्देन ग्रहदृष्टेरनिश्चितत्वं सूचितम्-सर्वप्रश्नजातकनिरूपणेऽवश्यं विचार्यत्वं सूचितम् । पञ्चसप्तदशकिरणा मन्दगतिबन्धभागवशशिसुतरविभौमजीवानामिति ग्रहाणामुक्तम् । रश्मिभिर्धौ पक्षान्तरमस्ति । विंशतिरष्टादशमनुषोडशकदशक-  
किरणाः स्युः सूर्यादीनां ज्ञेया इति । त्रिदशत्रिकोणचतुरस्रसप्तमान्सर्वे ग्रहाश्चरणा-  
भिवृद्धितः अवलोकयन्ति । ग्रहस्य स्वस्थानान्तर्तीये भावारम्भे पाददृष्टिः तस्मादयद्दिं प्राप्य तृतीयचतुर्थभावसन्धौ पादोनदृष्टिः शरिता भवति । पुनः द्वासं प्राप्य चतुर्थपञ्चमसन्धौ अर्द्धदृष्टिर्जायते सा च द्वासं प्राप्य पञ्चमषष्ठभावसन्धौ शून्या भवति । षष्ठारभ्य सप्तमभावसन्धौ पूर्णा भवति । पुनस्त-  
स्मादारभ्य द्वासेन सप्तमाष्टमभावसन्धौ पादोना जायते । तस्मादपि द्वासेन नवमा-  
दायर्द्धदृष्टिर्जायते । तस्मादपि नवमदशमादौ तथा पाददृष्टिर्जायते । श्लोकपूर्वार्द्धस्यै-  
वाभिप्रायः । अपरार्द्धस्य चतु रविजामरेज्यरुधिराः परे च क्रमशः वीक्षणेऽधिका-

स्तृतीयदशमयोः रविजोऽधिकस्त्रिकोणयोगेऽरुधिराधिकश्चतुरस्रयो रुधिरोऽधिक इत्यस्या-  
यमाभिप्रायः तृतीयदशमयोः रविजस्य दृष्टिराधिका स्यात्तृतीये तु भावादौ  
पूर्णदृष्टिः । भावान्ते ह्रासेन पादोना जायते । दशमे तु भावादौ षष्टिरन्त्ये  
शून्या दृष्टिर्भवति गुरोस्तु पञ्चमादौ तु पूर्णा दृष्टिरन्त्ये शून्या । नवमे तु  
भावादौ पूर्णा । भावह्रासवशात्पाददृष्टिर्भवति । रुधिरस्य चतुर्थे भावादौ  
पूर्णा दृष्टिः पुनर्ह्रासेन भावान्तेर्दृष्टिर्भवति अष्टमे तु भावादौ पूर्णदृष्टिः  
भूत्वा चतुर्थदृष्टिवद्भासेन नवमेऽर्द्धा भवति । उपरितनभावदृष्ट्यनुगुणेन दृष्टेर्ह्रास-  
बुद्धी कल्प्याविति । अत्र द्वादशैकादशल्लमेषु वराहमिहिराचार्येण ग्रहदृष्टिर्नोक्ता  
तेष्वप्यस्तीति केचिद्वदन्ति । तथा च यवनेश्वरः—

“पादाद्धश्च तदर्द्धश्च पूर्णमाये व्यये तनौ ॥ ” इति ।

अत्र लमे ग्रहस्थितभाषसमांशके पूर्णदृष्टिः । व्यये षोडशांशदृष्टिरेकादशेऽष्टमांश-  
दृष्टिर्व्ययायल्लमेषु ग्रहदृष्टिः शीपतिना—विना कृताधिकं पश्यति न ग्रहेन्द्र इत्युक्तत्वा-  
त्तथा दृष्ट्यानयनक्रिया पराशरमुनिराह—

“दृष्ट्याद्विशोध्य दृष्टारं षड्राशिभ्योऽधिके भजेत् ।

द्वाभ्यो विशोध्य द्वाभ्यां तु भागीकृत्य च दृष्टयः ॥

शराधिके विना राशिं भागाद्विनाश्च दृष्टयः ।

वेदाधिके त्यजेद्भूत्वा भागा दृष्टिस्त्रिभाधिके ॥

विशोद्धचार्षवतो द्वाभ्यां लब्धा त्रिंशद्युता भवेत् ।

कराधिके विना राशिं भागाश्च तिथिसंयुताः ॥

करादूने विना राशिं भागा द्वाभ्यां विभाजिताः ।

त्रिदशे च त्रिकोणे तु तुर्याब्दे च क्रमादिह ॥

शरवेदाः खरामाश्च तिथयो योजिताः क्रमात् ।

शनिदेवेज्यभूजानां क्रमादादौ भवन्ति हि ॥ ” इति ।

अत्रापि स्पष्टतरः श्रीधरपद्धत्यामुक्तो दृष्ट्यानयनप्रकारः सोत्रोच्यते ॥

“दृष्ट्याद्विशोध्य दृष्टारं ग्रहं भावादथापि वा ।

रूपात्यक्ताः करघ्नाः स्युर्भागा रूपाधिके सति ॥

विना राशिं करात्तं द्वौ राशी चेत्तिथिसंख्यकाः ।

कराधिके विना राशिं भागास्तिथियुताः क्रमात् ॥

विना किमाकैः षष्टिः सागरसंख्येऽधिके करौ ।

हित्वा विभक्तिर्हीना सा षष्टिर्दृष्टिर्भवेदथ ॥

त्रिराशयश्चेत्तद्भागा भक्ता द्वाभ्यां च दृष्टयः ।

राशित्रयाधिक राशिं भागीकृत्य कर्त्ताकृतात् ॥

( प्रहर्षिणी )

त्रिदशत्रिकोणचतुरस्रसप्तमा-

न्यवलोकयन्ति चरणाभिवृद्धितः ।

रविजामरेज्यरुधिराः परे च ये

क्रमशो भवन्ति किल वीक्षणेऽधिकाः ॥ १३ ॥

चतुरस्रमध्यमा परे च ते चरणाभिवृद्धितं अवलोकयन्ति ग्रहा इति सिद्धं भवति । तत्रायं विशेषः । रविजामरेज्यरुधिराः ये परे च तेः वीक्षणेऽधिकाः । त्रिदशत्रिकोणयोश्चतुरस्रयोः सप्तमे च वीक्षणेऽधिकाः फलप्रदाः भवन्ति । समग्रफलदा भवन्तीत्यर्थः । अत्र न केवलं सप्तमे दृष्टे विनियोगः । अन्यस्थानामपि पादार्धपादो-  
नदृष्टानामपि जन्मकालं निरूपणीयत्वमप्यमेव । तथा च सारावल्याम्-

“वृषे शशी लग्नगतः सुपूणो बुधोऽपि पातालगतो यदि स्यात् ।

तदास्य जातो भवति क्षितीशः-॥” इति ।

अस्य योगस्य वृषस्थस्य शशिनः सुपूणत्वे सूर्यस्य वृश्चिकस्थितिरेव संगच्छते । ततो बुधस्य सिंहस्थितिर्न घटते । इत्यसम्भाव्यत्वं विद्यते । इति चेदस्तु पृथ्वीसाक्षानु-  
सारेण कृतोऽयं योगः । दृष्टिग्रामाप्याय पुनरपि योगान्तरमस्ति । तथा हि तत्रैव सारावल्याम्-

“एकः स्वोद्येशुभः स्याच्छुभगनगः संस्थितो निर्मलांशुः

केन्द्रे भानुः प्रकटितमलः केवलं पूर्णवैर्यः ।

दृष्टः कुर्यादमरगुरुणा पञ्चमस्थेन जातं

भूमेनार्थं बहुगजयुतं सर्ववन्द्यं कृतार्थम् ॥” इति ।

किल शब्देन ग्रहदृष्टेरनिश्चितत्वं सूचितम्-सर्वप्रदज्ञातकनिरूपणेऽप्ययं विचार्यत्वं सूचितम् । पञ्चसप्तदशकिरणा मन्दगतिचन्द्रभार्गवशशिसुतरविभौमजीवानामिति ग्रहाणामुक्तम् । रश्मिविधौ पक्षान्तरमस्ति । विंशतिरष्टादशमनुषोडशकदशक-  
किरणाः स्युः सूर्यादीनां ज्ञेया इति । त्रिदशत्रिकोणचतुरस्रसप्तमान्सर्वे ग्रहाश्चरणा-  
भिवृद्धितः अवलोकयन्ति । ग्रहस्य स्वस्थानान्तृतीये भावारम्भे पाददृष्टिः  
तस्मादवृद्धिं प्राप्य तृतीयचतुर्थभावसन्धौ पादोऽनदृष्टिः पुरिता भवति ।  
पुनः ह्रासं प्राप्य चतुर्थपञ्चमसन्धौ अर्द्धदृष्टिर्जायते सा च ह्रासं प्राप्य  
पञ्चमषष्ठभावसन्धौ शून्या भवति । षष्ठारभ्य सप्तमभावसन्धौ पूर्णा भवति । पुनस्त-  
स्मादारभ्य ह्रासेन सप्तमाष्टमभावसन्धौ पादोऽना जायते । तस्मादपि ह्रासेन नवमा-  
दावर्द्धदृष्टिर्जायते । तस्मादपि नवमदशमादौ तथा पाददृष्टिर्जायते । श्लोकपूर्वार्द्धस्यै-  
वाभिप्रायः । अपरार्द्धस्य चतुररविजामरेज्यरुधिराः परे च क्रमशः वीक्षणेऽधिका-

स्तृतीयदशमयोः रविजोऽधिकस्त्रिकोणयोर्गुराधिकश्चतुरस्रयो रविरोऽधिक इत्यस्या-  
यमाभिप्रायः तृतीयदशमयोः रविजस्य दृष्टिरधिका स्यात्तृतीये तु भावादौ  
पूर्णदृष्टिः । भावान्ते ह्रासेन पादोना जायते । दशमे तु भावादौ षष्टिरन्त्ये  
शून्या दृष्टिर्भवति गुरोस्तु पञ्चमादौ तु पूर्णा दृष्टिरन्त्ये शून्या । नवमे तु  
भावादौ पूर्णा । भावद्वासवशात्पाददृष्टिर्भवति । रुधिरस्य चतुर्थे भावादौ  
पूर्णा दृष्टिः पुनर्ह्रासेन भावान्तेर्दृष्टिर्भवति अष्टमे तु भावादौ पूर्णदृष्टिः  
भूत्वा चतुर्थदृष्टिवद्भासेन नवमेऽर्द्धा भवति । उपरितनभावदृष्ट्यनुगुणेन दृष्टेर्द्वांस-  
वृद्धी कल्प्याविति । अत्र द्वादशैकादशलमेषु वराहमिहिराचार्येण ग्रहदृष्टिर्नोक्ता  
तेष्वप्यस्तीति केचिद्वदन्ति । तथा च यवनेश्वरः—

“पादार्द्धं च तदर्द्धं च पूर्णमाये व्यये तनौ ॥ ” इति ।

अत्र लमेग्रहस्थितभावसमांशके पूर्णदृष्टिः । व्यये षोडशांशदृष्टिरेकादशेऽष्टमांश-  
दृष्टिर्व्यापयलमेपु ग्रहदृष्टिः श्रीपतिना—विना कृताधिकं पश्यति न ग्रहेन्द्र इत्युक्तत्वा-  
त्तथा दृष्ट्यानयनक्रियां पराशरमुनिराह—

“दृष्ट्याद्विशोध्य दृष्टारं षड्राशिभ्योऽधिके भजेत् ।

दृग्भ्यो विशोध्य द्वाभ्यां तु भागीकृत्य च दृष्टयः ॥

कराधिके विना राशिं भागाद्विनाश्च दृष्टयः ।

वेदाधिके त्यजेद्भूत्वा भागा दृष्टिस्त्रिभाधिके ॥

विशोद्धचार्षवतो द्वाभ्यां लब्धा त्रिंशद्युता भवेत् ।

कराधिके विना राशिं भागाश्च त्रिषिंसयुताः ॥

करादूने विना राशिं भागा द्वाभ्यां विभाजिताः ।

त्रिदशे च त्रिकोणे तु तुर्यान्दे च क्रमादिह ॥

शरवेद्राः स्रगामाश्च त्रिययो योजिताः क्रमात् ।

शनिदेवेज्यभूजानां क्रमादादौ भवन्ति हि ॥ ” इति ।

अत्रापि स्पष्टतरः श्रीधरपद्धत्यामुक्तो दृष्ट्यानयनमकारः सोत्रोच्यते ॥

“दृष्ट्याद्विशोध्य दृष्टारं ग्रहं भावादयापि वा ।

रूपास्यक्ताः करघ्नाः स्युर्भागा रूपाधिके सति ॥

विना राशिं करात्तं द्वौ राशी चेत्त्रिषिंसखकाः ।

कराधिके विना राशिं भागास्त्रिषिंसयुताः क्रमात् ॥

विनार्किमार्कैः षष्टिः सागरसंख्येऽधिके करौ ।

हित्वा विभक्तिर्हीना सा षष्टिर्दृष्टिर्भवेदथ ॥

त्रिराशयश्चेत्तद्भागा भक्ता द्वाभ्यां च दृष्टयः ।

राशित्रयाधिके राशिं भागीकृत्य कर्त्ताक्रतात् ॥

भागाद् वर्जयेद्भौमं विना तस्याधिके सति ।  
 पष्टिस्तदधिकेक्षाश्च वर्जयेत्पष्टितो भवेत् ॥  
 वेदसंख्ये गुरोः पष्टिरन्येषां त्रिंशदेव च ।  
 वेदाधिक्ये त्यजेद्भूतादन्येषामंशकादगुरोः ॥  
 द्विघ्नाश्च राशेर्नास्त्येव दृष्टिः पञ्चाधिके तथा ।  
 राशिं विनांशा द्विघ्नाः स्युः पङ्के पष्टिदशः स्मृताः ॥  
 दिग्भ्यस्तदधिके शोद्ध्या द्वाभ्यां लब्धाश्च दृष्टयः ।  
 भौमस्य सप्त चेत् पष्टिरधिके भागवर्जिताः ॥  
 अष्टौ यदा गुरोः पष्टिरधिकेक्षास्त्रिसंयुताः ।  
 द्वाभ्यां लब्धोनिताः पष्टिः शनेः पष्टिः शुभाः स्मृताः ॥  
 अधिकेक्षाः करघ्नाः स्युः शोभ्या दृष्टिश्च पष्टिके ।  
 त्रिंशाक्षयोः दूरयते ० ..... ॥  
 राशीनां दश हे न स्याच्चक्रात्तदधिके सति ।  
 विशोद्ध्याद्दि विभक्ताश्च भागा नव च दृष्टयः ॥  
 एकादशाधिके चक्राद्विशोद्ध्याष्टविभाजितम् ।” इति ।

अत्र त्रिदशादिस्थानेषु ग्रहाणां या दृष्टिरुदिता सा दृष्टिर्मुहूर्तादौ न गृह्यते ।  
 तत्र सप्तमदृष्टिरेव गृह्यते । अत्र निरूपितया ग्रहदृष्ट्या कालान्तरेण नष्टादिद्रव्य-  
 निर्णयः क्रियते । ग्रहदृष्टिसमानरश्मिसंख्यातुल्यादिद्रव्यसंख्येति । रश्मिसंख्याः  
 शास्त्रान्तरादवगन्तव्याः । तथा च कृष्णीये—

“चतुरेकविंशोऽष्टदशसंख्याः पंचसप्तदशकिरणाः ।  
 मन्दगतिचन्द्रभार्गवशशिसुतगविर्भौमानाम् ॥ १” इति ।  
 “लघ्रात्पञ्चकलत्रेभ्यो भुभपतिप्राप्तेऽथवालोकिते  
 चन्द्राद्वा यदि सम्प्रदास्ति हि तयोर्ज्ञेयोऽन्यथासंभवः ॥ १”

इत्यत्र दृष्ट्यानयनं कर्तव्यम्—‘दृष्ट्यां समानं प्रवदेच्च संख्याम्’ इत्यत्रापि  
 दृष्टिसंख्या नेतव्या । अत्रोक्तानां रश्मीनां ग्रहाणां चारवशादधिककिरणाः स्युरूना-  
 धिकत्वमस्ति । मित्रग्रहं पादसंख्या ३३ गृहे च पादोनसंख्या । उच्च सम्पूर्णसंख्या ।  
 त्रिकोणं ३३ संख्या रश्मयः । नीचराशौ विफलाः । शत्रुक्षेत्रे स्वल्पफलाः । ग्रहनिहत  
 ग्रहतिरस्कृता, ग्रहापसव्यगताश्चाफलाः । तथा च कृष्णीये—

“मित्रस्योच्चर्क्षगताः त्रिकोणमहिता ग्रहाः फलं ददुः ।  
 पादं पादोनसंपूर्णं फलं तथाहं च ॥

नीचर्क्षगताः विफलाः रिपुभर्वनगता भवन्ति चाल्पफलाः ।

निहता ग्रहेण हीनांशवोपसव्येन संयुक्ताः ॥ ११ ॥

ग्रहदर्शने बलवतादानीतरश्मिरनुक्रमेण दृष्टिवशाच्चतुर्विभज्य वा द्वाभ्यां विभज्य वैकैकेन विभज्य वा पाददृष्टौ पादोनेदृष्टावर्द्धदृष्टौ सप्तमदृष्टौ च क्रमेण फलं लब्धं च ग्राह्यम् । तन्नष्टदृष्ट्यादिसंख्यामानम् इति उत्तरत्र वक्ष्यति च—

“उच्चत्रिकोणस्वसुहृच्छत्रुनीचगृहार्कगैः ।

शुभसंपूर्णपादोनदलपादाल्पनिष्फलम् ॥” इति ।

अपिचानेन श्लोकेन ग्रहाणां कक्षाक्रमं कालहोराधिपत्यं च सूचयति । सर्वेषामुपरि नक्षत्राणि, तदर्थः शनैश्चरस्तदयो गुरुस्तदयो भीमस्तदयो रविस्तदयो शुक्रस्तदयो बुधस्तदयश्चन्द्रः । तदुक्तम्—

“रविजामरेज्यरुधिराः परे च ये क्रमशो भवन्ति किल वीक्षणेऽधिकाः ॥ १२ ॥

(आर्या)

अपनक्षणावासरतवो मासाऽर्द्धं च समाश्च भास्करात् ।

कटुकलवणातिक्तमिश्रिता मधुराम्लौ च कषाय इत्यपि ॥ १३ ॥

स लघोदितशिशुगणितैः कार्य— । माणम् । अन्ये-  
ऽन्यथा कालं निर्णयन्ति । येन । य कालोपनादिकः  
स्वावस्थितराशौ स्वभुक्तनवांशकिं गुणिता पृष्टफललब्धे काल इति । तथाच कृष्णीये—

“क्षणेदिवसपक्षमासस्त्वयनाब्दातां नवांशैर्वाच्यम् ।

शशिभीमशुक्रसुरगुरुबुधरविसौरैः क्रमाद्भुक्तः ॥” इति ।

अनेन श्लोकेन गर्भकालोपि सूचितः । रसुराचितकालो नाडिकादितयं षोडश-  
दिवसे नव-प्रव-गर्भकालः ।

कटुकेत्यादि—सूर्यादारभ्य ग्रहाणां रसाः । जन्मकाले केन्द्रगतग्रहरसाभिरचितं  
भोजनप्रश्नादाकूटवशाद्वा केन्द्रगतैर्ग्रहेर्वा पृष्टस्थानेन वा पट्टसाश्रित्याः । बद्ध्या-  
कूटयोर्वलवति नाशो योजे रूक्षमत्रं युग्मे सौम्यं जलराशौ च क्रूरसौम्येत्युक्तत्वाज-  
लराशौ जलग्रहदृष्टियोगे चार्चनम् । तथा चोक्तम्—

“शुभोदये भवेन्मिष्ट भाजनं जीविनाश्रयम् ।

शुभराशुदये तद्वदार्द्रं युग्मजलर्क्षयोः ॥

पापोदये क्रूरलघे रूक्षमत्युष्णकारकम् ॥” इति ।

भीमस्यारिविभर्देत्यादिश्लोके एकाधिपत्यं त्युक्तम् । भीमस्य त  
म्बन्धे ‘माहिपं दधिरित्यादि’ । चन्द्रसम्बन्धे ‘शुशीरविकारादि’ चिन्त्यमित्या-  
द्युक्तम् । ‘निगदितमिह चिन्त्यं सूतिकालेपि २, या’ इत्युक्तत्वात्सर्वत्र देशजाति-

काला निरूपणीयाः । चतुष्पादाशौ वा वाच्यम् । 'अन्तःसारान्' इत्यादिनोपदेशा-  
दिभेदाश्रित्याः । ते चरागदिदेहा इत्युक्तविधिना आसन्नस्य चरादित्वं चिन्त्यम् ।  
जीर्णं संस्कृतमित्यादिना ग्रहविशेषाश्रित्याः । इत्यादिना राशिप्लववेशेन च भोक्तुः  
प्रागाद्यभिसुखत्वमूह्यम् ।

"मधुराम्लौ" इति समासद्वयोर्गुरुशुक्रयोः मधुराम्लसम्बन्धोऽभिप्रेतः ॥ १४ ॥

(शार्दूलविक्रीडितम्)

जीवो जीवदुधौ सितेन्दुतनयौ व्यर्का विभौमाः क्रमा-

द्बीद्वर्का विकुजेन्द्रिनाश्च सुहृदः केषांचिदेवं मतम् ।

सत्योक्ते सुहृदस्त्रिकोणभवनात्स्वात्स्वांत्यधीधर्मपाः

स्वोच्चायुःसुखपाः स्वलक्षणविधेर्नान्यैर्विरोधादिति ॥ १५ ॥

केषांचिदिति यवनेश्वरादीनामित्यर्थः । सत्योक्तेरिति सत्यमतः प्रश्नादौ कोचित्  
यवनमतेन नैसर्गिकबन्धुभावमंगीकृत्य सत्यमतेन तत्कालबन्धुभावं परिकल्पयन्ति ।  
पक्षे स्वान्त्यादिस्थानानामपि पतयो न गृह्यन्ते । तेषु स्थिता गृह्यन्ते । एतदुक्तं  
भवति । यस्य ग्रहस्य यस्त्रिकोणराशिस्तस्य ग्रहस्य तस्मात्त्रिकोणः स्वान्त्यादिस्था-  
नगतास्तत्कालबन्धवो भवन्ति । अस्पस्थानगताः शत्रवो भवन्ति । तथाच कृष्णीये-

"मलत्रिकोणभवनाच्चतुर्थपंचमधनव्यपाष्टमगाः ।

स्वोच्चे धर्मे च गताः ग्रहास्तु तात्कालिकाः सुहृदः ॥" इति ।

जातकेषु सत्यमतेन नैसर्गिकबन्धुत्वं परिकल्प्यान्प्राप्त्यस्येति वक्ष्यमाण-  
विधिना तत्कालबन्धुत्वं परिकल्पयन्त्येके । अन्ये तु यवनमतेन बन्धुशत्रुभावं  
मूलत्रिकोणभवनादित्यादिविधिना तत्कालबन्धुत्वं परिकल्प्य प्रभजातकादिफलं  
निरूपयन्ति । ॥ १६ ॥

(शार्दूलविक्रीडितम्)

शत्रू मंदसितौ समश्च शशिजो मित्राणि शेपा रवे-

स्तीक्ष्णांशुर्हिमरदिमजश्च सुहृदौ शेपाः समाः शीतगोः ।

जीवेन्दूष्णकराः कुजस्य सुहृदो ज्ञोऽरिः सितार्की समो

मित्रे सूर्यसितौ बुधस्य हिमगुः शत्रुः समाश्वापर ॥ १६ ॥

(शार्दूलविक्रीडितम्)

सूरः सौम्यसितावरी रविसुतो मध्योऽपरे त्वन्यथा

सौम्यार्की सुहृदौ समो कुजगुरुः शुक्रस्य शेपावरी ।



शुक्रज्ञौ सुहृदौ समः सुरगुरुः सौरस्य चान्येऽरयो

ये प्रोक्ताः स्वत्रिकोणभादिषु पुनस्तेऽप्यौ मया कीर्तिताः ॥ १७ ॥

शत्रू मन्दसितौ इत्यादिश्लोकद्वयं स्पष्टार्थम् ॥ १६ ॥ १७ ॥

( शार्दूलविक्रीडितम् )

अन्योन्यस्य धनव्ययायसहजव्यापारबंधुस्थिता-

स्तत्काले सुहृदः स्वतुंगभवनेऽप्येकेऽरयस्त्वन्यथा ।

द्वेकानुक्तभपान्सुहृत्समारिपून्सश्चिन्त्य नैसर्गिकां-

स्तत्काले च पुनस्तु तानधिसुहृन्मित्रादिभिः कल्पयेत् ॥ १८ ॥

अन्योन्यस्य धनव्ययादिगतः तत्काले सुहृदः । धनव्ययादिव्यतिरिक्तस्यानग-  
तास्तत्कालशत्रवः । द्वेकानुक्तभपानित्यादि । तस्य श्लोकस्यापराद्धस्यायमर्थः ।  
सत्योक्ते सुहृद इति । द्वेकानुक्तभपान्सुहृत्समारिपून्सैर्गिकान्साश्चिन्त्य तत्कालेन जातै-  
रिति । सुहृन्मित्रादिभिरुपलक्षितास्तां कल्पयेत् । अस्मिन् श्लोके किंचिदर्थान्तरमपि  
सूचितम् । लभेष्टादनव्ययादिस्थानेषु यद्वावाधिपस्थितस्तद्भावसंमृद्धिः पित्रादिका-  
रका भवन्तः । शुभदृष्टलभेष्टादुक्तस्थानेषु यताश्चेतेषु पित्रादयोऽतिमुहदो भवन्ति ।  
तद्वावाधिप धनव्ययादिस्थानगताः स्थानवलं पित्रादिकारकाश्चेत्पित्रादयोऽतिमुहदो  
भवन्ति ॥ १८ ॥

( दोषकम् )

स्वोच्चसुहृत्स्वत्रिकोणनवांशैः

स्थानवलं स्वगृहोपगतैश्च ।

दिक्षु बुधांगिरसो रविभौमौ

सूर्यसुतः सितशीतकरौ च ॥ १९ ॥

अयं बलावलमाह-

इति चतुष्पकारं बलमुच्यते । स्थानवलं, दिग्बलं, चेष्टावलं, कालवलं चेति ।  
अस्य श्लोकस्य पूर्वाद्धेन स्थानवलमपराद्धेन दिग्बलमुच्यते । स्वोच्चे सुहृदगृहे स्वद्रे-  
ष्काणे स्वनवांशे च स्थितो ग्रहः स्थानवलयुक्तो भवति । स्वगृहोपगतैश्च स्थानवलं  
भवति । स्वगृहस्थितस्थानवलयुक्तश्च भवतीत्यर्थः । अत्र चतुर्षु ग्रहेषु स्थानवलस्य  
प्राधान्यमस्ति । चन्द्रस्य तु पक्षबलस्य प्राधान्यम् । तथा चोक्तम्-

( "पक्षोद्भवं हिमकरस्य विशिष्टमाहुः" )

( स्थानोद्भवं तु बलमभ्यधिकं परेषाम् । )

तत्संप्रयुक्तमितरैराधिकाधिकं स्या-

दन्यानि तेन सदृशानि बहूनि चेत्स्युः ॥

सुहृदरिपरकीयः स्वर्क्षतुङ्गस्थितानां

फलमनुपरिचिन्त्यं लभदेहादिभावैः ।" इति ।

वक्ष्यति तेनापि स्थानबलप्राधान्यमूहम् । चन्द्रस्य पक्षबलप्राधान्यं तु विपुलकरा इति । चेष्टाबलकथने 'बहुलसितगताः स्युः क्रूरसौम्याः क्रमेण' इति कालबलकथने चन्द्रस्य पक्षबलस्यान्तर्भावात्कथितः । ननु तदन्तर्भावसामान्यं एव तस्मात्कथं प्राधान्यं व्यज्यते, उच्यते—'शरुबुगुशुचराद्या वृद्धितो वीर्यवन्तः' इति निसर्गबलकथने मण्डलवृद्धिरप्युक्ता तेन चन्द्रस्य ताराग्रहेभ्यो मण्डलवृद्धिरस्त्विति सिद्ध्यति । बहुलपक्षे तु मण्डलस्य क्षीयमाणत्वात्प्रत्यक्षतौपि बलहानेः सिद्धत्वे कथमुपदेष्टव्यमिति नोक्तम् । स्वगृहोपगतैरित्यत्र स्त्रीराशौ स्त्रीग्रहौ पुरुषराशावोजराशौ बलवन्त इत्युक्तं भवति । स्वगृहोपगतैश्चात्र गतशब्देन राशिगतशब्देन राशिगतवशादग्रहाणां बलभेदोऽस्तीति ज्ञापितम् । आद्यद्वेष्काणे स्त्रीग्रहस्य बलम् । मध्यद्वेष्काणे नपुंसकस्य बलम् । अन्त्यद्वेष्काणे पुरुषस्य बलम् । तथा च सारावल्याम्—

"स्त्रीपुंनपुंसकाख्यां क्षेत्रेष्वान्तमध्यसंप्राप्ताम् ।"

स्वत्रिकोणनवांशैरिति स्थाने 'स्वद्वेष्काणनवांशैः' इति पाठः । अत्र 'स्योच्चसुहृत्स्वद्वेष्काणनवांशैः' इत्यत्र त्रिकोणगृहं कस्मान्नोक्तमुच्चग्रहयोस्त्रिकोणगृहस्यान्तर्भावाद्बुच्चत्रिकोणस्वसुहृदित्यत्र त्रिकोणगृहं वक्ष्यति । उच्चादिराशिषु ग्रहबलस्य बलसाम्यं न भवति उच्चेतिबलम् । तस्मान्न्यूनं त्रिकोणे । तस्मान्न्यूनं स्वगृहे । तस्मान्न्यूनमतिसुहृद्गृहे । तस्मान्न्यूनं सुहृद्गृहे । तस्मान्न्यूनं समगृहे । तस्मान्न्यूनमतिरिपुगृहे । तस्मान्न्यूनमतिरिपुगृहे । नीचराशौ फलशून्यं भवति । इति नवप्रकारं स्थानबलम् । तथा च श्रीपतिपद्धतौ—बलवशाच्छुभफलमुच्यते ।

"स्योच्चैरूपं चरणरहितं स्वत्रिकोणे स्वभेदं

नागांशानां त्रयमतिमुहद्वेहगे मित्रभेदोऽग्निः ॥

अंशोष्टानां समग्रहगते भूपभागोऽग्निरेहे

दन्तांशः स्यादतिरिपुभवने नीचभे शून्यमेव ॥" इति ।

ननुचक्षेत्रयोरैकमेव त्रिकोणगृहे भवति । तस्मात्कथं त्रिकोणगृहे फलविशेषोऽवगम्यते, उच्यते—उच्चत्रिकोणयोर्विभागोऽस्ति तदाचार्येण नोक्तम्— तथा च सारावल्याम् ।

"विंशतिरंशाः सिंहे त्रिकोणमपरं प्रप भवनमर्कस्य"

किमेतदाचार्यस्याभिप्रेतमभिप्रेतमेवोत्तरत्र कारकाध्याये स्वर्क्षतुङ्गमूलत्रिकोणगा  
इति ।

“उच्चत्रिकोणस्वसुहृच्छत्रुनीचगृहाङ्गैः ।

शुभसम्पूर्णपादेनदलपादात्पनिष्कलम् ॥” इति ।

अथ दिग्बलमुच्यते ।

‘दिक्षु बुधागिरसौ’ इति दिक्शब्देन लग्नदशमसप्तमचतुर्थराशयः उच्यन्ते । तेषु  
यथाक्रममेकैकपादोक्ताः ‘बुधाङ्गिरसौ’ इत्यादयो बलवन्तस्तथा च सारात्रल्याम्-

“लमे जीवबुधौ दिवाकरकुजौ ध्योम्यस्तगो भास्कर-

धन्वाविन्दुसितौ दिशाकृतमिदं स्वोच्चत्रिकोणे ग्रहे ।

मित्रस्वाशकसंस्थितः शुभग्रहैर्दृष्टो बलीयान ग्रहः

क्षीनेत्रे शशिभार्गवौ नरगृहे शेषा बले स्थानजे ॥” इति ।

एकस्मिन् श्लोके पूर्वाद्धेन स्थानबलमपराद्धेन दिग्बलं वोच्यते तत्र पूर्वाद्धे स्वोच्च-  
सुहृदित्यादीं प्रथमाविभक्तेर्विशेषणपदं बलयुता इत्यादि तस्माद्गृह्यते उच्यते ।  
उत्तरश्लोके ‘चेष्टितवीर्ययुतौ’ इति वक्ष्यति तस्माद्वीर्ययुतावित्याकृष्य सम्बध्यते ।  
अस्तु तर्हि किमर्थमस्मिन्श्लोके बलशब्देन सह हेतुतृतीयायुक्तैः तत्स्थानबलप्राधान्या-  
र्थमिति विद्धि बलं भवतीति । भवनक्रियायां कर्तृभूतो बलशब्दः इति प्राधान्यम् ।  
चेष्टितवीर्ययुतावित्यत्र वीर्यशब्दस्य गुणत्वमिति विशेषः । अन्यच्च दिग्बलस्य चेष्टा-  
बलेन सादृश्यम् इति ॥ १९ ॥

( संकलिः )

उदगयने रविशीतमयूखौ

वक्रसमागमगाः परिशेषाः ।

विपुलकरा युधि चोत्तरसंस्था-

श्रेष्ठितवीर्ययुताः परिकल्प्याः ॥ २० ॥

अथ चेष्टाबलमुच्यते ।

उत्तरमार्गेण गच्छन्तो बलवन्तो चेष्टाबलयुक्ताउत्तरायणे मृगादिमासपदे इति  
कोचित् । तत्सूर्यस्य युक्तं न चन्द्राय घटते । चेष्टाबलत्वाच्चन्द्रस्यापि रवेरुत्तरायणे  
बलमिति विवक्षा चेत्तत्कालबलं स्यात्तस्मात्ततो मार्गेण गतिरुदगयनमित्युक्तम् ।  
चन्द्रस्य चेष्टाबलं सितपक्षे तत्र नोक्तम् । कालबलान्तर्भावात् । वक्रसमागमगाः  
पारिशेषाः इति वक्रगाः विलोमगतयः समागमगाः चन्द्रसहिताः विपुलकराः  
विस्तीर्णरश्मयः युधि चोत्तरसंस्थाः युद्धे उत्तरमार्गेगताः चक्षुर्देन विपुलकरत्वादि ।

दक्षिणदिक् तस्यापि विजायित्वमस्ति । एतच्छुक्रस्य संभवतीति । एतैश्चेष्टार्थेषुता,  
विपुलकरा इत्यत्रोच्चनीचवशाद्दृश्यमानमस्ति तच्च गृह्यते । विपुलकराः चद्वारमय  
इत्युक्तास्तदानयनं सारावत्पाम् उक्तम् । तच्चान्न लिख्यते-

“स्वोच्चस्थे दश सूर्ये नव चन्द्रे सप्त भूमितनये च ।

पञ्चेन्दुजे तथेज्ये सप्ताष्टौ भार्गवे च शनेः ॥ ”

पंच एव महेन्द्रशास्त्रे मणित्ययवनेन्द्रवादरायणप्रोक्ते सप्त प्रत्येकस्थानानिर्दिष्टा  
रश्मयो ग्रहेन्द्राणामभिमुखरश्मिर्नीचाद्ग्रहः स्वोच्चात्पराद्मुखो ज्ञेयः । अन्तर्गतेऽ-  
नुपातो यथा तथा संभवस्यामि । “नीचविहीनश्चक्राच्छुद्धं षड्भावतो यदान्याधिकः ।  
आत्मीयरश्मिगुणिताः षड्भक्ताः रश्मयः स्युः” इति । हरणगुणने ॥ कर्तव्ये तदा  
तदपि शास्त्रान्तरे कथितम् । मूढानां रश्मयो नेष्टदलम् । शुक्रार्कपुत्रयोः ।  
शुद्धनीचद्वादशांशगतः षोडशभागहृद्यो ग्रहो वकनिर्मुक्तः सोष्टमांशं हरति । अथ-

“क्षेत्रोच्चद्वादशांशस्थे ग्रहे रश्मिश्चतुर्गुणः ।

मिश्रद्वादशभागस्थे द्विग्नो वक्रार्कमे तथा ॥

सुकृती यस्य जनने रश्मिः पंचदशाधिकः ।

संश्लेष्यं यस्य जनने रश्मिः पंचदशाधिकः ॥

रश्मीनां षाषदाधिक्यं तावत्सुकृतिनो जनाः । ”

इति चेष्टावलम् ॥ २० ॥

( मालिनी )

निशि शशिकुजसौराः सर्वदा शोऽहि चान्ये

बहुलसितगताः स्युः क्रूरसौम्याः क्रमेण ।

द्वयनदिवसहोरामासपैः कालवीर्यं

शरुचुगुशुचराया वृद्धितो वीर्यवन्तः ॥ २१ ॥

इति श्रीमदाबन्तिकाचार्यद्विजवराहमिहिरकृतं बृहज्जातके

ग्रहयोनिप्रभेदाध्यायो द्वितीयः ॥ २ ॥

अथ कालबलमुच्यते ।

शशिकुजसौराः निशि बलिनः । बुधो निशि दिवा च बलवान् । रविशुक्रनी  
आहि वीर्ययुताः । इति पूर्वश्लोकादाकृष्य संवध्यते । बहुलसितगताः । कृष्णपक्षगः  
क्रूरसौम्याश्च क्रमेण बलयुताः । क्रमशब्दोऽत्र क्रूरसौम्यकृष्णशुक्रपक्षविषयः ।  
अथवा कृष्णपक्षे प्रतिपदातिथीषु क्रूराः क्रमेण बलवन्तः शुक्रपक्षे सौम्याश्च  
तददिति सूचितम् । स्वदिवससमहोरामासपैः कालवीर्यम् इति पाठान्तरमस्यार्थः ।

स्वदिवसः स्ववासरः । स्वसमः स्वसंवत्सरः । स्वहोरा स्वमासश्चेतिः ग्रहाणां कालवीर्यं भवति । एतेषु यदल्पकालस्तस्मिन्काले बलाधिक्यम् । ततः क्रमेण कालाधिकेषु बलस्य न्यूनत्वं चाभिप्रेतम् । कालहोरायां यत्कालबलं ततो न्यूनं स्वदिवसे । ततो न्यूनं स्वमासे । ततो न्यूनं स्वसंवत्सरे । कालबलमिति । तथा च श्रीपतिपद्धतौ—

“पादं स्ववर्षं तदर्धं स्वमासे दिने स्वकीये चरणोनरूपम् ।

रूपं स्वहोरास्थितिकालवीर्यमुक्ता हि होरा निपुणैः पुराणैः ॥”

बलचतुष्टयमुपादिष्टम् । अनुपादिष्टमयनबलमुपादिष्टमाचार्येण गूढत्वान्न विज्ञायते । इति वा सर्वथा शास्त्रांतरादवगम्य लिख्यते । उत्तरेण गच्छन्तः शुक्रकुजाकेंद्र-  
मन्त्रिणो बालिनः । याम्येन गच्छन्तौ चन्द्रशनी बलिनौ । उभयमार्गेण गच्छन्नुद्यो  
बली । तथाच सारावल्याम्—

“प्राग्प्राग्भिभागोऽतिचलो शशाङ्कः शुक्रो निशाद्वैर्धनिजो निशान्ते ।

मातर्बुधो मध्यदिने च सूर्यः सर्वत्र जीवोऽर्कसुतो दिनान्ते ॥” इति ।

एवं चतुष्टयकारं बलमुक्तमेषु चतुर्षु बलेषु प्राधान्येन निरूपणीयं स्थानबलम् । तदाचार्येण बहुधा सूचितमेव । ‘उच्चत्रिकोणस्वसुहृत्’ इत्यादिना । ‘सुहृदरिपरकीय’ इत्यादिना च । ‘कुलसमकुलमुख्यः’ इत्यादिना चान्यैश्च स्थानबलस्य प्राधान्यमुक्तम् । चेष्टाबलेषु वक्रबलमुच्चबलं तुल्यमेव । ‘स्वतुङ्गवक्रोपगतौल्लिख्यगुणम्’ इत्यादिना तत्सिध्यति । तथा च सारावल्याम्—

“उच्चैः राशौ विलोमे च फलं नान्यैर्हरिष्यते ।

कालस्यातिबलत्वं स्यात्तस्मात्स्वोच्चैतिवाकिता ॥

वक्रिणस्तु महावीर्याः शुभा राज्यप्रदायकाः ॥” इति ।

तथाचोक्तमन्यत्र—

“नीचारातिगृहेषु वक्रगमनं पुङ्गाति नैसर्गिकं

वीर्यं तद्विगुणं तु मज्जमगृहे तुङ्गोपमं मित्रमेव ।

स्वक्षेत्रपुञ्जसमं भवेदशगुणं स्वोच्चैः तदुच्चांशके

तच्चान्यैरपि संयुतं यदि बलैस्तत्स्वादनतं बलम् ॥” इति ।

उच्चादिस्थानसंज्ञाभेदाः फलभेदाश्च सन्ति । तदत्र ‘स्वोच्चसुहृत्’ इत्यादि-  
स्थानबलमुपादिष्टम् । तदन्यत्र शास्त्रान्तराच्छिष्यहिताय लिख्यते । तथा च सारावल्याम्—

“स्वोच्चैः तु भवति दीप्तः स्वस्थः स्वगृहे सुहृद्गृहे सुदितः ।

शान्तः शुभवर्गस्यो शक्तः स्फुटकिरणजालश्च ॥

विकलो विलुप्तकिरणो ग्रहाभिभूतः प्रपीडितश्चिव ।  
 पापगणस्थश्च खलो नीचं भीतः समाख्यातः ॥ ” इति ।  
 “दीप्ते विचरति पुरुषः प्रतापविपमो निदग्धारिपुनिचयः ।  
 लक्ष्म्यालिङ्गितदेहो गजमदसंसिक्तभूपृष्ठः ॥  
 स्वस्थः करोति जन्मनि सुखं नरश्चाश्वकनकपरिवारान् ।  
 नृपतेर्दण्डपतित्वं समन्ततो गृहधान्यपरिवृद्धिम् ॥  
 मुदिते विलसति मुदितो विलासिनीकनकरत्नपरिपूरुषः ।  
 विजितसंकलारिपक्षः समस्तसुखभाङ्गनरो भवति ॥  
 शान्ते प्रशान्ताचित्तो धनभोगी महीपतेः सचिवः ।  
 विद्वान्परोपकारी धर्मपरो जायते मनुजः ॥  
 स्त्रीवस्त्रगन्धमात्यैर्विलसति पुरुषः सदा विततकीर्तिः ।  
 दयितः सर्वजनस्य च शक्ताख्ये भवति विख्यातः ॥  
 दुःखैर्व्याधिभिरारिभिः प्रपीड्यते पीडिते मनुजः ।  
 भीतो देशं विचरति बन्धुवियोगादिसंतप्तः ॥  
 बहुधाऽधनोपि राजा प्राप्तबलः पीड्यते रिपुणा ।  
 नाशमुपयाति विजितो भीते दैव्यं परं प्राप्तः ॥  
 स्वस्थानपरिश्रष्टः क्लिष्टो मलिनः प्रयाति परदेशम् ।  
 विध्वस्तबलो विकलो रिपुभयशंकचकितचकितश्च ॥  
 स्त्रीमरणदुःखतप्तः समस्तधननाशकद्रुपितमनस्कः ।  
 न जहाति शोकभारं कथमपि बालिसंजिते पुरुषः ॥ ” इति ।

पुनरपि राश्याश्रयफलमस्ति ।

“उच्चबलेन समेतः परां विभूतिं ग्रहः प्रसाधयति ।  
 विहगस्त्रिकोणबलवान्साचिव्यं बलपतित्वं वा ॥  
 मित्रबलेन च सहितः प्रमुदितधनधान्यसंपदाक्रान्तम् ।  
 मित्रबलेन च युक्तो जनयाति कीर्त्यान्वितं पुरुषम् ॥  
 शुभदर्शनबलसहितः पुरुषं कुर्यादलान्वितं ख्यातम् ।  
 विभवप्रधानमखिलं सुरुपदेहं सुसौख्यं च ॥  
 पुंस्त्रीभवनबलेन च करोति पुरुषं प्रसिद्धं च ।  
 जनप्रजितं सुनीतिं सुवस्त्रभूषान्वितं कुरुते ॥ ”  
 कञ्चिद्राज्यं कचित्पूजां कचिद्रव्यं कचिद्यशः ।  
 ददाति विहगश्रित्रं चेष्टावीर्यसमन्वितः ॥

चक्रिणश्च महावीर्याः शुभा राज्यप्रदा ग्रहाः ।  
पापाः प्रवासिनां पुंसां कुर्वन्ति च पदाटनम् ॥”  
स्वस्थः समागमकरोद्भवविजयवले विदधाति ।  
शुभमखिलं विहगेन्द्रो राज्यं च विनिर्जितारातिः ॥  
रात्रिदिवावलपूर्णः भूगजलाभेन शौर्यपरिषृद्ध्या ।  
मलिनपति शत्रुपक्षं भजति च लक्ष्मीं नभश्चरैः पुरुषः ॥  
द्विगुणं द्विगुणं द्युर्वर्षाविपमासदिवसहोरेशः ।  
क्रमपरिषृद्ध्या सौख्यं स्वदेशसुखं च कीर्तिं च ॥  
पक्षवलाद्रिपुनाशं रत्नाम्बरहस्तिसंपदं द्युः ।  
स्त्रीकनकभूमिलाभात्कीर्तिञ्च शशांकधवलभाम् ॥  
सकलबलैः समुपेताः निर्मलकरजालभासराः सततम् ।  
राज्यं ग्रहाः प्रदद्युः सौख्यं च मनोरथातीतम् ॥” इति ।

ननु सर्वे ग्रहाः बलवन्तः शुभं कुर्वन्ति चेत्किमर्थं शुभपापविभागः कृतः ।  
इयान्विशेषः कथितः ।

“आचारसत्त्वशुभशौर्ययुताः सुरुपा-  
स्तेजस्विनः कृतविदो द्विजदेवभक्ताः ।  
स्वस्वस्वगन्धभलभूषणसत्प्रियाश्च  
सौम्यग्रदैर्बलयुतैः पुरुषा भवन्ति ॥  
लुब्धाः कुकर्मनिरता निजकार्यनिष्ठाः  
साधुद्विपः सकलहास्यमनोभिभूताः  
हूराः सदा वधरता मलिनाः कृतघ्नाः  
वायग्रदैर्बलयुतैः विशुनाः कुरुपाः ॥” इति ।

ननु बलसहिता ग्रहाः शुभं कुर्वन्ति दुःखं नाशयन्ति, वज्रहीनाः विपरीतं कुर्व-  
न्तीति नियमो विद्यते एतन्न प्रवृत्तः । येन ग्रहेण भावास्थानालोकनादिभिः शुभ-  
फलमुच्यते स बलवान्सत्फलसम्पन्नश्चेत्तदभाव इत्येव सत्फलशो भवत्येताद्विपरीतम-  
शुभफलेपि नियमस्तथा च सारावस्थाम्-

“उत्पातिकाः संपितृकाः समलां विरुद्धा  
नीचं गता रिपुगृहे च नभश्चरेन्द्राः ।  
युद्धे जिताः शुभफलानि विनाशयन्ति  
पापानि यानि सुतरां परिवर्द्धयन्ति ॥” इति ।

बलवशतः फलविभागः क्रियते । इति बलकथनं शास्त्रान्तरादादाय लिखितम-  
स्माभिरस्मिच्छास्त्रे आपाततो निरूपिते सर्वं सिद्धयति । तन्मन्दबुद्धीनां दुरव-  
बोधनम् । इति ।

शरुबुगुशुचराद्या नामाद्यक्षैर्ग्रहाः अवगन्तव्याः । अधोऽधो वृद्धितः अधिकम-  
धिकं वीर्यवन्तः एतेषां यथोत्तरं बलवृद्धिरित्यर्थः । बहुषु बलाधिकग्रहनिरूपणे  
प्रयोजनेनेन प्रयोजनं न खलु फलनिरूपणे । तथा च कृष्णीये—

“मन्दारसौम्यवाक्पतिसितचन्द्रार्का यथोत्तरं बालिनः ।

नैसर्गिकबलमेतद्वलसाम्येऽस्मादधिकाचिन्ता । ” इति ।

एषमुक्तं ग्रहाणां बलं शास्त्रान्तरेषु गणितप्रक्रियया निर्णेतुमुपाय उक्तः ।  
तदनेनाचार्येण शुरुमुखात्संसिद्धयतीति नोक्तम् । तथाप्यस्मिन् शास्त्रे आपाततो  
निरूप्यमाणे सूचितमेव इति सिद्धयति । शास्त्रान्तरेषु गर्भाधानजन्मकालप्रवेश-  
कालेषु बलवतो लग्नाच्चिन्त्यमित्युपादिष्टम् । अस्मिच्छास्त्रे त्वाधानजन्मकालावेव  
निरूपणीयावेन विवक्षितौ । चेत्प्रवेशस्य कालस्य दुरधिगमत्वादेवं चैतच्छास्त्रान्तरे  
कथंचित्प्रवेशकालो निरूपणीय इत्युक्तमेवमिदोच्यते । ज्ञाताभ्यामाधानजन्मका-  
लाभ्यां कथंचित्प्रवेशकालोऽवगन्तव्यः । इति । तथा च यवनेश्वरः—

“मासः पङ्क्तिः समेधित्वा कालात्मा मासि सप्तमे ।

वित्तस्यायव्ययं पुत्रात्कलत्राणि मृतिं तथा ॥

ध्यायि कर्माणि विद्यां च विदा सह निर्विचति ।

प्रारब्धकर्मवशतः शरीरे गर्भसंस्थिते ॥

• एनमालं व्य माता च पिता भ्राता सखा परः ।

जयः परींजयो भाग्यमेवमाद्या भवान्ति हि ॥ ”

तथापि दुरवबोध एव इति । जन्माधानकालाभ्यामेवाचार्येण फलनिरूपणमुक्तम् ।  
तस्माज्जन्मकालानयनमस्माभिरत्र शिष्यहितायोच्यते । अत्र— बलावलनपने  
नवांशकद्वादशांशकादिपरिज्ञानार्थं जन्मकाले जन्ममूलस्य नोडीविनाडीप्राणादि  
सूक्ष्मकालं तत्काले सूर्यादिग्रहाणां स्फुटं सम्यक् कृत्वा दृग्गणिततुल्येन गणितेन  
सम्यक्कार्यः । तथाच जातकसंग्रहे—

“योगे ग्रहाणां ग्रहणैर्ज्योतिषमोर्मोदये तथा घक्रगती च पंचसु ।

दृष्टानुरूपं करणं यदन्वहं तेन ग्रहेन्द्रांगणपेत्रिवारकम् ॥ ” इति ।

अन्यत्रापि—

“यदा यश्चैव सिद्धान्तां गणितो दृक्समो भवेत् ।

तदा तेनैव संसाध्य जातकं गणयद्बुधः ॥ इति ।



स्पष्टो ब्राह्मस्तु सिद्धान्तस्तस्यासन्नस्तु रोमशः ।

सौरः स्पष्टतरोस्पष्टौ वासिष्ठः पौलिशश्च तौ ॥ ” इत्युक्तम् ।

पराशरमुनिनाप्युक्तम्—

“कदाचिद्ब्राह्मसिद्धान्तः सावित्रस्तु कदाचन ।

कदाचिद्रोमशः स्पष्टो न कदाचित्तेतरौ ॥ ” इति आचार्यश्चाह—

“स्पष्टो ब्राह्मः प्रोक्तस्तस्यासन्नस्तु रोमशो ज्ञेयः ।

स्पष्टतरं सावित्रः पारिशिष्टौ दुरविभ्रष्टौ ।” इति ।

श्रीपतिरप्याह—

“ज्ञेयोत्र प्रथमं हि जन्मसमयश्लाघाम्बुयन्त्रैः स्फुटं

तत्कालप्रभवा विलम्बसहिताः कार्यास्ततश्च ग्रहाः ॥

सिद्धान्तोक्तपरिस्फुटोपकरणैस्तेचासकृत्कर्मणा

भावाः खेटदृशौ बलानि च ततस्तेषां विचिन्त्यानि पदं ॥” इति ।

तस्मादेव गणितेन सट्क् सम्पद्य भवति तेन ग्रहाः सम्पक् स्फुटीकर्तव्याः । अन्यथा तु ग्रहाणां वस्तुतः स्थित्यज्ञानात्कथं जातकेन फलनिरूपणं क्रियते मुहूर्तादिष्वपि तथैव कर्तव्यं भवति ।

जन्मकाले सम्पक् स्फुटीकृतस्थितौ नान्विज्ञाय बलबलं गुणयेदनेनाचार्येण चतुष्प्रकारं बलमुक्तम् । कैश्चित् पदप्रकारमुक्तम् । तथा च पराशरमुनिना—

“निसर्गकालचेष्टारूपद्विगायनदिशारूपया ।

पदप्रकारं बलं प्राहुर्ग्रहाणां पूर्वसूरयः ॥” इति ।

निसर्गबलमनेनाचार्येणाप्युक्तम् । अयनबलन्तु चेष्टाबलान्तर्यावात्प्रोक्तम् । अथोच्चबलमानयत् । नीचेऽतोर्द्ध्वसति हि ततश्चान्तरस्थेऽनुपातः” इत्याचार्येण दशानयने कथितं तत्रापि त्रिराशिकेनोच्चबलमानेतव्यम् । ग्रहस्फुटं विन्यस्य ग्रहाणां स्वस्वपरमनीचभागे विशोषयेदादित्यस्य दशभागाधिकषड्भागः । चन्द्रस्य त्रिभागसहित सप्तराशयः इत्यादि द्रष्टव्यम् ।

“नीचोनं ॥ ग्रहं भार्द्वाधिके चक्रादिशोधयेत् ।

भागीकृत्य त्रिभिर्भक्तं फलमुच्चबलं भवेत् ।

परमोच्चे पूर्णमेकं नीचे शून्यमुदाहृतम् ॥” इति ।

परमोच्चे पूर्णमेकं बलं परमनीचे शून्यम् इति । अन्तरेऽनुपातः अशीत्युत्तरशतभागाः स्वोच्चनीचांतरमतो भागात्रितयस्यैको बलपष्टयंशो भवति । ततस्त्रिभिर्भज्यते इति । अथ मूलत्रिंशोणादिबलमानयेदुत्तरत्र भावफलाध्याये इष्टानिष्टफलयोः स्थानभेदेन फलमानं वक्ष्यति ।

“उच्चत्रिकोणस्वसुहृच्छत्रुनीचगृहार्कगैः ।

शुभसम्पूर्णपादोनदलपादात्पनिष्फलम् ॥” इति ।

अतः शुभफलानां बलवृद्धिवशाद्वादिः । अशुभफलानां बलद्वारावशाद्गृहिरिति सिद्धं भवति । तस्मात्तेनैव पथेन बलप्रमाणमप्युक्तं भवति प्रायशः अत्रोक्तस्थान-  
बलवशात्प्राप्तबलसंख्या अन्यशास्त्रादानिय लिख्यते । तथा च पराशरहोरायाम्—

“मूलत्रिकोणस्वक्षादिभिर्ग्रामित्रसमारिषु ।

अतिशत्रुगृहे चापि स्थितानां क्रमशो बलम् ॥

भूताब्धयः खरामाश्च नखास्तिथिदिशो युगाः ।

द्वाविंशशुक्लौ युग्मांशे तिथयोजांशकापरे ॥

केन्द्रादिषु स्थिता लम्बात्पाष्टिं त्रिंशत्तिथिक्रमात् ।

आदिमध्यावसानेषु द्वेष्काणेषु स्थिताः क्रमात् ॥

पुनर्पुंसकयोपाख्या दशस्तिथिबलं ग्रहाः ।

स्वपङ्कगतास्त्रिंशदेवं स्थानबलं विदुः ॥” इति ।

मूलत्रिकोणस्वक्षादिभिर्ग्रामित्रक्षेत्रेषु पादोनमर्द्धे त्रिंशत्पादमिति बलं, क्रमादित्या-  
चार्येण ‘स्वोच्चसुहृत्स्वद्वेष्काणनवांशैः स्थानबलं स्वगृहोपगतैश्च’ इत्युक्तवता बलवत्त्वा-  
त्स्वशत्रुअधिशत्रुक्षेत्रेषु बलं नोक्तम् । स्वगृहोपगतैश्च इत्यत्र स्वशब्देनादिमध्यान्त-  
द्वेष्काणेषु पुनर्पुंसकस्त्रीग्रहाः उक्ताः । पुरुषग्रहाः आदिद्वेष्काणेषु, नपुंसकग्रहाः  
मध्यद्वेष्काणेषु, स्त्रीग्रहाश्चान्तद्वेष्काणेषु पादबलपुक्ताः । स्त्रीग्रहौ चन्द्रशुक्लौ  
स्त्रीराश्यंशकस्यौ । शेषा ओजग्रहांशकस्थाश्च पादबलपुक्ताः । इत्येतदपि ग्रह-  
स्वशब्देन सूचितम् । ‘स्वोच्चसुहृत्स्व’ इत्यत्र स्वशब्देन स्वपङ्कगतानामर्द्धबलम्—

“उदयरविशशांकप्राणिकेन्द्रादिसंस्थाः

प्रथमवयसि मध्येत्ये च दशुः फलानि ।”

इत्युक्तस्तत्र वक्ष्यति । तत्र केन्द्रादिस्थानां प्रथमोक्ता बलपूर्तिसमाप्तितायाश्च  
सूचिताः । केन्द्रे पष्टिवलसंयुक्ताः । पणफस्स्यास्त्रिंशदापोलिकमस्या स्थिति  
मित्रबलपुक्ताः । इति । समारिक्षेत्रगतांशपष्ट्यंशबलपुक्तास्तत्र मूलत्रिकोणे  
पष्ट्यंशचतुष्कबलपुक्ताश्च भवन्ति । अत्र मूलत्रिकोणराशयः ‘सिंहो वृष’ इत्यादिना  
पर्वमुक्ताः । अत्र मूलत्रिकोणस्वक्षोच्चानामेकत्वे विभागोऽनेनाचार्येणात्र नोक्तः ।

“सिंहे विंशति राशितो गवि परे सर्वांशकास्तुद्गतो

मेप द्वादश पंच योषिति परे तुङ्गा हयाङ्गे दश ।

जूके पंच धटे तु विंशति” इत्यादि ।

अत्र केषांचित्पत्रे विशेषोक्तिः । तथा च पराशरहोरायाम्

“मूलत्रिकोणधर्वाद् रवेल्लये च शीतगोः ।

भागानां विंशतिः स्वोच्चतृतीयोऽपरं स्मृतम् ॥

शिष्टं मूलत्रिकोणं स्याद्दृष्टे तद्द्वयोः ।

कुजपूर्वभागमोजे च स्वर्क्षमन्यत्रिकोणमम् ॥” इति ।

अथ पूर्वोक्तपक्षो घरीयानित्यस्माभिः श्रुतम् । अतिमित्र-मित्र-सम-शत्रु अतिशत्रु-स्थानानि पूर्वोक्तानि ‘सत्योक्ते सुहृद’ इत्यादिना ‘अन्योन्यस्य धनव्ययाय’ इत्यादिना चैवं जातके शत्रुमित्रोदासीनकल्पना ‘जीत्रो जीवुत्र्यौ’ इत्यादिपक्षो मुहूर्तादौ मन्त्रे चाङ्गीकर्तव्यः । एवं प्रथममुच्चवलमानीय पश्चान्मूलत्रिकोणस्वराशावेतिः मित्रभे समभे शत्रुभे च पंचचत्वारिंशत्पंचपंचविंशतिपंचदशाष्टौ चत्वारो द्वौ च षष्ठ्यंशक्रमेण न्यस्तव्यास्ततः षड्गवलं निरूपयेत् ॥ २१ ॥

इति श्रीबृहजातके होराशास्त्रे दशाध्यायीटीकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

## अथ वियोनिजन्माध्यायः ३.

( वसन्ततिलका )

क्रूरग्रहेः सुबलिभिर्विवलैश्च सौम्यैः

हृषी चतुष्टयगते तदवेक्षणाद्वा ।

चन्द्रोपगद्विरसभागसमानरूपं

सत्त्वं वदेद्यदि भवेत्स वियोनिसंज्ञः ॥ १ ॥

अथ वियोनिजन्माध्यायो व्याख्यायते ।

विविधयोनीनां तिर्यक्स्थावरादीनां जन्म तद्वियोनिजन्मा कालात्मा विधातव्यमज्ञपति । तथा च सारावल्याम्—

“समभिव्यनक्ति देवः स्थावरजङ्गमं यथा लोकम् ।

कालनिमिच्छाकरिंदशेन च तत्प्रपञ्चोऽयम् ॥” इति ।

अथ क्रूरग्रहैरित्यादि । क्रूरग्रहैर्वलपुतैर्वलहीनेः सौम्यैश्च चन्द्रोपगतद्वादशभाग-समानरूपं सत्त्वं प्राणिनं वियोनिजन्मानं वदेत् । स द्वादशांशोऽपि वियोनिश्चतुर्देव वियोनिजन्म षक्त्यम् न नरभागेनेत्यर्थः । कीदृशोऽसौ सक्तचन्द्रो द्वादशांश पत-दुक्तभवने इत्युक्तत्वात्पृष्ठं वा मुष्टिगतं नष्टं वा वदेदित्युक्तं भवति । जन्माधानयोः मन्त्रे चेतदुपयुज्यत इति सिद्धं भवति । तथा च सारावल्याम्—

“आधाने जन्मनि वा मन्त्रे वा द्वादशांशके चंद्रः ।

यस्मिन्नवस्थितस्तस्य लभतोऽक्रमसमं सत्त्वम् ॥” इति ।

लभामित्युत्तरश्चोक्तमतत्राप्यादेयमथवा स लभराशिर्वियोनिसंज्ञश्चेदुधमन्दं  
केन्द्रगते तदवेक्षणाद्वा तयोर्बुधमन्दयोर्लभराशावेक्षणादिति । लभराशोः  
सिद्धत्वात्स इति । लभराशिरप्यभिप्रेतस्तथा च सारावत्याम्-

“क्रूरैः सुचलसमेतैरितैर्विवलैर्वियोनिलमे ।

सौम्याभिभ्यां केंद्रे दृष्टे वाभ्यां वियोनिः स्यात् ॥ ” इति ।

विवलैश्च सौम्यैरित्युक्तत्वादर्थसचलैः सौम्यैर्मनुष्यजातयोऽभ्यूह्याः ।  
तथा च कृष्णीये-

“प्रायेण शुभा बलिनो मानुषचिंतां तदाश्रये कुर्यात् ।

देवानामुच्चगतानां त्रयेषु नीचेषु नारकीयाणाम् ॥ ” इति ।

तदाश्रये मनुष्यराश्याश्रय इत्यर्थः । अथार्यान्तरम् । ‘चन्द्रोपगद्विरसभाग-  
समानरूपम्’ रसभागपष्टांशः द्वौ रसभागौ षष्ठांशौ राशेरुपश इत्यर्थः । द्रष्टृकाण  
इति सिद्धं भवति । तेन समानरूपम् । चन्द्रोपगतद्रष्टृकाणसमानरूपमुत्तरश्चोक्ते  
लभं च वियोनिसंभवमित्युक्तत्वात्प्रभलमेन्द्रकाणसमानरूपं वा वदेत् । एतच्चौरा-  
द्याकृतिभोजनप्रश्ने भोक्तुराकृतिं च वदेत् ।

“यादृग्भवति विलमे द्रष्टृकाणो भवति तादृशश्चौरः ।

केंद्रगतो वा यादृग्ग्रहस्तु तादृग्विनिर्देश्यः ॥ ” इति ।

अथार्यान्तरम् ।

चन्द्रोपगतद्रष्टृकाणरूपं सर्वं वदेदिति । चौरापहतद्रष्टृकातर्गतद्रव्यं वदेदित्यर्थः ।  
धातुमूलेषु यद्रव्यधारी द्रष्टृकाणस्तद्रव्यं नष्टं वा चिन्तितम् । इति तथा च कृष्णीये-

“दण्डामिपयष्टिधराः शाखाफलमूलधारिणश्च तथा ।

द्रष्टृकाणां धान्यकरा वृक्षसमीपाश्रिताश्चैव ॥ ” इति ।

‘तदवेक्षणाद्वा’ इत्यत्राप्यर्थान्तरमस्ति तदिति क्रूरसौम्याविपयस्तुशब्दः  
क्रूरसौम्यविलक्षणात्तदुक्तधातुमूलजीवनष्टमुष्टिचिन्ताद्यवगन्तव्यम् ।

तथा च कृष्णीये-

“चंद्रारोगसौरैर्धातुं मूलं किलार्कशुक्राभ्याम् ।

जीवो जीवबुधाभ्यां होराचार्या वदन्त्येवम् ॥

द्विपदचतुष्पदविहगाः संकुलपापाश्च चिन्तिता ज्ञेयाः ।

द्रष्टृकाणसदृशरूपा ग्रहरूपाद्वा बलं ज्ञात्वा ॥ ”

‘चन्द्रोपगद्विरसभागसमानरूपम्’ इत्यत्र चन्द्रोपगद्विरसभागमिति वत् ।  
समानशब्दप्रयोगेनैव सोऽर्थः सूचितः । मेपद्वादशांशे द्रष्टृकाणे वा मेपसामान्यं  
चतुष्पदमपि वदेदिति । भक्ष्याहताकाररुतादिभिर्दुष्टभूतैः समानत्वमूहम् ।

नागरारण्यजलस्थमनुष्यचतुष्पदविहङ्गसरोसुपराशिगृहवशान्निरुह्य वदेदिति सूचि-  
तं समागमशब्देन ॥ १ ॥

(वैतालीयम्)

पापा बलिनः स्वभागगाः

पारक्ये विवलाश्च शोभनाः ।

लग्नं च वियोनिसंज्ञकं

दृष्ट्वात्रापि वियोनिमादिशेत् ॥ २ ॥

पापानां स्वभागगत्वं सौम्यानां परभागगत्वं च बुधशन्योश्चतुष्टयास्थितिहीनत्वं  
च पूर्वश्लोकादस्य श्लोकस्य विशेषः । 'लग्नं च वियोनिसंभवम्' इत्यत्र पूर्वश्लोकोक्त-  
चन्द्रद्वादशांशस्य वियोनिसंज्ञितं लग्नं दृष्ट्वात्रापि वियोनित्वेन न केवलं वियोनिर्बलं  
दृष्टम् । गुरुदेवशास्त्रसेवापरिशुद्धचिद्विंशकालावस्थानुरूपं वदेत् । 'लग्नं च वियो-  
निसंभवम्' इत्यत्र वियोनिलग्नं च वियोनिसंभवं च वियोनिः संभवानां चेति लग्नं  
दृष्टेति । यथा भेषस्योष्णशकलपुभोजनं संचारशीलत्वं विहितशिरस्त्वं, जलभीरुत्वं  
लोके दृश्यते । तथा सर्वराशिनामाकृतिस्वभावानभ्यूह्य वदेत् इति । तथा च  
सारावल्याम्:

'भेषतदंशे छागादिप्रसवमादुराचार्याः ।

ततो महिषाणां शने रूपाणां तृतीयंशे ॥

तद्वच्चतुर्थभागे कूर्मादीनां भवेदुदगजानाम् ।

व्याघ्रादीनां परतः परतोऽंशे धारणादीनाम् ॥

वणिगंशे नररूपं शुश्रूकभागे तथैव भुजगाद्यम् ।

नवमे मृगादिमीनास्तथा दशमे ज्ञेयाश्च ॥

तत्र च वृक्षा गुल्मास्तृणजातयश्चित्राः ।

एकादशे नृवपुं मत्स्या नानाविधाश्चान्त्ये ॥ २ ॥' इति ।

(उपजातिः)

क्रियः शिरो वक्रगले वृषोऽन्ये

पादांशकम्पृष्टमुरोऽथ पार्श्वे ।

कुक्षिस्त्वपानांऽप्यथ मेढूमुष्को

स्फिक्पुच्छमित्याह चतुष्पदांगे ॥ ३ ॥

भेषः शिरः वक्रगले द्वितीयः पादांशकमित्याद्यैकैकपादोक्ता भेषादिचतुष्पदां-

गानि । अपानाग्नि इत्येकवद्भाषः मेद्रमुष्णौ स्फिक्पुच्छम् इति । तथा च सारावल्याम्-

“मूर्द्धनि मेघो वृषभो मुखगलयोरंशपार्श्वयोर्मिथुनम् ।

पृष्ठे चोरसि कर्को हरिश्च पार्श्वद्वये युवती ॥

तौलिः कुक्षौ कीटश्चापमपानांघ्रयोर्मेद्रमुष्णयोर्मकरः ।

स्फिचि पुच्छे घटमीनौ राशय एवं चतुष्पदाङ्गेषु ॥ ” इति ।

कुक्षिस्त्वत्र तु-शब्देनार्थान्तरं सूचितम् । मेपादितुलान्ता दाक्षिणभागे स्थिताः, मीनाविपृश्चिकान्ता वामभागे गतास्तथा च सारावल्याम्-

“मेपादयस्तुलान्ता सौम्ये भागे चतुष्पदाङ्गेषु ।

वामे त्वनिमिषघटमृगकार्मुकभृश्विकाश्चित्याः ॥ ”

तु-शब्देनान्यदर्थान्तरमपि सूचितम् । पश्वादीनां सप्तराशिः शिरसि परिकल्प्य चतुष्पदाङ्गेषु शुभाशुभं चिन्त्यम् । अंघ्रययेत्यत्राथशब्देन चतुष्पदानां संधिबलं नवमराशिना विन्त्यम् । मेद्रमित्युक्तस्थाने चतुष्पदाङ्गानां योनिश्चिन्त्यते ॥ ३ ॥

लग्नांशकाद्ग्रहयोगेक्षणाद्वा

वर्णान्वदेद्दलयुक्ताद्वियोनौ ।

दृष्ट्या समानां प्रवदेस्वसंख्यया

रेखां वदेत्स्मरसंस्थैश्च पृष्ठे ॥ ४ ॥

लमाधिकाद्वियोनौ शुक्लादिवर्णान्वदेत् । तथाच सारावल्याम्-

“मेपादिभिर्हृदयस्यैरंशीर्षा ग्रहयुतैश्च दृष्टैर्वा ।

स्वस्वं वर्णं ज्ञयाद्वात्रे वर्णं व्रणं चापि ॥ ” इति ।

रक्तः श्वेतः इत्यादीनां राशिर्वर्णः । रक्तद्रव्याम् इत्यादिग्रहवर्णः । अथवा लग्नांशान्वांशद्वादशांशद्वर्णान्वदेज्जातिभेदाद्देव । तथा घोराणां विलवासिनामुच्यते । पृश्चिकनयमांशे पृश्चिकद्वादशांशे च-लग्नस्ये वन्मीकादिवासिनां जन्म वक्तव्यम् । एषमन्येषां राशीनां स्वस्वस्थानजातानां सत्त्वानां स्वसदृशानां च जन्म वक्तव्यम् । तथाच सारावल्याम्-

“पृश्चिकभवने लग्ने तन्नवभागेऽथवा द्विरससंज्ञे ।

विलवासिनां प्रसूतिं घोराणां निर्दिशेत्तत्र ॥

गोधानां सर्पाणां लोमशानां शल्पकानां च ।

मूपिकविलेशयानां राजिमतां चैव कीटानाम् ॥

नूलानां नकुलानां वृश्चिकपङ्क्तिन्दुजालवृक्षाणां च ।  
 अविषाणां सर्पाणां संग्रामनिवासिनां चैव ॥  
 मृगमकरे लम्पस्ये तत्रवभागेऽथवापि सूर्यांशे ।  
 आरण्यानां सृतिं सत्त्वानां निर्दिशेत्क्रमशः ॥  
 नागानां खट्वानां घृक्षसंभववराहाणां च ।  
 ऋक्षोग्रशृगालानां भवेन्नृशंसानां सृतिः ॥  
 भीमे मीनशि वा सङ्गे सूर्यांशकेऽपि वा लम्पे ।  
 गुरुदृष्टेऽपि ज्ञेया बहुदकोत्यास्तथा सत्त्वाः ॥  
 भेमे मेपांशके वा भीमेन निरीक्षिते सदा जातिः ।  
 घृपमे च वदेत्तद्वह्नीमाहिपाद्याः सदा भृगुणा ॥  
 रवंस्वं पूर्वविलम्पे स्वैःस्वेदुष्टेऽपि वा भवति ।  
 स्वभवनसदृशान्सत्त्वान्प्रवदेदविशंस्कितं तत्र ॥  
 ग्राम्यग्रहेषु नवोशाः पंचदशमाष्टराशिसंयुक्ताः ।  
 आरण्यानां सृतिं ग्राम्येषु विनिश्चितां कुर्युः ॥” इति ।

एवं स्वपतिदृष्टा राशयः स्वसदृशत्वं कुर्वन्ति । लम्पांशास्त्वपतिग्रहदृष्टा वियो-  
 नी वर्णान्वदेत् । लम्पांशकाद्ग्रहयोगेक्षणाद्वा इत्युक्तमहफलस्यान्वये कल्पितोऽर्थः कथं  
 बहुषु सत्त्वेषु विकल्पितेष्वेको निर्धार्यते, उच्यते-नामानिरूपणात्कथं नामानिरूपण-  
 मिति चेत्तदप्यनेनैव कल्प्यते । लम्पांशकाद्ग्रहयोगेक्षणाद्वा वर्णान्वदेन्नामाक्षराणि  
 वदेदलव्यक्षेण राश्यक्षराणि शास्त्रान्तरोक्तानि-

“आद्रेदरामामिषुगामिष्वर्णकान्पञ्च वर्णा यचतुष्टयं च ।  
 क्रमेण मेपादिषु योजनीयाः क्षेपेष्ट पष्टं भगणागमज्ञे ॥”

एतदन्यथा चोक्तम्-

“विंशत्तदामिला वर्णा मीनाज्ज्योत्कमोत्कमात् ।

कन्यासिद्धान्तिके प्रेक्षे चतुर्विंशद्यथाक्रमम् ॥

तुलादि पदकं पुनरपि द्विवारं योजयेद्भुधः ।

पञ्चविंशतिप्रमाणेषु वर्गसंस्थितिरोदशी ॥”

इति राश्यक्षराणि द्विविधान्युक्तानि ।

अथ ग्रहक्षानि-

“आ ई ठ ए ओ भूता वणाः सप्तवर्गाश्च सस्वराः ।

क्रमादक्षरशुक्रज्ञनीवाकीन्दूरगात्मकाः ॥” इति ।

यो ग्रहो लम्पं पश्यति तत्र स्थितो हि तदर्गादिनष्टमुष्टिचिन्तादिषु नामाद्यक्षर-  
 मूहम् । राशिषशाब्जामाक्षरसंख्या-

“द्व्यक्षरं तु चरे राशौ स्थिरे तु चतुरक्षम् ।

उभये वर्णत्रयं विद्यान्नामभेदसमन्वितम् ॥” इति ।

अन्ये श्लोकस्यापरार्थस्यार्थ उच्यते-

दृष्ट्या समानमित्यादि यावन्तो ग्रहा बलं लभं पश्यन्ति तावन्तो वियोनिलप्रग-  
तान् वदेदिति । यत्र यत्र संख्याकरणमिष्यते तत्र तत्र संख्यामनेन वदेदिति । नष्ट-  
द्रव्यसंख्या वा लाभद्रव्यसंख्या वा सर्वसंख्या पुत्रसंख्या वाप्पनेन वक्तव्या ।

यावद्भिः किरणैर्ग्रहो लभं पश्यति तावर्तो संख्यां वदेदिति । नष्टमुष्ट्यादिद्रव्य-  
संख्या तु यावन्तो ग्रहाः पुत्रराशिं पश्यन्ति तावन्तः पुत्रान्वदेदिति । तथा चोक्तम्-

“यावन्तो वीक्षन्ते पुत्रगृहं पुत्रकास्तु तावन्तः ।” इति ।

रेखां वदेत्स्मरसंस्थैश्च पृष्ठे सप्तमस्यैश्च पृष्ठे । सप्तमस्यैर्ग्रहैर्वियोनौ पृष्ठे रेखां वदेत् ॥४॥

( वंशस्थम् )

खगे दृकाणे बलसंयुतेन वा

ग्रहेण युक्ते चरभांशकोदये ।

बुधांशके वा विहगाः स्थलांबुजाः

शनैश्चरेन्द्रीक्षणयोगसंभवाः ॥ ५ ॥

तथा च सारावल्याम्-

“विहगोदितद्रेष्काणे ग्रहेण बलिना युते चरभांशे ।

विहगाः स्थलांबुजाः स्युः शनिशशिनोरीक्षणाक्रमशः ॥

लभे जलजे बन्धौ पक्षिखगैरीक्षितेऽपि वा जलजाः ।

स्थलजेषु ग्रहदृष्टे ग्रहवर्णसंस्थलप्रभवाः ॥” इति ।

पुनरपि तत्रैव विशेष उक्तः । तथाहि-

“स्थलजलराशिखगेषु नागरभवर्नांशकेषु लग्नसंस्थेषु ।

स्थलजलचरसत्त्वानामुत्पत्तिं भवनदृकाणकैर्नूनम् ॥

उदयति वणिग्विलभे तद्रेष्काणे सितेन संदृष्टे ।

शुक्रशारिकान्यपशवश्चकोरभगसाश्च जायन्ते ॥

सिंहोदये तदंशे रविणा च निरीक्षिते स्मृतिः ।

कुक्कुटमयूरतिक्तिरपारावतवञ्चुलादीनाम् ॥

पौरग्रहसंयुक्तेर्दृष्टेर्वा ग्रामनगरखेटानाम् ।

प्रासादगृहगतानामुत्पत्तिः पूर्ववज्ज्ञेया ॥” इति ।

एतत्सर्वं बलयुतग्रहेणेति कथनेनापगन्तव्यम् ।



अत्र बुधशानिचन्द्राणां पाक्षित्वमपि सूचितम् । व्याधिप्रश्ने खगे दृकागे खगते दशमगते राशौ बलवत्पाक्षिग्रहयोगे पाक्षिग्रहपीडा व्याधिरित्याद्युक्तम् ॥ ५ ॥

( वसन्ततिलका )

होरेन्दुसूरिरविभिर्विलैस्तरूणां

तोयस्थले तरुभवोऽशकृतः प्रभेदः ।

लग्नाद्ग्रहः स्थलजलक्षपतिस्तुयावां-

स्तावन्त एव तरवः स्थलतोयजाताः ॥ ६ ॥

होरेति होरेन्द्रादिभिर्विलरहितैः खगैः मूलयोनिरुच्यते एवमन्वयः । विवले होरेन्दुसूरिरविभिस्तरूणां सम्भवो भवति । पूर्वश्लोकगतसंभवशब्दोऽप्राव्याहर्तव्यः । 'तोयस्थले तरुभवोऽशकृतः प्रभेदः' अंशेन स्थलजलचारिणः-प्रभेदः । यस्य तरुभवस्य तरुजन्मनः इति । तथा च सारावल्याम्-

"लमार्कसूरिचन्द्रैरवलैः शेषश्च मूलयोनिः स्यात् ।

स्थलजलभवनविभागो वृक्षादीनां प्रभेदकरः ॥"

अत्र शेषश्चेति सर्वश्वं इलहीनैर्मूलयोनिरिति । तदाचार्येण नोक्तम् ।

होरेन्दुसूरिरविणामेवं सर्वत्र प्राधान्येन कार्य्यकरत्वमिति होरेन्दुसूरिरवयो विवलाश्चेजाताः पुरुषास्तारुवदात्मप्रभावहीना पराधीना भवन्तीति सूचितम् । तदुत्तरोऽत्र वक्ष्यति च ।

"राश्यंशपौष्णकरशीतकरामरेज्यै-

र्नचारिषांशकगतैरारिभागैर्वा ।

येभ्योल्पमध्यवद्भुभिः क्रमशः प्रसूतौ

ज्ञेयाः सूरभ्युपगमकयगर्भदासाः ॥" इति ।

लग्नाद्ग्रह इत्यादि अनेन सर्वत्र संख्याकरणे विनियोगः । तथा चोक्तम्-

"लप्राद्यावति भे पापस्तावत्यन्देऽहि मासि वा ।

पक्षे क्षणेऽप्यने चर्त्ता लभेऽशस्योचितेऽथवा ॥" इति ।

तथा चोक्तमन्यत्र-

"तदपक्षाच्चन्द्रर्क्ष भवति तु यावद्दिनेस्तु तावद्दिः ।

आगमनं स्याच्छत्रोर्मध्ये यदि न ग्रहः कश्चित् ॥ ६ ॥" इति ।

( मंदार्कांता )

अंतस्साराजनयति रविर्दुर्भगान्सूर्यस्तनुः

क्षीरोपेतांस्तुहिनकिरणः कंटकादद्यांश्च भोमः ।

वागीशज्ञौ सफलविफलान्पुष्पवृक्षांश्च शुक्रः

स्निग्धानिदः कटुकविटपान्भूमिपुत्रश्च भूयः ॥ ७ ॥

अन्तःसारानिनि । रविः अन्तःसारानन्तर्गतसारौश्चन्दनादीन् जलजान्नारिके-  
लार्दींश्च निष्पत्रांश्च जनयति । सूर्यसुनुर्दुर्भगान् प्रियंशुविषवृक्षादीन् भोज्यान् जन-  
यति । तुहिनकिरणः क्षीरोपेतान् क्षीरिणोपेतान् जलेनोपेतान् जलजान् हृद्यान्  
स्निग्धांश्च भक्षणानि च । भौमः कण्टकाढ्यान् तालवेष्वादिकटुकविटपान् मरिच-  
सर्पपाद्यान् सालभूरुहान् चूतपनसाद्यांश्च जनयति । वागीशज्ञौ सफलविफलान् जन-  
यतः । विफलमिति कन्दसूरणे पत्रबलिप्रधानान् वृक्षान् जनयति । बुधो वागीशः  
सफलवृक्षं जनयति । स्थलजलत्वात्स्थलाम्बुजान् फलप्रधानान् पनसादीन् जनयति ।  
हेमाश्वाम्बरचय इत्यश्वाम्बरफलदत्वाद्वास्त्राणि जनयति । पुष्पवृक्षांश्च शुक्रः पुष्प-  
प्रधानान् चकारात् फलपत्राधिकांश्च स्नेहवतो वृक्षान् जनयति । एतन्नष्टमुष्टिचिन्ता-  
सूपयुज्यते भोजनप्रश्ने च ॥ ७ ॥

( वंशस्थम् )

शुभोशुभर्क्षे रुचिरं कुभूमिजं

करोति वृक्षं विपरीतमन्यथा ।

परांशके यावति विच्युतः स्वकात्

भवन्ति तुल्यास्तरवस्तथाविधाः ॥ ८ ॥

इति श्रीवराहमिहिराचार्यकृते बृहज्जातके वियोनि-

जन्माध्यायस्तृतीयः ॥ ३ ॥

शुभोशुभक्ष इति । अत्र राशेराधारत्वाद्देशस्याशुभत्वं ग्रहस्याधेयस्य शुभत्वाद्वृक्ष-  
स्याधेयस्य शुभत्वम् । अन्यथा विपरीतम् । सर्वत्राधाराधेययोर्गुणदोषनिरूपणं राशि-  
ग्रहाभ्यां कर्तव्यमित्युक्तं भवति । कार्याधिपः स्वयं शुभश्चेदशुभराशौ कुग्रहजातानि  
शुभकार्याणि भवन्ति विपरीते विपरीतं लप्ताधिपेन स्ववासभूमिरप्यूह्य । लप्ता-  
धिपः शुभराशा स्थितश्चेद्दृक्क्षेत्रोपि यद्देशे रुचिः स्ववासोप्यूह्यः । शुभाशुभग्रहदृष्टि-  
योगवशादपि चिन्तनीयम् । चरराशो चरांशके स्थितश्चेत्संचारशीलः विपरीते विप-  
रीतम् । स्थलराशो स्थितश्चेत्प्रकाशदेशं स्थितिः । नलराशो स्थितश्चेद्दूढदेशे स्थितिः ।  
एवं घनस्थानप्रदेशोपि निरूपणीयः इति । परांशक इत्यादि तद्देशपर्यन्तं गणिते  
या संख्या सस्यते सा संख्या हि तरूणां लप्तांशकाद्यंशकानां स्थलजलत्ववशात्-  
रूणां स्थलतोपजातत्वम् । तद्वत्तद्वत्पदार्थवाचकः कालप्रमाणनिर्गमे लप्तांशका-  
धिरतिरेपनादिकालेषु यः कालः उक्तः स एभिरेकैर्गुणनीयस्तावानप्यनादिकालः

कार्यसिद्धाविति संख्याकरणे तु राशेर्वलाधिक्ये लग्नाद्ग्रह इति पूर्वाक्तो विधिरंशस्य  
वलाधिक्येयं विधिः लग्नाद्ग्रहः स्यलजलक्षपतिस्तु यावानिति पूर्वाक्तविधौ लग्नाल-  
ग्नोदितनक्षत्रादारभ्य फलकारको ग्रहो यस्मिन्नक्षत्रे स्थितस्तन्नक्षत्रपर्यन्तं गणितैर्यावद्भिः  
संख्या तावद्भिर्दिनैर्मासैः सैवत्सरेर्वा चरादिराशिवशात्कल्पितैः फलसिद्धिः तथा  
चोक्तं षट्पञ्चाशिकायाम्—

“ग्रहः सर्वाक्तवलो लग्नाद्यास्मिन् गृहे स्थितः ।

सौरैस्तत्तुल्यसंख्यातैर्निवृत्तिर्यातुरादिशेषः ॥” इति ।

अथवा वृक्षपतिश्चन्द्रो लग्नाद्यास्मिन्नक्षत्रे स्थितश्चन्द्रस्तावद्भिरागमनं स्याच्छत्रोर्वादि-  
मध्ये न ग्रहः कश्चिदिति । पुनरप्युक्तं कृष्णीये—

“लग्नाच्चन्द्रो यतिमे ततिमे दिवसे भवेद्रोगः ।

सौम्याः पश्यन्तीन्दुं यतिमे ततिमे सुखी दिवसे ॥” इति ।

लग्नाल्लग्नगतनक्षत्रादाशौ राशिगतनक्षत्र इत्युपदेशः । शुभोशुभक्षेत्रचिरं कुभूमिर्ज-  
इत्यत्र रचिरं भवेयं दर्शनेन स्वादुग्राह्यमन्नमित्यर्थः । शुभक्षेत्रं रचिरं अद्भ्यकरं पश्य-  
मित्यर्थः । तथा च कृष्णीये—

“क्रूरक्षेत्रं क्रूरैर्दृष्टे जनपानलेपनायोग्यः ।

सौम्यक्षेत्रे सौम्यैर्दृष्टे लाभश्च भोज्याश्च ॥”

अन्तःसारानिषादिश्लोकेऽपि पुनरुक्तं शुक्रः इत्यत्र शुभशुभान् । भौमस्य  
विष्टपमाधान्यादवेरन्तःसारान् गिरिद्रुमान् चन्द्रस्य स्त्रिभान् कन्दर्पादीन् । गुरो-  
सफलान् क्रमुकादीन् शनैर्दुर्भगान् तालादीन् बुधस्य फलोत्पत्तौ नश्वरान् वेण्वादींश्च  
कथयेदिति । एतत्कृष्णीयेऽप्युक्तम्—

“शुभतरविष्टपगिरिद्रुमकदलीक्रमुकादितालवेणुनाम् ।

शुक्रमहीसुतरविशिशिगुरुपमसौरैर्वनानि स्युः ॥” इति ।

इत्याद्यस्मिन्नध्यायेषां विज्ञेयः । तथाचार्यः स्वयमपि कथयितुं शक्नोति न केचि-  
दर्या मया विदिता तेऽत्र लिखिताः ।

इति धीरराहमिहिराचार्यकृतवृहज्जातकदशाध्यायीटीकायां विद्योनिजन्माध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

( वंशस्थम् )

अथ निषेकाध्यायः ४.

कुजेन्दुहेतुः प्रतिभासमार्तवं  
गते तु पीडर्क्षमनुष्णदीधितौ ।

अतोऽन्यथास्ये शुभपुंग्वहेक्षिते

नरेण संयोगमुपैति कामिनी ॥ १ ॥

अथ निषेकाध्याय उच्यते ।

कुजेति । कुजेन्द्र हेतू यस्य तत्कुजेन्दुहेतु । आर्तवकारणं च तत्सफलं च (कुजेन्दु-  
शब्देनोच्यते) कुजेन्द्र । कुजशब्देन पित्तमुच्यते, इन्दुशब्देन शोणितमुच्यते पित्तेन  
शोणिते क्षुभिते स्त्रीणामार्तवं स्यात् । तथा च सारावल्याम्—

“इन्दुर्जलं कुजोऽग्निर्जलमसृगथवाग्निरेव पित्तं स्यात् ।

एवं रक्ते क्षुभिते पित्तेन रजः प्रवर्तते स्त्रीषु ॥” इति ।

पित्तशोणितप्रकृतयोश्चन्द्रकुजयोः सम्बन्धे सति तदिकृतस्पर्तवस्य साफल्यमि-  
त्यर्थः । ग्रहाणामन्योन्यसम्बन्धेषु दृष्टिरेव प्राधान्येनोच्यते यस्मिन् राशौ ग्रहो वा  
ग्रहस्य दृष्टिर्भवति । तत्र स्वशक्तिसंपातो भवति । ‘अशुभगदिता योगाः याप्या  
भवन्ति शुभेक्षिताः’ ( अ. ४ श्लो. २० ) । इत्येकत्र ‘दृष्टस्तु शुभैर्न यदा’ ( अ. ६  
श्लो. ३ ) इत्यन्यत्र ‘यदि न च शुभैर्वीक्षितः शक्तिभृद्भिः’ ( अ. ६ श्लो. ७ ) इत्यपरत्र  
च वक्ष्यमाणत्वादृष्टेः प्राधान्यमातिसिद्ध्यति । ननु संयोगादपि दृष्टेः प्राधान्यं विद्यते ।  
तथा च वक्ष्यति—

“जनयति नृपमेकोऽप्युच्चगो मित्रदृष्टः ।

प्रचुरधनसमेतं मित्रयोगाच्च सिद्धिम् ॥” इति ।

तस्माच्छोणितस्वरूपे चन्द्रे पित्तस्वरूपे कुजेन दृष्टे कुजकार्यपित्तेन चन्द्रकार्य-  
शोणिते क्षुभिते यदार्तवं तदेव फलकारणं भवति । पुनरेतत्किं सर्वदा नहि अनुष्ण-  
दीधितौ स्त्रियोः पीडर्क्षमनुपचयराशिगते जातं रजो हि सफलं भवति गर्भनिमित्तं  
भवतीत्यर्थः । तथा चोक्तम्—

“शीतज्योतिरपि योपितोऽनुपचयस्थाने कुजेनेक्षिते ।

जातं गर्भफलप्रदं खलु रजः स्यादन्यथा निष्फलम् ॥” इति ।

शोणितस्वरूपे चन्द्रे स्त्रीणामनुपचयराशिगते शोणितप्राचुर्याद्गर्भाशयो न शुद्ध्यति ।  
तस्मिन् पतितं रेतः क्षायिलं भवति गर्भाशये न सज्जते इति । चन्द्रस्य पीडर्क्षगतत्व-  
मधश्चमेपक्षणीयम् । अतोऽन्यथास्थे पुरुषस्योपचयगतेऽनुष्णदीधितौ शुभपुंग्रहेक्षिते  
शुभपुंग्रहो गुरुद्वयादिगतो भानुर्वा औजराश्यादिस्थितो बली बुधो वा तेष्वेकेने-  
क्षिते कामिनी नरण संयोगमुपैति । ततो गर्भो भवतीत्यर्थः । कामिनीशब्देन  
पालवृद्धादीनिपेयः कृतः अथवा कामिनी कामवती । तथा च वाग्भटः—

“क्षामप्रसन्नवदनां स्फुरच्छोणितयोधराम् ।

अस्ताक्षि दुक्षिपुंस्कामां विद्यादतुमर्ता स्त्रियम् ॥”

अयार्थान्तरमुच्यते । विवाहसिद्धिर्भविष्यति नवेति प्रश्ने कृतं ‘अतोऽन्यथास्थे  
इत्यादिना निर्णय उच्यते । अतः पूर्वोक्तादन्यथास्थेऽपीडर्क्ष गते गोचरफले जन्मराशे  
राश्य यस्मिन् राशौ चन्द्रः पीडां करोति तत्पीडर्क्षम् । तदुक्तं रत्नमालायाम्—

“दूनजन्मरिपुलाभस्त्रिगश्चन्द्रमाः शुभफलप्रद उक्तः ।”

उक्तस्थानेभ्योऽन्यानि पीडक्षाणि । प्रभादपीडर्षं चन्द्रे शुभपुंग्रहैर्गुरुरविसौम्यैर्दृष्टे विवाहो भविष्यति । तथाच पट्पञ्चाशिकायाम्—

“गुरुरविसौम्यैर्दृष्टः स्त्रीसुतमदायारिगः शशी लग्नात् ।

भवति तु विवाहकर्ता त्रिकोणकेन्द्राश्रितैः सौम्यैः ।”

कुजेन्द्रित्यादिना विवाहविघ्ना उच्यन्ते । कुजेंद्रुहाष्ट्रियोगादावार्तव रजस्वलात्वादग्राह्यत्वम्, चन्द्रे च पीडर्षं गते दुर्लभत्वमित्यादि सूचितम् । अत्रापि स्त्रीसंयोगप्रश्रयमेव विधिः कामिनी नरेण संयोगमुपैति इत्युक्तत्वात् ॥ १ ॥

( उपेन्द्रवज्रा )

यथास्तराशिर्मिथुनं समेति

तथैव वाच्यो मिथुनप्रयोगः ।

असद्ब्रह्मालोकितसंयुतेऽस्ते

सरोपदृष्टैः सविलासहासः ॥ २ ॥

यथेति—यथा येन प्रकारेणास्तराशिर्मिथुनं समेति । मिथुनकर्म करोति इत्यर्थः । मिथुनप्रयोगस्तथैव वाच्यः । द्विपदचतुष्पदकीटानां यो राशिः सप्तमराशिस्तस्य मिथुनप्रयोगवदत्रापि वदेदिति । तथा च सारावल्याम् ।

“द्विपदादयो विलमात्सुरतं कुर्वन्ति सप्तमे यद्वत् ।

पुरुषाणामपि तद्ब्रह्माधाने समादेश्यम् ॥”

किंतु सप्तमे मेपे सति कामित्वं वनिताप्रियत्वम् वृषे तु सौभाग्यत्वम् प्रमदाप्रियत्वम्, मिथुने तु सुरतोपचारकुशलत्वम्, कुळारे हि स्त्रीजितत्वम्, सिंहे स्त्रीद्वेषित्वम्, कन्यायां मुरतप्रियत्वम्, तुलायां स्त्रीजितत्वम्, बुधश्चैव स्त्रीहीनत्वम्, चापे पुरुषप्रधानत्वम्, मकरकुम्भयोगसुखावहं सुरतम्, मीने स्त्रीजितत्वमित्यादि चिन्त्यम् । अस्तराशावोजे मिथुनप्रयोगेऽप्योजसंख्या । युग्मे युग्मसंख्या । तथा च कुम्भीये—

“त्रिपमेपु ग्रहराशिषु मिथुनमेकं दिवारमितरेषु ।

वहृशो विक्रमवहृलं भृगुकुजवर्गात्मकं सुरतम् ॥” इति ।

अस्तराशिः पुरुषश्चैव पुरुषकर्तृकम्, वनिता चेतस्त्रीकर्तृकम् पुरुषराशौ स्त्रीग्रहदृष्टे युक्ते चोभयकर्तृको मिथुनप्रयोगः अधिपतिवशादुक्तग्रहवशाद्वा वर्णाश्रित्याः । तस्योच्चादिस्थितिबशात् पुरुषस्य वनितायाश्चोत्कर्षादि चिन्त्यम् । तद्ग्रहवशादाकृतिस्वभावादप्यश्रित्याः । ‘जहः शशां मात’ ( ५।१८ ) इत्यादिना दीपाश्रित्याः । ‘जीर्णं संस्कृत’ ( ५।१९ ) इत्यादिना गृहविशेषाश्रित्याः । ‘शष्पास्वपि’ ( अ. ५। श्लो. २१ ) इत्यादिना खट्वांगलक्षणं चिन्त्यम् । ‘वस्त्रं स्थूल’ ( अ. २। श्लो. १२ ) इत्या

‘अन्योऽन्यं यदि पश्यतः शशिरवौ’ ( अ. ४ श्लो. १३ ) इत्यादिश्लोकेन श्लो-  
योगान् वक्ष्यति तेषु जाता विबीजिन इति केचित् ॥ ३ ॥

( वंशस्थम् )

दिवाकरेन्द्रोः स्मरगौ कुजार्कजौ  
गदप्रदो पुङ्गवोपितोस्तदा ।  
व्ययस्वगौ मृत्युकरौ युतौ तथा  
तदेकदृष्ट्या मरणाय कल्पितौ ॥ ४ ॥

दिवाकरेन्द्रोरिति । दिवाकरः पिता, इन्दुर्माता । तथा चोक्तम्-

“भातुः पिता च जन्तूनां चन्द्रो माता तथैव च ।

तयोर्धलावले ज्ञात्वा पितृमातृगुणान्वदेत् ॥”

अनेन श्लोकेनोक्तं क्लेशमरणम् । चतुरस्रगतैः पापैश्चिन्त्यम् । ‘उग्रग्रहैः सित  
चतुरस्रसंस्थितैः’ इत्यादिना सिद्ध्यति । दिवाकरेन्द्रोरित्याद्युक्तलक्षणेन प्रश्नादौ  
प्रच्छकसम्बन्धिना स्त्रीपुरुषाणां रोगादि वा वाच्यम् ॥ ४ ॥

( वंशस्थम् )

दिवार्कशुक्रौ पितृमातृसंज्ञकौ  
शनैश्चरेन्दू निशि तद्विपर्ययात् ।  
पितृव्यमातृष्वसृसंज्ञितौ च ता-  
वथौजयुग्मर्क्षगतौ तयोः शुभौ ॥ ५ ॥

रात्रौ च पितृमातृग्रहकल्पनायां किञ्चिद्विशेषमाह-दिवार्कशुक्राविति । दिवार्कशुक्रौ  
पितृमातृसंज्ञितौ, शनैश्चरेन्दू पितृव्यमातृष्वसारी । निशि शनैश्चरेन्दू पितृमातृ-  
दिवाकरेन्दू पितृव्यमातृष्वसारी । ‘दिवाकरेन्द्रोः’ ( अ. ४ श्लो. ३ ) इत्युक्तलक्षण-  
मत्रापि चिन्त्यम् । अत्राप्यं विशेषोऽभ्युह्यः । दिवा-शुक्रस्य मातृकारकत्वात्फलत्र-  
कारकत्वं न्यूनम् । तदा सप्तमाधिपस्यैव फलत्रकारकत्वम् । रात्रौ शनेः पितृकारक-  
त्वात्प्रेष्यकारकत्वं दुर्बलम् । तदा षष्ठाधिपस्यैव प्रेष्यकारकत्वम् । अनेन श्लोकेन  
दिधानिशोः पितृमातृकारकत्वविशेषे विहितेपि दिवाकरेन्द्रोः पितृमातृकारकत्वं सम्प-  
र्हयते । तथाच सारायल्याम्-

“क्षीणे शशिनिस पापे माता धियते पिता रयौ तदत् ।

षष्टिभिर्दृष्टे मित्रव्याधिः सौम्यैः शुभं भवति ॥”

“विपुलविमलमूर्तिः स्वोच्चगो वा स्वराशौ  
 गुरुसुतपुत इन्दुवोधनेनानुदृष्टः ।  
 अतिशयमुखदाता पञ्चमे वापि मातुः  
 पितुरपि खलु तद्ब्रह्मास्करः सर्वदैव ॥” इति ।

अत्रापि दिवार्कशुक्रावित्यादिना विहितपितृमातृकारकत्वेन प्रमाणं चेदिवाकरेन्द्रो-  
 रित्यादिश्लोकस्य वैयर्थ्यं भवति । तस्मादस्मिन्नन्येऽपि तदा पितृमातृकारकत्वमकेंद्रो-  
 रस्तीत्युक्तमेव । ननु दिवाकरेन्द्रोरित्यादिनापि साक्षात्पितृमातृकारकत्वं विधीयते  
 चेत्किमर्थं पुंगलयोपितोरिति कथितम् । पुंगलयोपितोरित्युक्तेन पितृमात्रोरिति नाव-  
 गम्यते । चित्पुंगलयोपितोरित्युक्तस्य श्लोकस्य कोऽर्थः । आधानादारभ्य प्रसवावधि  
 दिवाकरेन्द्रभ्यां पुंगलयोपितोरुगुणदोषचिन्तनम् । पुनर्जन्मनः प्रभृति दिवार्कशुक्रा-  
 वित्यादिनेत्यपि योजनमेव युज्यते । ‘निगदितमिह चिन्त्यं सूतिकालेऽपि युक्त्या’  
 ( अ. ४ श्लो. २२ ) इति वक्ष्यमाणत्वात् । ‘पापैश्चन्द्रात्स्मरसुखगतैः’ ( अ. ५ श्लो. ०  
 १७ ) इत्यनेन । ‘कूरक्षगतावशोभनौ’ ( अ. ५ श्लो. ७ ) इत्यादिना चाधानादारभ्य  
 प्रसवावधेः पितृमातृत्वं, न घटतेत्येतदुर्वलमेव । पितृमातृग्रही जन्मकाले यस्य  
 नवांशके घटते तदश्यां पितृमातृमृतिः । ‘कूरेऽष्टमे विधवता नियनेश्वरोंऽंशे यस्य  
 स्थितौ घयसि तस्य समे प्रदिष्टा’ ( अ. २२ श्लो. १४ ) इति वक्ष्यमाणवशादेत-  
 त्सिद्धयति । तथा चोक्तम्—

“सूर्यो यस्य नवांशे स्यात्तदश्यां पितृक्षयः ।  
 चन्द्रेण मातृनाशः स्यादथ युक्तग्रहेण वा ॥” इति ।

प्रमाणवशादेतत्सूर्यचन्द्रसंयोगादुक्तदशोदशोदशकगते चन्द्रे मृते विंघात् ।  
 पितृमात्रोर्यथाक्रमसिद्धमित्याद्युक्तलक्षणानि आपाततोऽस्मिन्शास्त्रे विमृष्टे सिद्धयति ।  
 पुनरर्थान्तरमप्यत्रोक्तम् । शुभग्रहयोश्चन्द्रशुक्रयोर्मृतृकारकत्वम् । पापग्रहयोरर्कमन्द-  
 योः पितृकारकत्वमप्युक्तम् । तेन शुभाः गुरुशुक्रलुधाः मातृपक्षाः पापौ कुजमन्दौ  
 पितृपक्षौ एतत्प्रश्नादीं सम्बन्धिवन्धुनिरूपणेऽप्युच्यते । तथा च कृष्णोये—

“पितृपक्षौ भौमयमौ मातृपक्षा बुधोशनोऽङ्गिरसः ।  
 पुंनरहराश्यार्विपमा स्त्रीग्रहराश्याः समाः संख्याः ॥ ५ ॥” इति ।

( हुतपदम् )

अभिलपद्भिरुदयर्क्षमसद्भि-  
 र्मरणमेति = भन्प्रिमयाते ।

उदयराशिसहिते च यमे स्त्री  
विगलितोडुपतिभूसुतदृष्टे ॥ ६ ॥

अभिलपद्भिरिति । अर्थान्तरम् । उदयर्क्षमभिलपद्भिरुदयर्क्षनिरतैरित्यर्थः । शुभदृष्टिमयाते उदयर्क्षे इत्यर्थः । शुभदृष्टिमयाते इत्युक्ते सति अपराद्धोक्ते योगे 'उदयराशिसहिते च यमे' इत्यत्र 'शुभदृष्टिमयाते' इति विशेषणं नान्वेति । 'शुभदृष्टिमयाते' इत्येवमुक्तस्य पूर्वार्द्धगतत्वात् पूर्वार्द्धोक्तयोगेऽर्थबलादुदयर्क्षविशेषणत्वं स्यात् । तथाच सारावल्याम्-

"उदयं यातैः पापैः सौम्यैरनवेक्षितैर्मरणमस्याः ॥" इति ।

इत्यपराद्धोऽर्थान्तरम् । उदयराशिसहिते यमे शुभदृष्टिमयाते अप्राप्ते विगलितोडुपतिभूसुतदृष्टौ सत्यां स्त्री मरणमेति । भूसुतदृष्टे इति भावोक्तः । एष योगोऽपि सारावल्यामुक्तः—'उदयस्थितोऽर्क्षपुत्रे क्षीणेन्दौ भौमसंदृष्टे ।' इति—अर्थान्तरम्—उदयर्क्षमभिलपद्भिर्निमित्तरूपश्रुतिशकुनादिभिः स्त्री मरणमेति । शुभदृष्टिमयाते शुभशकुनदर्शनमप्राप्ते उदयराशिसहिते च यमे गुलिकशस्यादिप्रेतग्रहे । अथवा यमशब्देन मरणसूचकानि निमित्तानि सूचितानि । 'विगलितोडुपतिभूसुतदृष्टे' मनोदृग्भ्यां दुर्निमित्ते दृष्टे सतीत्यर्थः । एवं सर्वत्रास्तीति बोद्धव्यम् ॥ ६ ॥

( वैतालीयम् )

पापद्वयमध्यसंस्थितौ  
लग्नेन्दू न च सौम्यवीक्षितौ ।  
युगपत्पृथगेव वा वदे—  
घ्नारी गर्भयुता विपद्यते ॥ ७ ॥

पापद्वयमध्यसंस्थिताविति । लग्नचन्द्रयोरुभयोः पापद्वयमध्यसंस्थितयोः संवादिवं विद्यते । 'गर्भयुता विपद्यते' इत्यनेन संवत्सरस्यान्तर्विपद्यते इत्यर्थः । अर्थान्तरमुच्यते । पापद्वयं कुजशनी ताभ्यां सहिते लग्ने वा ताभ्यां दृष्टे गर्भपातो भवति । मध्यसंस्थितत्वं सहितत्वमिव । 'न च सौम्यवीक्षितौ' इत्यनेन पापग्रहवीक्षितावित्यपि सूचितम् । तथाच सारावल्याम्—

"अथवा निपेककाले विलग्नसंस्थौ यदा रुधिरमन्दौ ।

तद्गृहगतोऽथवेन्दौ तदीक्षिते वा पतति गर्भः ॥" इति ।

अभिलपद्भिरित्यादिपूर्वश्लोकं लग्ननार्णनिरूपणीयमित्युक्तम् । अनेन लग्नचन्द्रेण च निरूपणीयमिति सिद्धं भवति । युगपत्पृथगेव वेत्यत्र त्रिप्रकारोऽन्वयः ।



युगपत्पृथगेव वा लग्नेन्दु इत्येकः । युगपत्पापद्वयमध्यसंस्थिताविकराशिगतपापद्वय-  
मध्यसंस्थितावित्यर्थः । इति द्वितीयनिमित्तानि च सूचितानि । लग्नशब्देन देहो  
विवक्षितः । चन्द्रशब्देन मनस्तयोर्देहमनसोः पापद्वयमध्यगतयोः पापफलमुचक-  
दुर्निमित्तगतयोर्विद्यते । प्रच्छकस्तैलाभ्यक्ताक्षिमदनच्छेदनभेदनमुण्डनादिदेहगतदुर्नि-  
मित्तम् । वधवन्धदुःखामङ्गलचिन्तावचनादि मनोगतं दुर्निमित्तम् । भुतादि च प्रश्ने-  
काले जायते चेत्कार्यकर्तुर्नाशो भवतीत्यर्थः । न च सौम्यवीक्षितो शुभनिमित्तं न  
इत्येते चेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

( वैतालीयम् )

क्रूरे शशिनश्चतुर्थगे लग्नाद्वा निधनाश्रिते कुजे ।

धन्वन्त्यगयोः कुजार्कयोः क्षीणेन्दौ निधनाय पूर्ववत् ॥ ८ ॥

क्रूर इति । चन्द्रालम्बाद्वा चतुर्थगे क्रूरेऽष्टमे कुजे गर्भयुता नारी विपद्यते । लग्ना-  
धन्वन्त्यगयोः कुजार्कयोः शशिनरीक्षिते सति गर्भयुता नारी विपद्यते । अथवा  
पूर्ववदित्यनेन कुजार्कपापद्वययुक्ते क्षीणेन्दौ कुजेनार्केण वा युक्ते क्षीणेन्दौ लग्नगत  
इत्यर्थः तदा गर्भयुता नारी विपद्यते । पूर्ववदिति । अभिलषद्भिरुदयर्क्षमित्युक्तव-  
द्वायैः पापैः क्षीणेन्दौ लग्नगते सगर्भा नारी विपद्यत इति । तथा च सारावल्याम्—  
“लग्ने रविसंयुक्ते क्षीणेन्दौ वा कुजेन म्रियते ।

ध्ययधनसंस्थैः पापैस्तथैव सौम्यग्रहसंयुक्तैः ॥” इति ।

निमित्तं तु क्रूरे वधवन्धादिकर्तरि तस्मिन्प्राप्ते आपुञ्चारिणि वा निधनाश्रिते  
कुजे वृक्षादौ पतति वा निधनं भवति । कुजार्कयोर्दोषाग्न्यादौ हतेव मनसि क्षीणे  
वा अशोभनं भवतीत्यर्थः । उदयास्तगयोः कुजार्कयोरित्यादि । अत्र क्रमो न विव-  
क्षितः । तथा च सारावल्याम्—

“जामित्रेशेऽर्कदृष्टे लग्नगते वा कुजेऽभिपक्तस्य ।

गर्भस्य भवति मरणं शस्त्रच्छेदात्सहजन्या ॥” इति ।

अनेन युद्धप्रभ्रादौ वर्षेण्युपयोगोऽस्ति । उदयास्तगयोः कुजार्कयोः युद्धं महद्भ-  
वतीति द्रष्टव्यम् । कुजार्कयोः क्षत्रियत्वादायैतत्वाच्च तत्रापि विशेषात्कुजस्य वध-  
वन्धाधिपत्यमूह्यम् । तमोमयत्वान्मासाधिपताविति । अर्थान्तरं मासाधिपतिगु-  
रुरयनक्षणेत्पादिकालाधिपत्यवशान्मासाधिपतिगुरुपुत्रकारके तस्मिन्निषादिते गर्भ-  
पात इति ॥ ८ ॥

( वैतालीयम् )

उदयास्तगयोः कुजार्कयो—

निधनं शस्त्रकृतं वदेत्तदा ।

मासाधिपतौ निपीडिते

तत्काले श्रवणं समादिशेत् ॥ ९ ॥

( वंशस्थम् )

शशाङ्कलग्नोपगतैः शुभग्रहै-

स्त्रिकोणजायार्थसुखास्पदास्थितैः ।

तृतीयलाभर्क्षगतैश्च पापकैः

सुखी तु गर्भो रविणा निरीक्षितः ॥ १० ॥

उदयास्तगयोरिति । शशाङ्केति । इत्येवं स्थितैः शुभपापग्रहेर्गर्भः सुखी पुष्टिमान् भवति । रविणाभिधीक्षित इति गर्भस्य विशेषणं कथमिति चेदुच्यते । गर्भशब्देनाधानलभं प्रदलभं वा प्रोच्यते । लभदेहयोगं भावात् । तथा च सारावल्याम्-

“बुधगुरुशुक्रैर्दृष्टैर्केण च विवर्धते गर्भः ।

मासाधिपबलतुल्यैस्तैस्तैः संयुज्यते भावैः ॥”

इति किमर्थं पुनर्गर्भस्य रविर्वीक्षित इति विशेषणत्वेनोक्तम् । प्रभज्जातकयो-  
र्लभराशिः पुरुषः स्वयं तद्वशात्पुरुषस्य शुभाशुभसर्वस्वचिन्तनार्थम् । अनेन श्लोकेन भूयिष्ठं प्रभफलं निरूपणीयम् । तथा च सारसमुच्चये-

“विक्रमलाभविमुक्ताः पापाः सौम्यास्त्रिपष्टाष्टमान्त्यस्थाः ।

रव्यादि दुःखदाः स्युर्गुलिकः केन्द्रत्रिकोणनिधनेषु ॥” इति ।

पष्टाष्टमव्ययेषु क्रूराणां शुभानां च स्थितिः शुभा भवतीत्युक्तस्तथाप्यष्ट-  
मस्थस्य शुभस्यायुर्विषये शुभफलप्रदत्वं कथयति । जायार्थशब्देनाष्टमस्थानमपि सूचितम् ।

“सौम्यैर्गृहैस्तु दृष्टे लभे युक्ते भवेद्विगतशोकः ।

सकलत्रयसप्तमे पञ्चममे पुत्रसंभवं विन्यात् ॥

आयुषि चेदीर्घजीवी पुण्ये पुण्यालये धृद्धिम् ॥” इति

इत्यत्र प्रथमं लभदोषगुणाश्रित्याः । लभरय देहत्वात्प्रथमनवमौ तत्समावेष्ट-  
तसूचनार्थं त्रिकोणं प्रथममुक्तम् । तथा च विद्वज्जनवल्लभाख्ये प्रश्नशास्त्रे ।

“पृष्ठादये स्याद्यदि धर्मसंस्थः पापो भवेदात्मजसंस्थितो वा ।

नाशस्तस्य क्षिप्रमिहास्ति नूनमितोपसर्पति यदेतदाशु ॥” इति

तथान्यायं-

“मत्तमपञ्चमनयमोपैर्गुरुधुधुर्ग्रेयवेप्सितावाप्तिः ।

पथप्रिकलाभोपगतैः क्षितिसतरपिसुर्यजगत्तटम् ॥”

किञ्च पंचमं पुत्रस्थानं बुद्धिस्थानं च, नवमं पितृस्थानं भाग्यस्थानं च । तस्माच्च त्रिकोणयोर्लभतममस्ति । पट्टत्रिकलाभोपगतैरित्यत्र पष्ठे पापाः शुभा इत्युक्तम् । 'शशांकलभोपगतैः शुभग्रहैः' इत्यत्र तृतीयलाभसंगतैरित्येवोक्तम् । तस्मात्पष्ठस्थानगानां पापानां स्थितिर्न प्रशस्ता । तत्रायं विशेषः । देहविषये प्रश्ने पष्ठे पापस्थितिरप्रशस्ता । पष्ठस्थानस्य रोगसूचकत्वात् 'व्रणकृदशुभः पष्ठे लभान्तनी पापाभित' इति वक्ष्यति च । शशांकलभोपगतैरित्युक्तत्वाल्लमाच्चन्द्राच्च निरूपणीयमिति स्पष्टमुक्तम् । ताभ्यामन्ये च भावाश्चिन्त्याः तयोर्वलाधिकादित्यादि सिद्धं भवति । बलाचलविकल्पेन तयोरुक्तं विचिंतयेदिति वक्ष्यति त्रिकोणजायार्थसुखास्पदास्यैरित्यत्र क्रमेण निरूपणीयमिति सूचितम् । आत्मनिरूपणादनन्तरं शुभस्थानं वा निरूपणीयम् । गृहस्थस्य पुत्रस्थानमन्येषां धर्मस्थानं पुरुषार्थयोनित्वात्ततो गृहस्थस्य स्वभार्यास्थानं तत एव गृहपतिः स्त्रीवर्गफलं, साधयति सर्वेषां कर्मणां धनसापेक्षत्वाद्धनस्थानं च विशेषाच्चिन्त्यम् । तथा चोक्तं वाग्मदेन-

“उत्तिष्ठेत ततोऽत्ययमर्थमुत्थानवन्धुषु ।

निन्दितं दीर्घमप्यायू रसन्ति हितसाधनम् ॥”

इति पूर्ववन्धुग्रहं सुहृन्नादि चिन्त्यम् । पुनः कर्म निरूपणीयमित्यादि ॥९॥ १०॥

( शार्दूलविक्रीडितम् )

ओजर्क्षे पुरुषांशकेषु बलिभिर्लग्नार्कगुर्विन्दुभिः

पुंजन्म प्रवदेत्समांशकगतैर्युग्मेषु तैर्योपितः ।

गुर्वकौ विषमे नरं शशिसितौ वक्रश्च युग्मे स्त्रियं

व्यङ्गस्था बुधवीक्षिताश्च यमलौ कुर्वति पक्षे स्वके ॥ ११ ॥

ओजर्क्षे इति । क्रूरः सौम्यः पुरुषवनिते इत्यग्रीजराशीनां पुरुषसंज्ञोक्ता तेनोजराशी ओजांशे मेषमिथुनादी ऽस्त्वं भवति लमस्यार्कस्य गुरोरिन्दोश्चौजराशपंशकयोः स्थितिश्चेन्निःसंदिग्धं, पुं प्रजा भवतीति वक्तव्यम् । युग्मराशौ युग्मांशकगतैस्तेर्योपितो जन्म वक्तव्यम् । किमत्र राशिगुणादेव पुंस्त्रीविभागो निरूप्यते न चेत्पुरुषग्रहयोरर्कगुणोर्गुणोपि निरूपणीयो भवति । इह प्रकारान्तरमुच्यते । लग्नस्य लमांशस्योपि जन्मे चन्द्रस्यापि स्त्रीग्रहत्वे स्वस्त्रीराशपंशकत्वात्स्त्रीत्वं वक्तव्यम् । अर्कगुणोः स्त्रीराशपंशकयोः स्त्रीत्वं तस्मात्स्त्रीत्वलक्षणस्याधिक्याद्योपितो योपि जन्म, प्रवदेदित्युक्तम् । गुर्वर्कौ विषमे इत्यादि स्वतः पुरुषग्रहयोर्गुर्वर्कयोरकस्य पुंस्त्वसूचकत्वम् । राशपंशकयोर्युग्मसंज्ञयोः स्त्रीसूचकत्वमुक्तं च । कयमिदमुपपन्नं भवति । उच्यते-

चक्रस्य तु नष्टादौ चौरादिपरिज्ञाने पुरुषसूचकत्वम् । नरास्तु शेषा इत्यत्र रविः पिता, गुरुः पुत्रः, कुजे भ्राता इत्याभिप्रेतः । पुत्रविषये पुत्रस्थानगतश्च पुत्रमरणं पुत्रोऽवनेर्यच्छतीत्युक्तस्य भौमस्य स्त्रीराश्यवस्थाने स्त्रीसूचकत्वम् । तथा च प्रभ्र-  
शास्त्रान्तरे—

“आरूढलमच्छत्रेन्दुसुतधर्मास्तगे कुजे ।

शुभस्यैव दृष्टे तु वक्तव्या ह्यनपत्यता ॥” इति ।

‘शशिसितौ वक्रश्च युग्मे स्त्रियं कुर्वन्ति’ इत्युक्तम् । तत्र शशिसितयोः सहपाठः कृतः वक्रश्चेति पृथगुपदेशस्तेनायमर्थो गम्यते शशिसितयोर्युग्मराश्यवस्थाने वक्रस्यापि युग्मावस्थानं सूचकम् । ओजर्क्षे पुरुषांशकेष्वित्यनेन राश्यंशकयोराहतद्रव्यस्य च विषमसंख्यत्वं सूचितम् । पुरुषांशकेषु पुरुषाणां दक्षिणभागेषु कालाङ्गानीति कल्प-  
नयौजराशिवशेन पुंजन्म व्यत्यये स्त्रीजन्म किं बहुना यद्यदोजसंज्ञं यत्पुरुषसंज्ञं च तत्पुरुषसूचकम् । एतद्विपरीतसूचकमित्यर्थः । किंचिदर्थान्तरमस्ति ओजर्क्षे पुरु-  
षांशकेषु स्थितैर्बलिभिर्लमार्कगुर्विन्दुभिर्जाताः पुंजन्मभाजो भवन्ति शक्ता भवन्ती-  
त्यर्थः । अन्यथा स्त्रीजन्मभाजः चपला इत्यर्थः । शेषेण यमललक्षणमुच्यते ॥ ११ ॥

( उपजातिः )

विहाय लग्नं विषमर्क्षसंस्थः

सौरोपि पुंजन्मकरो विलग्नात् ।

प्रोक्तग्रहाणामवलोक्य वीर्यं

वाच्यः प्रसूतौ पुरुषोद्भवा वा ॥ १२ ॥

विहायेति । सौरोऽपीत्यपिशब्दान्प्रसक्तसंज्ञोऽपि विषमर्क्षसंस्थितिवशात्पुंजन्मकरः स्यादिति सूचितम् । प्रोक्तग्रहाणामिति । प्रोक्तानां रविचन्द्रकुजगुरुशुक्राणां मध्ये स्त्रीग्रहो बलवान् । पश्यति गतो वा पुत्रस्थानं यदि स्त्रीजन्म पुंग्रहस्तथा स्थित-  
श्चत्पुंजन्म वीर्यं कारणम् । अर्थान्तरं रविगुवांः पुंस्त्वं चन्द्रशुक्रयोः स्त्रीत्वम् । तेषां पुंस्त्रीराशिगतत्वादवलोक्य प्रसूतौ पुरुषो वाच्यः अङ्गना वा पुरुषस्त्रीतरचेष्टा वा यत्किंचित् पुरुषसंज्ञवशात्पुंजन्म यत्किंचित्स्त्रीसंज्ञावशात्स्त्रीजन्म इति ॥ १२ ॥

( शार्दूलविक्रीडितम् )

अन्योन्यं यदि पश्यतः शशिरवी यद्यार्किसौम्यावपि

वक्रो वा समगं दिनेशमसमे चन्द्रोदयो चेत्स्थितौ ।

युग्मोजर्क्षगतावर्षान्दुःशशिजौ भूम्यात्मजेनेक्षितौ

पुंभागे सितलग्नशीतकिरणाः पद् क्लीवयोगाः स्मृताः ॥ १३ ॥

अन्योन्यमिति । एवं क्रीवयोगा उक्ताः न केवलमाधानप्रश्नकालाभ्यां नपुंसक-  
जन्मसूचकाः जातस्य जन्मकाले सन्ति चेत्संततिहानिकरा इति केचित् ॥ १३ ॥  
(शार्दूलविक्रीडितम्)

युग्मे चंद्रसितावयौजभवने स्युर्ज्ञारजीवोदया  
लग्नेदू नृनिरीक्षितौ च समगौ युग्मेपु वा प्राणिनः ।  
कुर्युस्ते मिथुनं ग्रहोदयगतान्द्व्यङ्गांशकान्पश्यति ।

स्वांशे हे त्रितयं ज्ञगांशकवशाद्युग्मं त्वमिश्रैः समम् ॥ १४ ॥

युग्म इति—अनेन श्लोकेन मिथुनप्रयोगं दर्शयते । युग्मे चन्द्रसितावित्येकः,  
ओजभवने स्युर्ज्ञारजीवोदया इति सिद्धं भवति ॥ १४ ॥

(उपजातिः)

धनुर्धरस्यान्तगते विलग्ने

ग्रहेस्तदंशोपगतैर्वलिष्टैः ।

ज्ञेनार्किणा वीर्ययुतेन दृष्टे

सन्ति प्रभूता अपि कोशसंस्थाः ॥ १५ ॥

धनुर्धरस्येति । अस्य योगस्य दुर्लभत्वात्फलमपि दुर्लभं भवति । उत्तरत्र  
लघ्राप्यत्रकलत्रमे इत्याद्युक्तस्यापत्यस्य पुत्रस्त्रीनपुंसकत्वम् । एकादित्वबहुत्वे  
'ओजर्क्षेपुरुपांशेषु' इत्यादिभिः पञ्चभिः श्लोकेर्निरूपणीये भवतः ॥ १५ ॥

(कुटक-वृत्तम्)

कललघनांकुरास्थिचर्मागजचेतनताः

सितकुजजीवसूर्यचंद्रार्किंनुधाः परतः ।

उदयपचन्द्रसूर्यनाथाः क्रमशो गदिता

भवन्ति शुभाशुभं च मासाधिपतेः सदृशम् ॥ १६ ॥

कललेति । आधानकालादारभ्य सप्तसु मासेषु कललादीनि जायन्ते  
तेषां कललादीनां दातारः सितादयो मासाधिपा भवन्ति शुभाशुभं च मासाधिपतः  
सदृशमित्युक्तत्वात्सितादयः प्रथमादिमासाधिपतयः इति सिद्धं भवति । प्रथमादि-  
सप्तसु मासेषु कललादि सप्तावस्था जायन्ते । परिशिष्टेषु त्रिषु मासेषु  
अष्टमे मासि ध्रुव्या नवमे मास्युदयः दशमे मासि परिपूर्णार्धः पृक्तं फलमिव  
भवति । प्रयोजनाभावाद्दर्भस्य ध्रुव्यावस्था नोक्ता परतोऽष्टमादिमासेषुदयचन्द्रसूर्य  
नाथा इत्यर्थः । तथा च सारावत्पाम्—

“मासेष्वाधानादिषु गर्भस्य यथाक्रमेण जायन्ते ।

सप्तसु फललघनांकुरास्थित्वगोमचेतनानि ॥

पुनरष्टमे मासि तृष्णा क्षुधा च नवमे तथोद्वेगः ।

दशमे ततोऽतिपूर्णः पक्वमिव फलं भवति ॥” इति

अर्थान्तरम् । मासाधिपतेः सदृशमिति ‘मासाधिपो न क्षणे’ इत्यादिना

गुरुरुच्यते पुत्रकारकत्वादुरोर्बलं चिन्तनीयमित्यर्थः ॥ १६ ॥

(वंशस्थम्)

त्रिकोणगे ज्ञे त्रिवलैस्तथापरै-

मुखान्निहस्तौर्द्विगुणस्तदा भवेत् ।

अवाग्गवीन्दावशुभैर्भसंधिगैः

शुभेक्षितश्चेत्कुरुते गिरं चिरात् ॥ १७ ॥

त्रिकोणगे इति । लक्षणसाम्ये यथोक्त एवार्थः ईष्यतृणत्वे द्विगुणत्वं बहुत्व-  
मेवोद्भूतम् । अवागिति । अशुभैरित्यत्र तृतीया विभक्तिर्हंतौ एकेन पापेन भसं-  
धिगेन वाचोऽलसत्वं द्वाभ्यां वाचोत्पत्तत्वं त्रिभिः पापैर्भसन्धिगैः सुगन्धत्वमप्युद्भूतम् ।  
अर्थान्तरम् । शुभेक्षित इत्यस्मादीक्षितशब्दमध्याहृत्य अशुभैरीक्षितैरित्यन्वयः  
कर्तव्यः । तदानीं वृषभसंधिगैरशुभैरीक्षितेऽवागपीत्यर्थः । तथा च सारावल्याम्—

“कुरैर्ग्रहैः सन्धिगतैः शशिनि वृषे सौरभे भौमसंहृष्टे ।

मूकः सौम्यैर्दृष्टं वागपि कालान्तरे भवति ॥”

अत्र गोशब्दो वाक्पर्यायत्वेनाप्यूहः गवि वाक्स्थाने स्थितैः अशुभैरथवा वाक्-  
स्थाने शुभैर्वीक्षिते वेन्दौ अशुभैः सहिते वीक्षिते, वा अवाग्भवति वाग्गुणहीनो  
भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

सौम्यर्क्षांशे रविजरुधिरौ चेत्सदन्तोऽत्र जातः

कुब्जः स्वर्क्षे शशिनि तनुगे मन्दमाहेयदृष्टे ।

पंगुर्मीने यमशशिकुजैर्वीक्षिते लग्नसंस्थे

संधौ पापे शशिनि च जडः स्यान्नचेत्सौम्यदृष्टः ॥ १८ ॥

साम्यर्क्षांशे इति । बुधशंके बुधराशौ वा तमोमयौ रविजरुधिरौ चेदस्मिन्योगे  
सदन्तो दन्तसहितो गर्भस्थो वाच्यः (चेत्सदन्तः सत् शोभनमन्तः-करणं यस्य

स सदन्तः शुभमानस इत्यर्थः । अथवा सदन्तः शुभमरणमिति वा । कुब्जः स्वर्क्षे  
शशिनि तनुगे इत्यत्र बहवः प्रकाराद्योत्पन्ते । लग्नस्यस्य चन्द्रस्य फलं भावाध्याये-

“मूकोन्मत्तजडांगहीनवाधिरः भ्रेष्यः शशाकोदये” इति वक्ष्यति ।

पुनः ‘स्वर्क्षोजोच्चगते धनी’ इति च वक्ष्यति । स्थानाभितराशिवशात्फलस्या-  
न्यथात्वं दर्शितम् । इह तु स्वर्क्षे चन्द्रे लग्ने मन्दमोहेपदृष्टे इति विशेषात्कुब्जत्व-  
मप्युक्तम् । तस्माद्बहस्यान्यग्रहदर्शनवशादपि फलभेदोऽस्तीति च तर्कणीयम् ।  
पंगुर्मेनि इति प्रदनादौ मीनराशौ लग्नगते पंगुगतिरुह्या । अथ मूढश्चपलः न चैत्सौ-  
म्यदृष्टिरिति सर्वारिष्टयोगेषु क्षेपणीयम् ॥ १८ ॥

(बोधक-वृत्तम्)

सौरशशांकादिवाकरदृष्टे

वामनको मकरांत्याविलग्ने ।

धीनवमोदयगैश्च दृकाणैः

पापयुतैरभुजांघ्रिशिराः स्यात् ॥ १९ ॥

सौरिति । सौरशशाङ्क इति श्लोकपूर्वार्थः स्पष्टार्थः । धीनवमोदयगैरिति । लग्ना-  
दिद्वेष्काणेषु पापयुक्तेषु हस्तवाधा, तृतीयद्वेष्काणेष्वङ्गप्रिवाधा । अथवा धीराशि-  
गतेषु त्रिषु द्वेष्काणेषु हस्तवाधा, नवमराशिगतेषु त्रिषु द्वेष्काणेषु अङ्गप्रिवाधा  
इत्यादि द्रष्टव्यम् ॥ १९ ॥

(हरिणीवृत्तम्)

रविशशियुते सिंहे लग्ने कुजार्किनिरीक्षिते

नयनरहितः सौम्यासौम्यैः सवुद्बुदलोचनः ।

व्ययगृहगतश्चन्द्रो वामं हिनस्त्यपरं रवि-

स्त्रशुभगदिता योगा याप्या भवन्ति शुभेक्षिताः ॥ २० ॥

रयति । रविशशिकुजार्किर्नयनरहितो जायते कथं सिंहलग्ने रविशशिम्यं  
युक्ते कुजार्किदृष्टे अन्यो भवति । सौम्यासौम्यैर्दृष्टे सवुद्बुदलोचनोऽर्थादसौम्येन दृष्टे  
सौम्यैर्दृष्टेऽनेधः इति । व्ययगृहगते रविचन्द्रयोः कुजार्किदृष्टिरनुवर्तते उत्तरप्रानि-  
ष्टाध्याये “निधनारिधनव्ययस्थिता रविचन्द्रारयमा यथाक्रमम् ॥ बलबद्गृहदोषकारणै-  
र्मनुजानां जनयन्त्यनेनताम् ॥” इति वक्ष्यति । तेन बहवो योगा उच्यन्ते । कथमिति  
चेदुच्यते यथाक्रमम् । बलबद्गृहदोषकारणैर्यथाविधि ‘मधुपिङ्गलदृग्’ इत्यादिग्रन्थो-  
क्तस्य पित्तादिभिर्बलबद्गृहदोषैर्दशाकाले निभनादिधनव्ययस्थिता रव्यादयो गर्भस्य

जातस्य वां नेत्रहानिं जनयन्ति । तत्रायमुपदेशो वेदितव्यः । उत्क्रमेण ग्रहाणां स्थिती रविचन्द्रौ व्ययधनगतौ यमारौ निधनारिगतौ चेदन्धो भवतीति । तथा च सारावल्याम्—

“धनराशौ द्वादशभे चन्द्राकौ वीक्षितौ यस्य ।

सोऽपि भवत्येवान्धो यद्यष्टमपष्ठगाः पापाः ॥” इति ।

निधने रविः पापदृष्टश्च नयनपीडा स्वल्पात्मजो निधनगे विकलेक्षणश्चेति भावाध्याये । अथ यथायोगं वक्ष्यति इति च पष्ठान्त्ययोः रविचन्द्रयोर्व्ययगतस्य रवेश्च स्वन्यावक्षं नयनहन्तृत्वमुक्तम्—

“लम्बाद्यपारिगतयोः शशितिग्मरश्मयोः ।

पत्न्या सहैकनयनस्य वदन्ति जन्म ॥”

इत्युक्तत्वात्तस्माद्यपारिगतयोश्चन्द्रसूर्ययोः कुजसौरयोश्च नयनहन्तृत्वमूह्यम् । दिनकरप्रतिमोऽन्यसंस्थ इत्युक्तत्वाद्दिनकरसमोऽन्यत्र कथितः इत्युक्तत्वाच्च । तथा च सारावल्याम्—

“वक्रो वा सौरो वा द्वादशभे वीक्षिते नयनहन्ता ॥”

अधनार्योः स्थितयोः क्रमेणोत्क्रमेण वा रविचन्द्रयोर्धनव्ययगतयोरारयमयोर्दृष्टिर्भवत्येव तदा नेत्रनाशो भवति । नेत्ररोगं वैकल्यादिर्वा भवतीत्याद्यभ्यूह्यम् । यथाक्रममित्यत्र यथातथा इत्यपि पाठः । अगुभगदिता योगा याप्या भवन्तीति सर्वारिष्टयोगापवादः ॥ २० ॥

( वसंततिलका )

तत्कालमिन्दुसहितो द्विरसांशको य—

स्तत्तुल्यराशिसहिते पुरतः शशांके ।

यावानुदेति दिनरात्रिसमानभाग—

स्तावद्व्रते दिननिशोः प्रवदन्ति जन्म ॥ २१ ॥

प्रसवलग्ने निर्णय उच्यते—

तत्कालमिति । इन्दुमदितरादयंशयोर्यस्य बलाधिक्यं तस्य द्वादशशोऽत्रद्विरसांशशब्देनोच्यते । बलयोगात्कलमंशं दर्शयोरित्युत्तरत्र स्वयमेव वक्ष्यति । तत्कालेन्दुनवांशद्वादशभागे विनिर्दिशेच्चन्द्रमिनि शास्त्रान्तरेऽप्युक्तम्, ततश्चन्द्रस्य नवांशस्थितिरप्यनेन निरूपणीया । तत्कालमिति प्रश्नकालाधानकालौ द्वावपि गृह्येते ॥ २१ ॥

( मालिनी )

उदयति मृदुभांशे सप्तमस्थे च मन्दे

यदि भवति निपेकः सूतिरब्दत्रयेण ।



शशिनि तु विधिरेष द्वादशेन्द्रे प्रकुर्या-

न्निगदितमिह चित्यं सूतिकालेपि युक्त्या ॥ २२ ॥

इति श्रीवराहमिहिराचार्यकृते होराशास्त्रे बृहज्जातके  
निषेकाध्यायश्चतुर्थः ॥ ४ ॥

उदयतीति । न केवलं तत्कालमिन्दुः सहितमित्यादिना प्रसवकालो निर्णीयते ।  
लम्बचन्द्राभ्यां द्वाभ्यामपि निरूपणीयमित्यनेन श्लोकेन सिद्धं भवति । अपि च  
राश्यंशकालाधिपाश्चिन्याः चन्द्रांशकैः कालविधानमूह्यम् । ननु शनेर्दृष्टिरेवापेक्षणीया  
चेत्सप्तमस्ये मन्दे इति न वक्तव्यम् । नैष दोषः । अन्यदप्याकूतमास्ति । सप्तमस्य-  
शनिदिग्बलमुक्तः केन्द्रस्थाने भवति । लग्नदृष्टा च भवति । तस्मात्तेन फलं वक्त-  
व्यमिति । शनिमृदुभागके मारेऽशमन्ददृष्टेन द्वादशाब्देन शशिनः कालविलंबउक्तः ।  
एवं राश्यंशकतदधिपतिदृष्टग्रहवशाच्चिरान्मध्यमकालेनाशु वा प्रसवकालाश्चि-  
न्य इत्युक्तं भवति । त्रिभिर्लक्षणैः । संवादभूयिष्ठ्यां चिन्तायामेवायं विधिः ।  
तथाहि-प्रारब्धस्य कार्यस्य वा लब्धिकाल उक्त इति सूचितम् । इह गदितं  
सूतिकालेपि युक्त्या इति । गर्भस्थावादि न वक्तव्यमिति । तत्र तत्र युक्त्या चिन्त्य-  
मिति सिद्धं भवति । देशकालानुरूपमपि चिन्त्यम् । पुनः प्रसवाविलम्ब इत्यर्थः २२ ।  
इति श्रीवराहमिहिराचार्यकृतबृहज्जातकदशाध्यायीटीकायां त्रयोविंशत्याध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

अथ सूतिकाध्यायः ५.

( अनुष्टुप् )

पितुर्जातः परोक्षस्य लग्नमिन्दावपश्यति ।

विदेशस्थस्य चरमे मध्याद्भ्रष्टे दिवाकरे ॥ १ ॥

जन्माध्याय उच्यते-

पितुरिति । तत्र मातृकारकस्य चन्द्रस्य लग्नदर्शनाभावे पितुः परोक्षत्वमित्यु-  
क्तस्य किञ्चिदभिप्रायान्तरमास्ति मातृविषयमारिष्टादिलक्षणं चापितृविषयं  
भवति तासान् मातृमरणं निधने इत्युक्तत्वात् । अथवा दिवाकरे लग्नमपश्य-  
तीति वान्वयः । मध्याद्भ्रष्टे उदासीनराशेर्भ्रष्टे । 'भ्रष्टु अनवस्थाने' इति धातुः ।  
तस्माद्भ्रष्टशब्देन हीनवले शत्रुनीचर्त्तगत इत्यर्थः परोक्षस्यासन्निकृष्टस्य पितुर्जात  
इत्युक्तं भवति चिरकालं पितृसहवासो न भवतीति वा । उक्तं च चृष्टस्पर्तिना  
विवाहप्रश्ने-

“यदि नीचारिगो लग्नमारुद्धं वा न पश्यति ।

अर्कः स्त्रियः पिता नास्ति मातेन्दुश्चेत्तयाविधः ॥”

पुनरप्यर्थान्तरमूह्यम् । विदेशस्थस्येति । विवाहप्रश्ने इति । अयं विधिः फलदग्र-  
हविषयः । लग्नेशविषये वा चरराशौ स्थिते विदेशे वर्तते, चरद्रेष्काणे नवांशे वा  
तस्मिन् ग्रहे मध्यादृशमाद्या सप्तमस्थिते विदेशगतः प्रोषित इति वाच्यः । तथा  
च कृष्णीये-

“चरराशौ च विलग्नं द्रेष्काणे वा चरांशकेभ्युदिते ।  
मध्याच्च्युते वा ग्रहे प्रवासचिन्तां विजानीयात् ॥” इति ।

मध्यादृशं इत्यनेन ऊहप्रकारः सूचितः कथमुच्यते मध्यलग्नादारभ्य पाताललग्न-  
पर्यन्तं चक्रार्द्धभागमितरार्धभागः स्वदेशः ततो मध्यादृष्टे विदेशगत इत्युक्ते सप्तम-  
स्थे परमविषयकर्पाद्रन्तव्यदेशस्थ इत्यूहः । पाताललग्नान्तरस्थे विदेशात्स्वदेशं प्रति  
निवृत्तिः । ग्रहस्तावच्चक्रगत्या पश्चिमाभिमुखः इत्यपि दृश्यते । तस्मान्मध्यादृष्टे  
विदेशगत इत्युपपन्नम् । पुनः सप्तम राशेश्चतुर्थराश्याभिमुखं इव दृश्यते अवल-  
म्बमानो दृश्यते । ततश्चतुर्थराशिगते गृहगत इत्युपपन्नम् । तथा च कृष्णीये-

“हिबुकं ग्रहे प्रविष्टे गृहप्रविष्टं प्रवासिनं विन्यात् ।  
हिबुकास्तमयान्तरगे ग्रहे तु पथि वर्तते पुरुषः ॥” इति ॥ १ ॥  
(अनुष्टुप्)

उदयस्थेपि वा मन्दे कुजे वास्तं समागते ।

स्थिते वांतः क्षपानाथे शशांकसुतशुक्रयोः ॥ २ ॥

उदयस्थ इति । उदयसप्तमराशयोरपि प्रवासी विदेशस्थ एव न तदानीमाग-  
च्छतीत्यादि । शशांकसुतशुक्रयोः क्षपानाथे चोदयास्तमयोः सत्सु घान्त इति  
विदेशस्थः स्थितदेशात्स्वदेशं प्रति निर्गत इत्यर्थः । शशांकशुभशुक्राणां सूर्याच्छी-  
प्रगतिरित्यात् ॥ २ ॥

(अनुष्टुप्)

शशांके पापलग्ने वा वृश्चिकेशत्रिभागगे ।

शुभैः स्वायस्थितैर्जातः सर्पस्तद्वेष्टितोपि वा ॥ ३ ॥

शशांक इति । विषल्लोत्तया कोपि विशेष ऊहः । पापक्षेत्रं लग्नं, शशांक-  
क्षेत्रं मारुभयोरपि वृश्चिकेशत्रिभागाभितत्ये संवादात्कवलः सर्पः संवादाभावे तद्वेष्टित  
इति । अथवा वृश्चिकेशत्रिभागगो वृश्चिकराशिस्थद्रेष्काणो वृश्चिकाधारद्रेष्काण  
इत्यर्थः । वृश्चिके हि प्रथमद्रेष्काणो वृश्चिकसंज्ञः, द्वितीयो मीनसंज्ञः, तृतीयः  
शुक्रारः, चतुर्थः मरीचिपाः । तथा च कृष्णीये-

“वृश्चिकमीनकुलीराः सरीसृपाणां वदेद्योनिः ॥” इति ।

एतेषु द्रष्टव्येषु सरीसृपा उच्यन्ते । अथवा वृश्चिकेशशब्देन कुलीरराह उच्यते तद्युक्ते त्रिभागे लग्नगते सर्प उक्त इत्युक्तं भवति । तद्वेष्टितोऽपि वेति विकल्पोक्त्या सर्वत्र लक्षणे ईदृशविकल्प उच्यते । पापलग्नशब्देन विषयरा उच्यन्ते तेषामीशाः सर्पास्तैर्युक्तेषु त्रिभागेष्वद्यत्सु चन्द्राधिष्ठितेषु वा सर्पा उच्यन्ते । अथवा वृश्चिकेशशब्देनोभयोदये प्रसूतां चन्द्रेऽप्युभयाभितोऽशराशौ वा यमलांशे जायेशग्रहयुक्ते द्यून्मे वलिनि चन्द्र भार्याद्वितीयं प्रवदेत्तृतीयं तु गुणविशेषेणेत्यादि ॥ ३ ॥

( अनुष्टुप् )

चतुष्पादगते भानौ शेषैर्वीर्यसमन्वितैः ।

द्वितनुस्यैश्च यमलौ भवतः कोशवेष्टितौ ॥ ४ ॥

छागे सिंहे वृषे लग्ने तत्स्थे सौरेऽथवा कुजे ।

राश्यंशसदृशे गात्रे जायते नालवेष्टितः ॥ ५ ॥

चतुष्पादिति । अस्मिन् योगे जातः कदाचिद्बद्धो भवतीत्यपि सूचितम् । अथ मृनादौ बद्धो न वेति पृष्टे एवं च बद्धो भवतीत्याद्युक्तम् ॥ ४ ॥ ५ ॥

( वंशस्थम् )

न लग्नमिन्दुं च गुरुर्निरीक्षते

न वा शशाङ्कं रविणा समागतम् ॥

सपापकोर्केण युतोऽथवा शशी

परेण जातं प्रवदन्ति निश्चयात् ॥ ६ ॥

न लग्नमिति । लग्नं चन्द्रं च गुरुरेकप्रकारेणापि नावलोकयति एको योगः । अथवा लग्नं विधोः रविणा समागतः शशाङ्को गुरुणा न दृष्टश्च द्वितीयो योगः । सपापकोर्केण युतः शशाङ्को गुरुणा न दृष्टश्चेतृतीयो योगः । अत्र योगाः परजातकस्य सूचकाः । अत्रोच्चरयोगयोः प्रथमयोगस्य परयोगान्तरभावात्किमर्थमुपदेशः कृतं इति चेत्कोऽपि विशेषोऽभ्युद्यः । रविणा समागतम् इत्यत्र रविशशिनीरत्यन्तसंनिकृष्टत्वम् । सपापकोर्केण युत इत्यत्रैकराशौ योगमात्रमेवोक्तम् । न लग्नमिन्दुं च गुरुर्निरीक्षते इत्यत्र न चन्द्रस्य गुरुवर्गस्थितिरपि निषिध्यते गुरोः सत्त्वगुणात्मकत्वाज्ज्ञानस्वरूपकत्वादिप्रवर्णस्वामित्वाच्च लग्नचन्द्रयोस्तस्य प्रक्षणेन तस्याः शुद्धिर्न भवति । लग्नशशिनी जाताशिशोश्चन्द्रो माता, जातस्य च परजातत्वेन

मातुश्च दोषो भवति परपुरुषगामित्वादित्येतावता लग्नचन्द्रयोर्गुरुदृष्ट्या शुद्धिर्न जायत इत्युच्यतेऽनिष्टाध्याये असितकुजयोर्वर्गे तस्ये सिते तद्वेक्षिते परपुत्रातिगः इति वक्ष्यति । तत्रासितकुजयोर्दृष्टत्वे द्रष्टव्यस्य तस्य तयोर्वर्गस्थितिरप्युक्ता तत्रापि चिन्तनीयमस्ति । तथा च भगवान्गार्गिः—

गुरुक्षेत्रगते चन्द्रे तद्युक्ते वान्पराशिगे ।

तद्द्रष्टाणे तदंशे वा न परेजात्र इष्यते ॥ ६ ॥

( वैतालीयम् )

क्रूरक्षगतावशोभनौ सूर्याद्व्यूननवात्मजस्थितौ ।

वद्वस्तु पिता विदेशगः स्वे वा राशिवशादथो पथि ॥ ७ ॥

क्रूरक्षेति । वद्वस्त्वित्यत्र तुशब्देन दिवाकरेन्द्रोरिति दिवार्कशुक्राविति श्लोकाभ्याम् अर्थो निरूपणीय इत्युक्तं भवति । तथा च सारावल्याम्—

“द्युनिशोरर्कासितयोः कुजेन संदृष्टयोः पिता वन्द्ये ।

परदेशे चरराशौ युक्तेक्षितयोश्च तत्र मृतः ॥

क्षिणे शशिनि च पापे माता म्रियते रवौ पिता तद्वत् ।

पापैर्धलिभिर्दृष्टे मिश्रैर्व्याधिः शुभं सौम्यैः ॥

चन्द्राच्चिकाणराशौ रविजो मातुर्वधं दिशति ।

रात्रौ शुक्रात्तथैव दिवसे भीमः पापेन संदृष्टः ॥

यत्र स्त्री तत्रस्थो रुधिरारूपशनैश्चरोक्षितश्चन्द्रः ।

जननी मृत्युं कुर्यान्नतु सौम्यनिरीक्षिते सद्यः ॥

रुधिरशनैश्चरदृष्टो दिवाकरो दिवसजन्म ।

निरीक्षितः पापयुतो हन्यात्पितरमसंशयं जातः ॥

सूर्यादष्टमराशौ यदि युक्तौ सौरलोहितौ प्रसवे ।

सौम्यादष्टौ निधनं कुर्यातां सद्य एव पितुः ॥

पापग्रहसंयुक्तश्चरराशिगतो दिवाकरः प्रसवे ।

विपजलशस्त्रैस्तास्मिन् कथयति अल्पायुषं पुरुषम् ॥” इति ।

रात्रिजातस्य सूर्यस्थाने शशिनं प्रकल्प्यार्कादुक्तानि लक्षणानि वदेत् । दिवा-  
शुक्रचन्द्रवत्प्रकल्प्य मातुर्लक्षणानि वदेत् । रात्रौ चन्द्रान्मातुरिति । दिवार्कशुक्रावित्य-  
नेन सिद्ध्यति । नवमाधिपं सूर्यवत् । चतुर्थाधिपं चन्द्रवत् परिकल्प्य सर्वान्पितृ-  
मातृगुणदोषान् वदेत् । अत्र तु विदेशगतं प्रति पृच्छति चेहमाद्व्यूननवात्मज-  
स्थितावशोभनौ यदि तदा विदेशगतः । पुरुषो वद्व इति वक्तव्यम् । क्रूरक्षगता-  
वित्यनेन सर्वत्रानिष्टफलदानां ग्रहाणां स्थितस्थानं च च निरूपणीयमित्युक्तं भवति ।

कूरक्षगतावित्यत्र कोऽपि विशेषोऽभिप्रेतः । कूरक्षगतावोजराशिंगताविति । 'कूरः सौम्यः पुरुषवर्जिते' इत्युक्तत्वादीजराशित्वाच्च पापक्षेत्रत्वाच्च राशेः कूरत्वे तत्रस्थयोरशोभनयोरिति कूरत्वम् इति ॥ ७ ॥

( वैतालीयम् )

पूर्णं शशिनि स्वराशिगे सौम्ये लग्नगते शुभे सुखे ।

लग्ने जलजेऽस्त्येपि वा चन्द्रे पोतगता प्रसूयते ॥ ८ ॥

पूर्णं शशिनीति । शशिनि पूर्णं स्वराशिगे सौम्ये लग्नगते इत्येको योगः । श्लोकशेषेण द्वितीयः । तथा च सारावल्याम्—

“सौम्ये लग्ने पूर्णं स्वगृहगते शशिनि सलिलसंयाने ।

पातालस्थैश्च शुभैर्जलभे लग्नेस्तभे शशिनि ॥”

अथवा पोतगता पोतेन नावा गता माता गर्भिणी प्रसूयते प्रकर्षेण सूयते सुधस्रयो भवतीत्यर्थः । अथवा पूर्णं शशिनि इति । वर्षप्रभसमवेपि शशिनि बलपूर्णं जलशब्देन जलजाता राशयः कुलीरमकरान्यार्थमीनोक्ताः । अथवा जलशब्देन चन्द्रादूह्यः अञ्जसंज्ञत्वात्तस्योदये इति । पोतगता इति । पोतगता जनपिब्युच्यते प्रसूयत इति अर्भाष्टकार्याण्युत्पादयति । वषाभ्युवाहुष्येन सर्वत्र नावमारुह्य गच्छन्ति लोका इति । अथ कौटिल्ये इति चेदुच्यते पूर्णं शशिनि पूर्वपक्षगते चन्द्रे वा राशिगे इति जलराशिरुच्यते । स्वस्वजलारम्भत्वासौम्ये लग्नगते सति भूरिभूरिवर्षागमः । श्लोकशेषेणान्यो योगः । तत्र सुखशब्देन खं सुखं गृह्यते खे सुखे वा शुभे इत्यर्थः ॥ ८ ॥

( वैतालीयम् )

आप्योदयमाप्यगः शशी सम्पूर्णः समवेक्षतेऽथवा ।

मेपूरणवन्धुलग्नगः स्यात्सूतिः सलिले न संशयः ॥ ९ ॥

आप्योदयमिति । अत्र प्रसवदेशज्ञानोपदेशप्रकरणे स्थाननिर्देशः सर्वत्र प्रभस्यानादिपरीक्षया निरूपणीम् । अयं सलिले प्रसूतिरित्यत्र सलिलशब्देन सलिलसन्निधिरपि सूचितः ।

अयानेन श्लोकेन वर्षप्रश्ने बोध्यते । आप्योदयं जलराश्युदयं जलराशितः सम्पूर्णः पूर्वपक्षगतः समवेक्षते सम्पगवेक्षते सप्तमदृष्ट्या चक्षते । अथवा मेपूरणवन्धुलग्नगतो वा यदि भवति तदा सलिलविषया सूतिर्वक्तव्या । तथा च संहितायाम् ।

“वर्षप्रश्ने सलिलविषयं राशिमाश्रित्य चन्द्रो

लग्नं यातो भवति यदि वा केन्द्रगः शुक्रपते ।

सौम्यैर्दृष्टः प्रचुरमुदकं पापदृष्टोत्पमम्भः

प्रावृत्काले सृजति न चिराच्चन्द्रभागेः समापि ॥”

अथ जलविशेषचिन्तोपाय उच्यते । समवेक्षत इत्यनेन चन्द्रस्य सप्तमस्थिति-  
विज्ञायते । सप्तमस्थो वा मेघूरणवन्धुलमगो वा चन्द्रो जलसूचक इत्युक्तम् ।  
तत्रायं विशेषोऽस्ति मेघूरणराशेरेषादशगतत्वाच्चन्द्रो घृष्टिसूचकः वन्धुस्थानस्य  
पातालगतत्वात्सर्वसाधारणजलसूचको भवति । तथा चोक्तम्-

“हिङ्गेनाथः सलिलं नद्यागमनं तु सप्तमेनैव ।

दशमेन घृष्टिपतनं ब्रूयादुदयेन तत्रितयम् ॥” इति ।

ततः शशिनो जलजात्मकत्वाजलनिरूपणे जलात्मकः शुक्रोपि शशिवद्वाह्यः ।  
आप्योदयमित्यत्राप्यशब्देन अम्मयं वस्तु गृह्यते । ‘आप्यमम्मयम्’ इति ‘सिंहः’ ।  
आप्योदयं वस्तु दृश्यते जलपृच्छायां जल वाच्यम् । अननैव न्यायेनोक्तेषु समानेषु  
स्थलराशिष्वामेयग्रहसहितेषु जलाभावा निरूपणीया इति ॥ ९ ॥

( वैतालीयम् )

उदयोदुपयोद्वयस्थिते गुह्यां पापनिरीक्षिते यमे ।

अलिकर्कियुते विलग्नगे सौरे शीतकरोक्षितेवटे ॥ १० ॥

उदयोदुपयोः लमचन्द्रयोः गुह्यां बन्धनागरे द्वादशे मन्दे वा पापदृष्टे गुह्यां न  
केवलं प्रसूतिः प्रपूर्वन्धोऽपि वाच्यः । रागादीनां वा । तथा च कृष्णीये-

“होरा द्वादशराशौ पष्ठे वा भवति बन्धनं रविजे ।” इति

अलिकर्कियुते प्रष्टुः कूपादिपातो बुधैरूह्य इत्यर्थः अलिकर्कियुते कुलीरवृश्चिक-  
योरवटे स्थितिलोके दृश्यते शनैश्चरस्य गूढनिवाससूचकत्वात्तदुदयेनापि सरीसृपा-  
त्मकस्य चन्द्रस्य दृष्ट्याप्यवटः ऊह्यः । एवं निरूपणप्रकारोऽप्यनेन सूचितः ।  
एवंमर्थमुत्तरश्लोकेन स्पष्टीकरोति ॥ १० ॥

( वैतालीयम् )

मन्देवजगते विलग्नगे बुधसूर्येन्दुनिरीक्षिते क्रमात् ।

क्रीडाभवने सुरालये प्रवदेज्जन्म च सोपरावनौ ॥ ११ ॥

मन्देति । मन्दसहिते लभे राशिभेदात्केपाचिद्गहाणामालोकनेन च विदेशस्याने-  
त्यतिरूपदिश्यते । बुधादिदृष्ट्या क्रीडाभवनादयः स्थानविशेषाः ॥ ११ ॥

( उपजातिः )

नृलग्नगं प्रेक्ष्य कुजः श्मशाने

स्म्ये सितेन्दू गुरुरग्निहोत्रे ।

रविर्नरेन्द्रामरगोकुलेषु

शिल्पालये ज्ञः प्रसवं करोति ॥ १२ ॥

नृलभगमिति । नृलभगमित्यत्र मन्दगमिति विशेष्यपदं पूर्वश्लोके प्रस्तुतत्वात् 'कुजः श्मशाने इति कुजेन श्मशानस्थाननिर्णयः, सितेन्दुभ्यां विहारस्थाननिर्णयः, गुण्याभिहोत्रिगामभिहोत्रगृहादी चिन्त्या । रविणा देवागाराजगृहयोगगृहाणि शिल्पवेदमनि विधुजनिः अयं श्लोकः कर्माजीवनिरूपणेऽप्युपयुज्यते ॥ १२ ॥

( चैतालीयम् )

राश्यंशसमानगोचरे मार्गे जन्म चरे स्थिरे गृहे ।

स्वर्क्षाशगते स्वमन्दिरे बलयोगात्फलमंशकर्क्षयोः ॥ १३ ॥

राश्यंशेति । शत्रुराशिगते ग्रहे लग्ने चेच्छत्रुगृहे मित्रराशिग्रहगते लग्ने च स्वगृहे उच्चराशिगते राजगृहे नीचराशिगते नीचगृहे इत्यायूह्यम् । अत्र स्वर्क्षाशगतत्वादि लग्नेशस्येति केचित् । कथमत्राशराशयोर्विरोधे फलनिर्देश इति चेद्वलयोगाद्वाश्यंशयोरेव बलाधिक्यं तस्य फलं वक्तव्यमिति सर्वत्र चिन्त्यम् । प्रथमश्लोके 'मिपाश्विप्रथमा नवर्क्षचरणा' इति । राश्यंशकयोः सह पाठं कृत्वा ग्रहांशका इति पुनरप्युक्तं तस्य प्रयोजनामिदमप्युक्तम् । 'बलयोगात्फलमंशकर्क्षयोः' इति । 'वीर्यान्वितोऽशकपतिर्निरुणाद्धि पूर्वं राशीश्वरस्य फलमंशकल ददाति' इति वक्ष्यति । तस्मात्सर्वाशकनिरूपणं विना किंचित्फलं निर्णेतुं न शक्यते नीचारिभागे समवस्थितस्य शस्ते गृहे मित्रफलशब्देष्ट' इत्यत्र वक्ष्यति । तस्मान्न केवलं राशिमात्रज्ञानेन ॥ १३ ॥

( चैतालीयम् )

आरार्कजयोस्त्रिकोणगे

चन्द्रेऽस्ते च विचृज्यतेऽवया ।

दृष्टेऽमरराजमंत्रिणा

दीर्घायुः सुखभाक्च संस्मृतः ॥ १४ ॥

आरार्कजयोरिति । चन्द्रस्यार्कसहितत्वान्मीढ्यमभिप्रेतम् । चन्द्रे मूढे सति तत्रिकोणस्ययोरारार्कजयोर्मात्रा विचृज्यत इत्यर्थः । तथा च सारावल्पात्

"कुजचन्द्रयोस्त्रिकोणे चन्द्रेऽस्तगते विचृज्यते मात्रा इति ।"

अथवारार्कजचन्द्रार्काः परस्परं त्रिकोणगता भवेयुर्यादि मात्रा निचृज्यत इत्यर्थः । चन्द्ररातिदृष्टौ विद्युक्तस्य जन्तोरायुः सुखं च भवति । युज्यत इत्यनेन शिशोर्मातु-

वियोग उक्त इति चेत् क्रूरक्षणावशोभनावित्यादिश्लोकेन पितृविदेशगमनं पूर्व-  
मवोक्तम् । तस्मादिह नोच्यते । अत्र चन्द्रग्रहणं दिवा सितस्याप्युपलक्षणार्थम् ॥ १४ ॥

( वसंततिलका )

पापेक्षिते तुहिनगावुदये कुजेऽस्ते

त्यक्तो विनश्यति कुजार्कजयोस्तथाये ।

सौम्येऽपि पश्यति तथाविधहस्तमेति

सौम्येतरेषु परहस्तगतोऽप्यनायुः ॥ १५ ॥

पापेक्षित इति । पापेक्षिते त्यक्तो विनश्यति मातृदीक्षादिकं न करोति देशान्तर-  
गतो वा दुष्टो वा मृतो वा भवतीत्यर्थः । सौम्येऽभिपश्यति तथाविधहस्तमेति  
इत्येतन्न केवलमेतद्विषयं सर्वत्र दृष्टग्रहवशादुद्यद्ग्रहवशाद्वा कर्माजीवे कर्मस्थित-  
वशाद्वा यत्फलप्राप्तिरुच्यते तत्फलस्य तादृशरूपत्वमूह्यम् । इयस्याभिद्योतकम् ।  
तथा च । चन्द्रलग्नान्तरगतैर्ग्रहैः स्युरूपसूतिकानाम् इत्यत्र चन्द्रलग्नान्तरगतग्रहवर्ण-  
वशादुपसूतिकानां जातिवर्णयोरूपादयो वक्तव्याः । तथा निरूपणमनेनोक्त-  
मित्यर्थः ॥ १५ ॥

( वैतालीयम् )

पितृमातृगृहेषु तद्वलात्तरुशालादिषु नीचगैः शुभैः ।

यदि नैकगतैस्तु वीक्षितौ लग्नेन्दू विजने प्रसूयते ॥ १६ ॥

पितृमातृगृहेष्विति । पितृमातृगृहेषु तद्वलात्पितृग्रहवलात्पितृगृहे मातृग्रह-  
लान्मातृगृहे पितृमातृग्रहौ दिवार्कशुक्रौ इत्यादिना उक्तोऽनवमेशो वा पितृग्रहश्चतुर्थको  
वा बलशब्देन योगदृष्टिश्चोच्यते । तत्तद्वलवशात्तरुशालादिषु नीचगैः शुभैस्तत्तदे-  
वा । आदिशब्देन नदी च गृह्यते । प्राकारमूले वा अथवा दिवाकरेन्द्रोरि-  
त्यादिना द्योतितः । माता चन्द्रः पिता सूर्यस्तयोर्गृहास्तु-‘सिंहः कन्या तुलाली  
च कुम्भान्त्यौ सूर्यराशिः’ इत्युक्ता रश्मयः गोजाश्वीत्यादिना सिद्धाः सूर्यराशौ  
लग्नगते सति तदधिपं सूर्यराशिं गते जातस्य मातृसम्बन्धिनो धनवान्धवादयः ।  
लग्नतदधिपयोरेकस्य सूर्यराशिगतत्वेऽन्यस्य चन्द्रराशितत्वे उभयसम्बन्धिनो  
धनवान्धवादयः लग्नतदीशयोर्वलसद्भावे पापदृष्टियोगाभावोऽपि जन्मशालात्म-  
भूति गृहसम्पदित्यादि । नीचगैः शुभैरिति च भेषु सर्वेषु नीचरा-  
शिगतेषु च विशेषाः लग्नेऽपि नीचगते च तरुशालादिषु गृहधनाद्यभावात्तरुषु  
अर्पात्रयमे मार्गग्रहे वा मार्गे यतते घनचरदृष्ट्या वा जीवति च । बलयोगात्फलमंश-  
वर्षयोरेत्युक्त्याग्नीचादिगतत्वमंशकादपि निरूपणीयम् । यदि नैकगतैस्तु वीक्षि-



ताविति । एकराशिर्यैः सर्वप्रहैर्लभेन्द्र न वीक्षितौ यदि विजने जनशून्ये गटव्यादि-  
देशे प्रसूयते । तथा च सारावल्याम्-

“नेक्षन्ते लग्नेन्द्र यद्येकस्या ग्रहास्तथाटव्याम् ।” इति ।

अथ लग्नचन्द्रावेकग्रहेणापि न दृश्यते चेत्तदा विजने वर्तते असहायवान् बन्धुः  
स्वयमेव चलतीत्यर्थः । सह पितृमातृगृहेषु तद्वलात्तरशालादिषु नीचगैः शुभैः ॥ १६ ॥

( मन्दाक्रान्ता )

मन्दर्क्षांशे शशिनि हिवुके मन्ददृष्टेऽजगे वा  
तयुके वा तमसि शयनं नीचसंस्थैश्च भूमौ ।  
यद्भद्राशिर्भजति हरिजं गर्भमोक्षश्च तद्-  
त्पापैश्चन्द्रात्स्मरसुखगतैः क्लेशमाहुर्जनन्या ॥ १७ ॥

मन्दर्क्षांश इति । अस्य श्लोकस्य पूर्वार्धेन यत्र तमःप्रकाशौ जिज्ञास्येते तत्र तत्र  
तत्पारिज्ञानमुपदिश्यते । जन्मनि भोजनप्रश्ने मेषुनप्रश्ने शयने चौर्यादी चास्य  
विनियोगः ।

मन्दराशौ तदंशे मन्ददृष्टे मन्दयोगे वा पातालस्थाने वा जलराशौ वा  
चन्द्रस्य स्थित्यान्वकारसद्भावः मन्दस्यासितत्वाद्दिङ्मुक्तस्य पातलत्वाजलराशेरजलम-  
यत्वात्तमःसूचकत्वम् । शशिशब्देन लग्नराशिरपि सूच्यते । नीचसंस्थैश्च भूमा-  
वित्यनेन नष्टमुष्टिमन्तर्क्षांश इत्यादिना सूचितम् । अर्थान्तरमयोच्यते एवं भूते  
चन्द्रे जातस्य तमसि अज्ञानेन च वर्तनमित्यर्थः । नीचसंस्थैर्ग्रहैर्भूमौ शयनं नोर्ध्व-  
शयन शयनसाधनमपि न वर्तते दरिद्र इत्यर्थः । एवं चन्द्रार्कगुरुलघैर्ग्रीष्महैर्विशेषो  
निर्हृषणीयः द्रव्यस्थानपरिज्ञानैः तु लग्नांशे नीचगते लग्ने नीचस्यग्रहदृष्टे युते वा  
भूमिषु द्रव्यमित्यादि । अथ यद्भद्राशिरित्यादि लग्नराशिर्यद्भद्ररितं भजति गर्भ  
मोक्षस्तु तद्वत् । तुशब्दो हेतुविनिवृत्तिपक्षान्तरपरिग्रहेषु प्रयुज्यते । अत्र पक्षान्तरे  
प्रयुक्तः । गर्भमोक्षे गर्भद्रव्याणां भोक्षो गर्भमोक्षः स तूर्ध्वमुखार्धोमुखतितर्यङ्मुखरा-  
शिवशाक्त्या च तद्विभागः ।

“ऊर्ध्वमुखो रविमुक्तो रविमुक्तस्त्वधोमुखो ज्ञेयः ।

अभिलपितस्तिर्यक् सा तेषां केन्द्रं च तत्संज्ञम् ॥” इति ।

ऊर्ध्वमुखे लग्ने कुसुलादेर्ग्रहस्य चोर्ध्वभागं विभिद्य चौरौ द्रव्यमाहृतवान् । अधो-  
मुखे सति अधोभागं तिर्यङ्मुखे पार्श्वभागमिति वक्तव्यम् । ‘पापैश्चन्द्रात्स्मरसुख-  
गतैः’ इत्यादि पूर्वप्रथमाध्याये । शशिशुक्रौ युवतीति ‘वीजक्षेत्रवपुः’ पुनर्निर्णयकाध्याये  
द्विवाकुरेन्द्रोरित्यत्राकुरोत्पातिः । स्त्रायवस्थीत्यादिना शुक्रस्य शुक्रामपत्यकथने

पल्लवोद्भवः शौक्लगीतरतीत्यादौ फलत्वम् । एवं सर्वत्र पूर्वापरनिष्ठक्या निरूपणीयः ।  
पूर्वं दिवाकरेन्द्रोरित्यादिना चन्द्रस्य पापदृष्ट्या जननीव्यसनं भवतीत्युक्तम् । न  
केवलमेतावता 'चन्द्रात्स्मरसुखगतैः पापैरपि जननीकेशमाहुः' इत्यनेन चन्द्रस्य मातृ-  
कारकत्वप्रसिद्धिः सूचिता शुक्राच्च भार्यारोगः लग्नात्स्मरसुखगतैश्च भार्यामात्रो  
रोगादि वदेत् । तद्विग्रहो वा तथा चार्यासप्तशतौ-

“चन्द्रे पापसमेते भृगुजे वा विग्रहः सह स्त्रीभिः ।

वक्तव्यो दूनगतैः पापैः सुखसंस्थितैस्तद्वत् ॥” इति ॥ १७ ॥

( इन्द्रवज्रा )

स्नेहः शशांकादुदयाच्च वर्ति-

दीपोर्कयुक्तर्क्षवशाच्चराद्यः ।

द्वारं च तद्वास्तुनि केन्द्रसंस्थै-

र्ज्ञेयं ग्रहैर्वीर्यसमन्वितैर्वा ॥ १८ ॥

अहेति । तत्र चन्द्रलभादिष्वैर्दीपलक्षणमुच्यते । शशांकस्य बलपुष्टौ तैलगुणः ।  
लप्रवशाभावाद्गतिगुणः । अर्कवशाज्ज्वालागुणः । अर्कयुक्तवशादपिभाजनगुणः । अर्क-  
चन्द्रलभानामानुकूल्ये बलवत्त्वे च जन्मकालः प्रसन्नो भवतीति ज्ञातव्यम् । लगार्क-  
चन्द्राणामानुकूल्ये बलवत्त्वे च जातो जीवत्यज्वलिततेजो भवति । आदित्यस्ता-  
वदात्मामनश्चन्द्रः लग्नं शरीरमेभिस्त्रिभिरेव सकलशुभाशुभं निरूप्यते । एते त्रयोऽप्यन-  
कूलाश्चतुर्गुणस्य साम्राज्यसामग्री भवति । अन्ये ग्रहास्त्वेतद्दशगा एवेति । पुरुषस्य  
दीपतुल्यत्वं लग्नवशाद्देहगुणो दीपोऽर्कयुक्तर्क्षवशादित्यनेनात्मनो दीपज्वालातुल्यत्वे  
अर्कवशादात्मप्रभावादयः । 'दीपः संहतमूर्तिरायततनुर्नित्यर्थान्तरपि निरूपणीयम् ।  
इह तु लगार्कचन्द्रवशाद्दीपप्रसादकधनेन प्रज्ञादौ विवाहादिकर्मसु दीपप्रसादे दृष्टे  
सति भविष्यत्फलं दीपवशाच्चिन्त्यम् । तथा च बृहत्संहितायाम्-

“दीपः संहतमूर्तिरायततनुर्निर्वपयुर्दीप्तिमा-

त्रिःशब्दो रुचिरः प्रदक्षिणगतिर्धूपहेमयुतिः ।

लक्ष्मीं क्षिप्रमभिव्यनक्ति रुचिरा यश्चोच्छिद्यो दृश्यते ।

शेषं लक्षणमस्ति लक्षणसमं योज्यं यथायुक्तितः ॥”

“वामावर्तो मलिनकिरणः सस्फुलिङ्गोऽल्पमूर्तिः

क्षिप्रं नाशं व्रजति विमलः खेहवर्त्यान्वितोऽपि ॥

दीपः पापं पथयति फलं शब्दवान्वेपथुश्च

प्यादीर्णाचिर्धिमलमसकृद्यश्च नाशं प्रयाति ॥” इति ।

अर्कयुक्तक्षवशादित्यत्राहोरात्रेऽर्कस्याष्टासु दिक्षु परिभ्रमणमस्ति तथा चोक्तम्—  
 “यामार्धमुदयात्पूर्वमारभ्याष्टासु दिक्षु च ।

परिभ्रमति शीतांशुर्याभिष्वष्टासु सर्वदा ॥”

अत्र सार्द्धं सतनाख्यायामः । अनेन विधिना द्वादशराशिषु परिभ्रमणमवगंतव्यम् । कयमिति चेदुच्यते । प्राच्यादिग्रहे क्रियादय इत्युक्तविधिना सूतिकाग्रहं द्वादशया विभज्य मेषादिषु कल्पितेषुदयात्पूर्वं पादेनचतुर्नाडिकाकालादारभ्यैकैकस्मिन्नाशौ पञ्चसु नाडिकासु प्रादक्षिण्येन रविस्थितिखगन्तव्या । अनेन विधिना यत्र जन्म काले तद्वाशौ दीपास्त्यतिस्तद्वाशेश्वरादित्वेन दीपभाजनस्य चरादित्वमित्यर्थान्तरमपि श्रूयते । ‘द्वारं च तद्वास्तुनि’ इत्यादि । केन्द्रसंस्थै राशिभिर्वलयादिरथवा केन्द्रसंस्थैर्ग्रहैर्वा ग्रहस्य या दिक् तस्यां दिशि द्वारमवगन्तव्यम् । तत्रोर्ध्व-मुखादिभिः राशिभिर्द्वारमध्याधोभागं द्वारमवगन्तव्यमिति । अर्थान्तरमुच्यते । केन्द्रसंस्थैर्द्वारमवगन्तव्यं सर्वफलानामवगमद्वारमित्यर्थः । केन्द्रसंस्थैर्ग्रहैरिति । मभजनन्मादौ शुभाशुभफलं निरूपणीयम् । तथा च वसिष्ठः ।

“अपृच्छतः पृच्छतो वा जिज्ञासोर्पस्य कस्यचित् ।

होराकेन्द्रत्रिकोणेभ्यः शुभाशुभफलं वदेत् ॥” इति ।

तद्वास्तुनि तत्तद्वाशौ भावभूते तस्य केन्द्रस्य गतैर्ग्रहैस्तद्वावसम्पद्विपत्ती निरूप्येते । तथाच विद्वज्जनवल्लभाख्ये—

“आरोग्यस्य प्राप्तिमर्थस्य लाभं वा दौर्जित्यं सङ्गमं च मिषेण ।

सौम्याः केन्द्रस्यायिनः खचरेन्द्राः कुर्वन्त्यन्योऽप्यन्यथा सर्वमेतत् ॥”

तयानेनोक्तं नष्टजातके ।

“एवं फलत्रसहजात्मनश्शत्रुभेभ्यः ।

प्रपूर्वदेदुदयराशिवशेन तेषाम् ॥ १८ ॥”

(शार्दूलविक्रीडितम्)

जीर्णं संस्कृतमर्कजे क्षितिसुते दग्धं नवं शीतगौ  
 काष्ठादयं न दृढं रवौ शशिसुते तन्नैकशिल्प्युद्भवम् ।

रम्यं चित्रयुतं नवं च मृगुजे जीवे दृढं मन्दिरं—

चक्रस्यैश्च यथोपदेशरचनां सामन्तपूर्वां वदेत् ॥ १९ ॥

जीर्णमिति । भाजनगृहं वा प्रोषितगृहं वा शयनगृहं वा सर्वत्र कीदृशं गृहमिति निरूपणे अनेन श्लोकेन तन्निर्णीयते । जीर्णं संस्कृतमिति । जीर्णं करीपादिरूपितं संस्कृतं वाहनगोशालेत्यभिप्रायः मन्दस्य तत्प्रेहम् । दग्धं सर्वदामिसत्रियानाद्गग्धं

स्थलं पाकशालेत्यर्थः तद्गृहं क्षितिजस्य । नवमभिनवं रमणीयं दिव्यमत्याकूतं तच्चन्द्रस्य । काष्ठाढ्यमदृढं रवौ काष्ठाढ्यमिन्धनाश्रितं तद्गृहं सूर्यस्य । अनेकं शिल्प्युद्भवमनेकशिल्पिभिः उद्भवो यस्य तद्गृहं शशिसुतस्य । रम्यं चित्रयुतं नवं च चशब्देन जीर्णमपि गृह्यते शुक्रस्य । फलपौष्कल्येभिनवं बलवानौ जीर्णं पुराण-मिति शेषः । दृढमविरतं वेदशास्त्राध्ययनात् संस्कृतं दृढमित्युक्तत्वात् । तथाच कृष्णाचार्यः—

“भौमस्य पाकशालां विन्द्यान्नवं गृहं वदन्ति गुरोः ।

सौम्यस्यालेख्यगृहं सवितुरपि च पाकशालायाः ॥

इन्दोर्वेश्म तु दिव्यं दैत्यगुरोर्जीर्णमुच्यते वेश्म ।

गोशाला रविसूनो राहोर्ध्वालयं ब्रुवते ॥” इति ।

केन ग्रहेण गृहं निर्णयते इति चेदुच्यते—केन्द्रस्यैवं प्रहर्षीयसमन्वितैरिति । पूर्वश्लोकोक्तमत्रापि ग्राह्यम् । केन्द्रेषु बहुषु लग्नस्थग्रहेणेति । कस्य न प्रतिभाति तदभावे सप्तमग्रहेण लग्नं पश्यता अथवा ह्युक्तमम्बुसुखं च वेश्मेति वचनाच्चतुर्थ-ग्रहेण तत्स्थानमम्बरगतेन तेन वा तथा केन्द्रगेषु बलवता ग्रहेण गृहकथनं केन्द्रग्रह-रहिते राशिभिरिति । केवलं भवननिरूपणमनेकार्थान्तरमपि सूचितम् । अन्यद्रव्यादि-कृतिरपि चिन्त्या । जीर्णं परिणतं संस्कृतमग्न्यादिसंस्कृतं धन्यधात्वादिमूलं चेद्वातशुष्कमभिदग्धं वा धात्वादिदग्धैकदेशं मूलं नवं शीतगौ । इदानीतनं काष्ठाढ्यमदृढं रवाविति काष्ठाढ्यं वरविटपविमूलं वा न दृढं धातुद्रव्यं वा शशिसुतं शिल्प्युद्भवमनेकशिल्पाश्रितं रम्यं नयनसुभगं नवं च भृगुजस्य जीवे गृहं दिव्या द्याकृतिरपि सूचितंति । पूर्वत्र ग्रहनिरूपणे ग्रहस्योच्चगतत्वे देवगृहं राजगृहं वा । स्वक्षेत्रगतत्वे स्वगृहत्वात्तन्नीचगतत्वे अधमम् । मित्रगतत्वे मित्रगृहं शत्रुगतत्वे तथा । अस्मिन् गेहे निधनधान्याद्यपि चिन्त्यं शत्रुगृहमूढम् । एतत्स्वर्साशगतत्वे स्वमन्त्रि-इति वचनाद्भूयते । विप्रादित इत्यादिवर्णविशेषादिग्रहविशेषश्चिन्त्यः । अथार्स्मिन् गेहे निधनधान्याद्यपि चिन्त्यं तदपि पूर्वश्लोकोदितमेव द्वारं तु तद्वास्तुनीत्यत्र तु शब्देन केन्द्रसंस्पर्शग्रहस्तद्वास्तुनि यस्तुविशेषश्चिन्त्यते । तथाच कृष्णाये—

“यदि केन्द्रगताः सौम्या एकादशेऽपि वा निपतगृहे ।

पुण्यधनवद्गृहं द्वारं वा स्यादिति प्रोक्तम् ॥” इति ।

अस्य शीवस्यायमर्थः टक्तेषु स्थानेषु चादिगते सौम्यग्रहे चेन्निधिर्यिवलश्रेष्ठनद्र-मित्याद्युक्तम् । ग्रहस्योक्तं धातुमूलादिचिन्त्यम् । चक्रस्यैरन्यादि तद्वास्तुनि स्थिरचक्रं पञ्चयित्योक्तेर्ग्रहस्तान् ग्रहान्यदेत् कीदृशान्सामन्तपथान्सामन्ततो भूताः सामन्ता-

ग्रहास्ते पूर्वा येषाम् अन्येषां ग्रहाणां तान्वदेत् यथोपदेशचरणाजीर्णं संस्कृत-  
मित्याह्वयम् । उक्तलक्षणादेवाम्बुमोत्याद्युदितान्ग्रहानपि वदेत् ॥ १९ ॥

( दोधकम् )

मेपकुलीरतुलालिघटैः प्रा-  
गुत्तरतो गुरुसौम्यगृहेषु ।  
पश्चिमतश्च वृषेण निवासो  
दक्षिणभागकरौ मृगसिंहौ ॥ २० ॥

मेपकुलीरेति । केषुचिदेशेषु दिग्विभागोऽनेन ज्ञातव्यः । अत्र मेप कुलीराद्यंशका  
चलिष्ठाश्चेच्चिन्त्याः ॥ २० ॥

( धैतालीयम् )

प्राच्यादिगृहे क्रियादयो  
द्वौ द्वौ कोणगता द्विमूर्तयः ।  
शय्यास्वपि वास्तुवद्वदे-  
त्पादैः षट्त्रिनवत्यसंस्थितैः ॥ २१ ॥

प्राच्यादीति । अनेन कवलं सूतिकागृहपाणिज्ञानं हतनष्टादिषु भैथुनादिषु च गृह-  
विज्ञानं भवितव्यम् । तस्मिन् गतद्रव्यमप्यनेन विज्ञायते यस्मिन्भागे सौम्यो  
गृहेषु तद्रव्यमादिशेत्तत्र यस्मिन्भागे पापस्तस्मिन् शल्पं विनिर्दिश्यमिति अनेन  
विधिना भूचक्रं रचनाकृतं तत्र सौम्यग्रह उपतिष्ठते तस्य सौम्यग्रहस्योक्तं द्रव्यं  
तत्र भवति धातुमूलचिन्तायामुक्तम् । यस्मिन्भागे पापग्रहस्तत्र शल्पम् । तथा  
च कृष्णायै-

“यस्मिन्भागे सौम्यो गृहेषु तद्रव्यमादिशेत्तत्र ।

यस्मिन्भागे पापस्तत्र शल्पं विनिर्दिश्यम् ॥” इति ।

अनेन भूचक्ररचनं चोक्तम् । प्राच्यां दिशि मेपवृषौ । आग्नेयां दिशि मिथुनम् ।  
कर्किसिंहौ दक्षिणस्याम् । नेत्र्यां कन्यका । तुलासरोसृषौ पश्चिमायाम् । धनुर्वा-  
यव्याम् । मकरकुम्भाबुधौ च्याम् । मीन पेशान्याम् । एते राशयः स्वादिशि व्याप्ताः ।  
अनेन विधिना यस्मिन्नांशे संस्थितः प्रष्टा पृच्छति स आरूढ इति प्राप्तिः । तस्य  
दुरवगम्यत्वाद्भूमौ राशिचक्रमालिख्य प्रष्टा यं राशिं स्वर्णफलादिना स्पृशति स आरू-  
ढ इति परिकल्पनात्तस्मात्प्रष्टा आरूढविदितत्वे तेन फलं चिन्तनीयं तस्याधिदित-  
त्वे स्वर्णफलादिना स्पृष्टेनारूढतया फलितेन इति प्रश्नादावनेनोपयोगः ।

शय्यास्वपीत्यादि । अनेन खट्वालक्षणमुच्यते । शय्यासनस्य पुरुषस्य खट्वाया य-  
स्मिन्भागे शिरस्तत्र लग्नद्वितीयराशिस्तृतीयराशिः पुरस्तादक्षिणभागाच्चतुर्थः प-  
श्चिमराशिर्दक्षिणभागे षष्ठः पश्चाद्भागो दक्षिणभागः सप्तमाष्टमौ पश्चिमभागे नवमः पश्चा-  
द्भागे वामपादः । दशमैकादशौ उत्तरभागे द्वादशः पूर्वभागे वामपादः । एवं यानि यानि  
चतुरस्रवस्तूनि तेषु तेषु राशिभिरेन विधिनावयवविभागं कृत्वा लक्षणानि कथयेत् ।  
खट्वाचिह्नानि अवयवभूतराशिसंयग्रहस्तुल्यानि शुभदृष्टिवशादास्तरणविशेषश्चिन्त्यः ।

वस्त्रं स्थूलमभुक्तमित्यादिविधिना दृष्टग्रहकृतवस्त्रमास्तरणं वदेत् । तथा च  
सारावल्याम् ।

“स्थितभवनोपर्युचितैर्विहगैः समानि तत्र चिह्नानि ।

आस्तरणानि च विन्द्याच्छुभदृष्टकृतानि देवज्ञः ॥

प्राच्यादिग्रहादितयं विलग्नतो राशिसमगाग्रम् ।

आशानिश्चयनं ग्रहस्तुल्यं वास्तोर्यया लक्ष्म ॥”

इत्यनेनार्थान्तरमपि सूच्यते । स्वग्रहाभयभूमिः प्राच्यादिग्रहन्यासेन राशयो  
लम्नादयः कल्पन्ते । राशिभिस्तत्रस्थैर्ग्रहैर्वृक्षादयो मूलचिन्तायामुक्तानि मूलानि  
केन्द्रगतैर्वलवाद्भिर्ग्रहैर्वर्णानां त्वादिचिन्त्यम् ॥ २१ ॥

( अनुष्टुप् )

चन्द्रलग्नान्तरगतैर्ग्रहैः स्युरूपसूतिकाः ।

वाहिरन्तश्च चक्रार्द्धे दृश्यादृश्येऽन्यथापरे ॥ २२ ॥

चन्द्रलग्नान्तरगतैरिति । लग्नादारभ्य चन्द्रस्थितस्यानराशयस्तेषु स्थितग्रहै-  
रूपसूतिकाः । सूतिकासमीपस्थाः स्त्रियो वाच्याः । ग्रहरित्यस्यायमर्थः लक्षणरूपवि-  
भूषणवयोवर्णगुणस्यभावादयो ग्रहैस्तुल्या इति । तथा च सारावल्याम्-

“लक्षणरूपविभूषणयोगस्तासां शुभाशुभग्रहवशात् ।

कूरेर्विरूपदेहा लक्षणहीना सुमलिनाश्च ॥”

तासां दृश्यार्धगतैर्ग्रहैर्विहगैः स्थितत्वमदृश्यार्धस्थितैरन्तःस्थितत्वं च यक्तव्यम् ।  
अन्यथा परे दृश्यार्धगतैरन्तःस्थितत्वमदृश्यार्धगतैर्विहगैः स्थितत्वं च वदन्ति । बहि-  
र्भागः यत्तु प्रकाशते । फलत्रस्थानं यत्तु दृश्यत्वात्तस्मादृश्यार्धगतैर्ग्रहैस्तासां बहि-  
रित्यतिरुच्यते इति ।

अर्थान्तरमुच्यते । चन्द्रलग्नयोरन्तर्गतैर्ग्रहैश्चन्द्रे लग्ने चान्तरमन्तर्भूतं गतं प्राप्ति-  
र्येषां तैः चिताश्चन्द्रलग्नसंयुक्तरित्यर्थः । उपसूतिकाः सदाया विज्ञातव्याः । एत-

दुक्तं भवति । चन्द्रलग्नौ क्रूरग्रहयुतेक्षितौ चेत्क्रूरो मूर्खान्वक्ताः सहायाः । शुभग्रहयुते-  
क्षितौ चेत्सौम्याः । मिश्रग्रहयुतेक्षितौ चेन्मिश्रकृतयः । अस्य विधेयव्याप्तिर्विज्ञेया  
चहिरन्तर्भागौ विज्ञास्येते । तत्रानेन तत्सिद्धिः । लग्नाधिपे दृश्यभागगते प्रकाश-  
ग्रहयुते दृष्टे आस्थानवासी । अदृश्यभागस्थे गूढनिवासी । धनेशे तादृशे च गूढ-  
धनः । प्रकाशितधन इत्यादि । कलत्रेशे तादृशे गूढकामः । प्रकाशितकामश्चेत्यादि  
जन्मनि प्रदने च ॥ २२ ॥

( दोधकम् )

लग्ननवांशपतुल्यतनुः स्याद्दीर्घयुतग्रहतुल्यतनुर्वा ।

चन्द्रसमेतनवांशपवर्णः कादिविलग्नविभक्तभगात्रः ॥ २३ ॥

लग्नमेति । लग्ननवांशपतुल्यतनुर्लग्ननवांशो हि सूक्ष्मशरीरं तस्मात्तदधिपैः शुभत्वं  
सुस्थत्वं बलवत्त्वं च निरूप्यायुश्चिन्त्यम् । लग्नस्य नवांशकस्य वा बलवत्तोर्योऽधि-  
पस्तनुः स्यतनुः स्यात्तस्य शुभत्वे बलवत्त्वे सुस्थत्वे पापगुलिकादियोगद्विष्टरहितत्वे च  
शरीरस्य शुभत्वमन्यथाऽशुभत्वं च निरूपणीयम् । ननु च होरादयस्तनुकुटुम्बेत्यादि-  
ना लग्नस्य शरीरत्वं नवांशकस्य प्राणात्मकत्वम् । उपदेशदशा चोक्ता तस्माल्लग्ननवां-  
शपतुल्यतनुरिति वक्तव्यम् । नैवं राशीनां तावज्जडत्वं ग्रहाणां तु शक्तिमत्त्वं न  
ग्रहान्विना राशीनां फलदानशक्तिः तथाच सारावल्याम्-

“भावाधिपैः समस्तं जातकविहितं विचिन्तयेन्मतिमान् ।

एभिर्विना न शक्यं पदवीं गन्तुं महाशस्त्रे ॥ ” इति ।

लग्ने बलवान्ग्रहश्चेत्तनुल्यतनुश्चन्द्रयुक्तनवांशपवर्णश्चन्द्रस्य नवांशवशादपि फलं चिन्त्यम् ।  
तत्र लग्नचन्द्राभ्यामुभाभ्यामपि संलग्नतुल्यताप्रसिद्धचर्यमुपमानतयाधिक्योक्तिः ।  
तत्रापि फलमधिकमिदं यदत्र भावाज्जायते तत्स्थानद्वष्टिकलधिकं भवति ।  
स्थानफलभावफलयोर्विरोधे भावफलस्याधिक्यमित्यर्थः । तत्रापि बलवशादुत्कर्षाप-  
कर्षा विद्येते । जन्मकाले जीवे लग्नगते विद्वानिति भावफलमुक्तम् । ‘समुपचय-  
विपात्तिःसौम्यपापेषु सत्यःकथयति’ इत्यादिना देहपुष्टिश्च गते स्यात्तत्सर्वं बलवशादेव  
जातस्य भवति ‘सुहृदरिपरकीयःस्वर्क्षतुङ्गास्थितानाम्’ इत्याचार्यः स्वयमेव वक्ष्यति ।  
तस्माद्वलवशाद्युक्तं भवति तत्राप्ययं विशेषो यस्मिन् ग्रहे लग्नगते यत्फलमुक्तं  
तद्ग्रहस्थितराश्यावित्यां बलविवेक एव सम्पद्यते । तदत्र भवनभनापभुणैः वृत्ता-  
ताम्रहगित्यादिभिः सह विचिन्तनीयम् । अत्र पुत्रभावस्योदाह्रियते । पुत्रभावास्थित-  
‘लग्नात्पुत्रकलत्रभे शुभपतिप्राप्तोऽयवालोक्ति’ इत्यादिना पुत्रसिद्धिः परिकल्पनीया ।  
तत्राप्यं भवनभनायगुणैर्विशेषः पुत्रस्थानं भेषधन्मेपस्य भवनस्य तत्रायस्य कुणस्य  
च ये स्वभावास्तेर्यक्ताः पुत्रा भवन्ति ।

वृत्ताताम्रहागित्यत्र वृत्ताउष्णशार्कलघुभुक्त्वमदनत्वं कामित्वा दुर्बलजानुत्वं च तोये भीरुत्वं व्रणाङ्कितशिरस्त्वं भेषस्वभावाः । अन्ये कुंजस्वभावाः । एवं राशित-  
त्रायस्वभावयुक्तं सर्वभावफलं निरूपणीयम् । पुनरपि विशेषोऽस्ति पुत्रस्थानं युग्मराशि-  
धिपतिश्च स्त्रीग्रहो द्रष्टा च स्त्रीग्रहश्चैव प्रजासिद्धिर्वक्तव्या । तथाच सारावल्याम्-

“सितशशिवर्गे जलाभावात्” अत्र पुत्रादिलब्धिरुच्यते ।

तथा च सारावल्याम्-

“मानन्दं सुतर्क्षमिन्दुर्निरीक्षिते यदि शनैश्चरेण युता ।

दत्तकपुत्रोत्पत्तिः स्त्रीषस्य बुधस्य चैवं स्यात् ॥

पुनरधिपतिनावस्थितराशौ यावन्तो भुक्तांशाः ।

यावन्तो भुक्तांशास्तावन्तः पुत्रकास्तु तावन्तः ॥

ईशवशेन विदध्यात्पुंस्त्रीवृद्धिक्षयादींश्च ।”

इत्यत्र संरूपणकरणविधिवियोजनजन्माध्यायोक्तमेव सर्वभावानां फलं भवनभनाथ-  
गुणैर्विचिन्तनीयम्, एवं चन्द्रलमाभ्यामारभ्य सर्वभावा लघनवांशपतुल्यतनुः  
स्वादिस्पादिन निरूपणीयाः । मश्ने तु लमांशकेशानां गुणदोषवशात्पटुः शुभाशुभौ  
विचिन्तनीयौ इति । कादिविलमविभक्तभगात्र इति । भैर्निष्पादितभगात्रः कादिवि  
लमादिश्च विभक्तभगात्रा यस्यासी कादिविलमविभक्तभगात्रः । कालाङ्गानीत्यादि  
विधिना मेपादिराशिस्थानेषु लमादिराशीन् कल्पयित्वा तेषु शुभाशुभग्रहद्विष्टयोग-  
वशादयपवानां शुभाशुभत्वं निरूपणीयम् ।

मश्नादौ रोगस्य स्थानं निरूपणीयमित्यनेन श्लोकेन भूभिष्टं मभनिरूपणप्रकार-  
मुपकारं चोक्तवान् वृषणाचूरु ततो जानुनी जङ्घाघ्रात्युभयत्र वाममुदितैर्द्रष्टाण-  
भागैस्त्रिवेति ॥ २६ ॥

( शार्दूलविक्रीडितम् )

कं दृक्छोत्रनसापकपोलहनवो वक्त्रं च होरादय

स्नेकंठांसकवाहुषार्धहृदयक्रोडानि नाभिस्ततः ।

वास्तिः शिशुगुदे ततश्च वृषणाचूरु ततो जानुनी

जंघाघ्रात्युभयत्र वाममुदितैर्द्रष्टाणभागैस्त्रिवेति ॥ २७ ॥

कामिति । कं दृगित्यादेना पद्मिंशस्थानान्युक्तानि-लघे प्रथमद्रेष्काणे उदयति-  
पादिदन्त्यनानि द्वादशस्थानानि । द्वितीयद्रेष्काणे पञ्चादानीं स्थानानि । अन्यैः  
अन्यानि । एवं द्रेष्काणभगौस्त्रिवेति देहराशिस्थानान्यवगन्तव्यानि । एवं फलिते यत्र  
शुभप्रश यत्र पापप्रशस्तैर्लक्षणानि कथयेत् । अत्रायमुभयदेशोऽवगन्तव्यः । लघे



प्रथमद्रेष्काणे ग्रहाश्च स्वावस्थितराशौ प्रथमद्रेष्काणगाश्चेत्फलं निरूपणीयम् ।  
अन्यथा लक्षणान्तरैः संवादाश्चिन्त्यः । जयं विविर्जन्मनि प्रश्ने बोधयुज्यते ॥ २४ ॥

( शार्दूलविक्रीडितम् )

तस्मिन्पापयुते व्रणं शुभयुते दृष्टे च लक्ष्मादिशो-  
त्स्वक्षांशे स्थिरसंयुतेषु सहजः स्यादन्यथागन्तुकः ।

मन्देऽश्मानिलजोऽग्निशस्त्रविपजो भौमे बुधे भूभवः

सूर्ये काष्ठचतुष्पदेषु हिमगौ शृङ्ग्यञ्जजन्यैः शुभम् ॥ २५ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन् कादिविलमविभक्तभगात्रे कं दृगित्यादिकल्पिते चायं  
विधिः प्रश्नजातके चिन्त्यम् । मन्देऽश्मानिलज इत्यस्याश्मजोऽनिष्ठजो वेति विशेषः ।  
ग्रहावस्थितराशिषशाद्वा दृष्टग्रहवशाद्वा कल्पनीयः । रोगप्रश्ने तस्मिन्नङ्गे रोगा  
वक्तव्याः ॥ २५ ॥

( हरिणीवृत्तम् )

समनुपतिता यस्मिन्भागे त्रयः सवुधा ग्रहा  
भवाति नियमात्तस्यावातिः शुभेष्वशुभेषु वा ।

व्रणकृदशुभः पष्ठो देहे तनोर्भसमाश्रिते

तिलकमसकृद्दृष्टः सौम्यैर्युतश्च सलक्ष्मवान् ॥ २६ ॥

इति श्रीवराहमिहिराचार्यकृते बृहज्जातके जन्मविधिर्नाम  
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

समनुपतिता इति । यस्मिन्भागे कालाङ्गानि वराहमित्यादिना कादिविलमविभक्त  
भगात्र इत्यनेन कन्दगित्यादिना च भौमस्य शिशो, बुधस्य सुखमित्यादिभिः  
राशिभिरधिपतीनां स्थानविधिना च त्रयो ग्रहास्त्रिभिर्लक्षणैः समनुपतिताः ।  
बुधस्याश्रयवशात्फलमिति द्योतयितुं सवुधा इत्युक्तं तत्तदङ्गेऽशुमाश्चेदशुभेष्ववातिः  
त्रिभिर्लक्षणैः संवादो जायते चेन्नियमेन शुभाशुभफलं वक्तव्यमित्यर्थः ।

व्रणकृदशुभ इति लम्बादारुडाद्वा पष्ठस्थानं रोगस्थानं तत्राशुभग्रहधेदोगो  
भवति । तथाच कृष्णाये-

“ये क्रूराः पष्ठे लम्बास्त्राङ्गविभागे वैकल्पम् ।

केन्द्रत्रिघ्नेनराशिषु न स्पृगुरुसौम्यभृगुगुत्राः ॥ ”

सर्वत्र दोषप्रदस्य ग्रहस्य शुभदृष्टौ दोषस्य न्यूनत्वं शुभप्रदस्य ग्रहस्याशुभदृष्टौ  
शुभस्यापि न्यूनत्वं भवतीति सिद्धं भवति ॥ २६ ॥

इति श्रीबृहज्जातके होराशास्त्रे दशाध्यायीटीकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

वृत्ताताम्रदृगित्यत्र वृत्ताउष्णशार्कलघुमुक्त्वमटनत्वं कामित्वा दुर्बलजानुत्वं च तोये भीरुत्वं व्रणाङ्कितशिरस्त्वं भेषस्वभावाः । अन्ये कुञ्जस्वभावाः । एवं राशितन्त्रायस्वभावयुक्तं सर्वभावफलं निरूपणीयम् । पुनरपि विशेषोऽस्ति पुत्रस्थानं युग्मराशिरेधिपतिश्च स्त्रीग्रहो दृष्टा च स्त्रीग्रहश्चैव प्रजासिद्धिर्वक्तव्या । तथाच सारावल्याम्-  
 “सितशशिवर्गं जलाभावात्” अत्र पुत्रादिलब्धिरुच्यते ।

तथा च सारावल्याम्-

“मान्दं सुतर्क्षमिन्दुर्निरीक्षिते यदि ज्ञानैश्वरेण युता ।

दत्तकपुत्रोत्पत्तिः स्त्रीवस्य बुधस्य चैवं स्यात् ॥

पुनरधिपतिनावस्थितराशौ यावन्तो भुक्तांशाः ।

यावन्तो भुक्तांशास्तावन्तः पुत्रकास्तु तावन्तः ॥

ईशवशेन विदध्यात्पुंस्त्रीवृद्धिक्षपादींश्च ।”

इत्यत्र संलक्षणकरणविधिविधोनिजन्माध्यायोक्तमेव सर्वभावानां फलं भवनभनाथ-  
 गुणैर्विचिन्तनीयम्, एवं चन्द्रलभाम्भ्यामारभ्य सर्वभावा लभनवांशपतुल्यतनुः  
 स्यादित्यादिन निरूपणीयाः । मश्ने तु लभान्शेकेशानां गुणदोषवशात्प्रष्टुः शुभाशुभौ  
 विचिन्तनीयौ इति । कादिविलामविभक्तभगात्र इति । भैरिन्प्यादितभगात्रः कादिवि  
 लमादिश्च विभक्तभगात्रा यस्यासौ कादिविलप्रविभक्तभगात्रः । कालाङ्गानीत्यादि  
 विधिना मेपादिराशिस्थानेषु लमादिराशीन् कल्पयित्वा तेषु शुभाशुभग्रहदृष्टियोग-  
 वशादवयवानां शुभाशुभत्वं निरूपणीयम् ।

मश्नादौ रोगस्य स्थानं निरूपणीयमित्यनेन श्लोकेन भूभिष्टं प्रभनिरूपणप्रकार-  
 मुपकारं चोक्तवान् वृषणावूरू ततो जानुनी जङ्घांघ्रीत्युभयत्र घाममुदितैर्द्रव्काण-  
 भार्गस्त्रिधेति ॥ २३ ॥

( शार्दूलविक्रीडितम् )

कं दृक्छोत्रनसापकपोलहनवो वक्त्रं च होरादय

स्नेकंठांसकवाहुपार्श्वहृदयक्रोडानि नाभिस्ततः ।

वस्तिः शिशुगुदे ततश्च वृषणावूरू ततो जानुनी

जंघांघ्रीत्युभयत्र घाममुदितैर्द्रव्काणभार्गैस्त्रिधा ॥ २४ ॥

कमिति । कं दृगित्यादिना पट्त्रिंशत्स्थानान्युक्तानि-लभे प्रथमद्रेष्काणे उदयति-  
 कादिहृन्वन्तानि द्वादशस्थानानि । द्वितीयद्रेष्काणे पष्ठादीनां स्थानानि । अन्यैः  
 अन्पानि । एवं द्रेष्काणभार्गैस्त्रिधा देहराशिस्थानान्यवगन्तव्यानि । एवं कल्पिते यत्र  
 शुभग्रहा यत्र पापग्रहास्तेर्लक्षणानि कथयेत् । अत्रायमुपदेशोऽवगन्तव्यः । लभे

प्रथमद्रेष्काणे ग्रहाश्च स्वावस्थितराशौ प्रथमद्रेष्काणगाश्चेत्फलं निरूपणीयम् ।  
अन्यथा लक्षणान्तरैः संवादाश्चिन्त्यः । अयं विविर्जन्मनि प्रश्ने वोपयुज्यते ॥ २४ ॥

( शार्दूलविक्रीडितम् )

तस्मिन्पापयुते व्रणं शुभयुते दृष्टे च लक्ष्मादिशे-

त्स्वक्षांशे स्थिरसंयुतेषु सहजः स्यादन्यथागन्तुकः ।

मन्देऽश्मानिलजोग्निशस्त्रविषजो भौमे बुधे भूभवः

सूर्ये काष्ठचतुष्पदेषु हिमगौ शृङ्ग्यव्रजजोन्यैः शुभम् ॥ २५ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन् कादिविलमविभक्तभगात्रे कं दृगित्यादिकल्पिते चायं  
विधिः प्रश्नजातके चिन्त्यम् । मन्देऽश्मानिलज इत्यस्याश्मजोऽनिष्ठजो वेति विशेषः ।  
ग्रहावस्थितराशिवशाद्वा दृष्टग्रहवशाद्वा कल्पनीयः । रोगप्रश्ने तस्मिन्नङ्गे रोगा  
वक्तव्याः ॥ २५ ॥

( हरिणीवृत्तम् )

समनुपतिता यस्मिन्भागे त्रयः सवुधा ग्रहा

भवति नियमात्तस्यावातिः शुभेष्वशुभेषु वा ।

व्रणकृदशुभः पष्ठो देहे तनोर्भसमाश्रिते

तिलकमसकृद्दृष्टः सौम्यैर्युतश्च स लक्ष्मवान् ॥ २६ ॥

इति श्रीवराहमिहिराचार्यकृते बृहज्जातके जन्मविधिर्नाम

पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

समनुपतिता इति । यस्मिन्भागे कालाङ्गानि वराङ्गमित्यादिना कादिविलमविभक्त  
भगात्र इत्यनेन फन्दागित्यादिना च भौमस्य शिरो, बुधस्य मुखमित्यादिभिः  
राशिभिरधिपतीनां स्थानविधिना च त्रयो ग्रहास्त्रिभिर्लक्षणैः समनुपतिताः ।  
बुधस्याश्रयवशात्फलमिति द्योतयितुं सवुधा इत्युक्तं तत्तदङ्गेऽशुभाश्चेदशुभेष्ववातिः  
त्रिभिर्लक्षणैः संवादो जायते चेन्नियमेन शुभाशुभफलं वक्तव्यमित्यर्थः ।

व्रणकृदशुभ इति लम्बादरुडाद्वा पष्ठस्थानं रोगस्थानं तत्राशुभग्रहश्चेद्रोगो  
भवति । तथाच कृष्णाये-

“ये क्रूराः पष्ठे लप्तात्स्वाङ्गविभागे वैकल्प्यम् ।

केन्द्रत्रिकोणराशिषु न स्पृष्टुर्लक्ष्म्यभृशुत्राः ॥ ”

सर्वत्र दोषप्रदस्य ग्रहस्य शुभदृष्टौ दोषस्य न्यूनत्वं शुभप्रदस्य ग्रहस्याशुभदृष्टौ  
शुभस्यापि न्यूनत्वं भवतीति सिद्धं भवति ॥ २६ ॥

इति श्रीबृहज्जातके होराशास्त्रे दशाध्यायीटीकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

## अथारिष्टाध्यायः ६.

( विद्युन्माला )

सन्ध्यायां हिमदीधितिहोरा

पापैर्भान्तगतैर्निधनाय ।

प्रत्येकं शशिपापसमेतैः

केन्द्रैर्वा स त्रिनाशमुपैति ॥ १ ॥

अथायुर्निरूपणप्रकार उच्यते । तत्र प्रथममरिष्टयोगा उच्यन्ते । सद्योऽरिष्टयोगा एकवर्षान्तमृत्युप्रदाः, अरिष्टयोगा द्वादशवर्षान्तमृत्युप्रदाः । एते दशानिरपेक्षा योगाः । योगारिष्टास्तु द्वाविंशद्वर्षान्तमृत्युप्रदाः । तत्परं सप्ततिवर्षान्तं मृत्युप्रदा मध्यमायुर्योगाः । ततः परं शतवर्षान्तमृत्युप्रदाः दीर्घायुर्योगाः । एते त्रिविधा योगा दशासापेक्षाः । ततः परममितायुर्योगाः । एतेषु षट्संज्ञाभिन्नेषु योगेषु संक्षेपेण सद्योऽरिष्टयोगा अत्रोच्यन्ते ।

सन्ध्यायामिति । सन्ध्याशब्देन सन्ध्याकालस्याशुभत्वमपि सूचितम् । तथा चोक्तम्-

“सन्ध्यायां दिग्दाहेऽनलघाते भूमिकम्पनिर्घाते ।

ग्रहणपरिवेशकाले जातोप्यल्पायुरत्यन्तम् ॥ ” इति ।

हिमदीधितिरिति । पापैर्भान्तगतैरिति । हिमदीधितिना चन्द्रेण होरया लग्न-राशिना पापैश्च जातो निधनाय भवति । अथवा हिमदीधितिहोरायाः पापैर्दोषैर्निधनाय भवति । चन्द्राल्लग्नराष्टमेशद्वाविंशद्वर्षाण्योश्चतुःषष्ट्यंशस्योश्च चन्द्रलग्नयोश्च गुणदोषवशादायुश्चिन्त्यमित्यर्थः । द्वाविंशतिमस्तु कारणं द्वेष्टाण इत्यादिश्लोकादिभिरुपदिष्टादन्तर्गते सिध्यति । अत्र पापशब्देन दुर्निमित्तानि च सूच्यन्ते ।

पापैर्भान्तगतैरिति । राश्यंशगतेन चन्द्रेण लग्नेन च जातो निधनाय भवति । तथा चोक्तम्-

“राशिसन्धिषु ये जातास्ते नरा गतजीविनः ।”

“राश्यन्तरे सद्भिरवीक्षमाणे चन्द्रे -” इति च वक्ष्यति ।

तथा दुर्निमित्तैर्भान्तगतैर्जन्मनि लग्नराशिगतैर्जातो निधनाय भवति । ननु कथं पापशब्देन दुर्निमित्तानि पाचयानि उच्यन्ते दुर्निमित्तानि पापशब्दानि निवेदयन्ति राल । तथा च बृहत्संहितायाम्-

“अप्यन्यन्मान्तरफृतं कर्म पुंसां शुभाशुभम् ।

यत्तत्तत्तद्दृष्टं पापं निवेदयति गच्छताम् ॥”

एतदुद्दिश्य सन्ध्यायां दिग्दाह इत्यादिश्लोके दिग्दाहादिदुर्निमित्तानि उक्तानि ।  
अथ प्रत्येकमित्यादि । प्रत्येकं शशिपापसमेतैः केन्द्रैः शशिना पापेन च समेतैः ।  
केन्द्रैः स भावो विनाशमुपैति । यो भावः केन्द्रेषु शशिपापसमेतः स विनाशमुपैति ।  
शशिपापाभ्यां सहोपेतत्वेद्विनाशं विशेषेण नाशमुपैत्यविद्यमानत्वमुपैतीत्यर्थः ।  
केवलं पापेनोपेतश्चेन्नाशमदर्शनमुपैतीत्यर्थादुक्तं भवति ।

“पापैर्लभोपगतैः शरीरपीडां विनिर्दिशेत्कलहम् ।

सुखसंस्थैः सुखनाशं ग्रहभेदं वन्दुविग्रहं च वदेत् ॥

अस्ते गमनविरोधः कर्मस्थैः कर्मणामपि विनाशः ॥ १ ॥

( इन्द्रवज्रा )

चक्रस्य पूर्वापरभागेषु

क्रूरेषु सौम्येषु च कीटलग्ने ।

क्षिप्रं विनाशं समुपैति जातः

पापैर्विलग्नास्तमयाभितश्च ॥ २ ॥

चक्रस्येति न केवलमायुर्विषयमेतत् ( किन्तु ) सर्वकार्योपयोगि । तथाच कृष्णीये-

“मध्यमाह्नचतुर्थाभ्यां पूर्वादिगताः शुभाः समृद्धिकराः ।

कुर्युः पापा हानिमिति ॥”

पापैर्विलग्नास्तमयाभितश्चेति अनेन चत्वारो योगाः पष्ठद्वादशगैर्द्वितीयाष्टमगैः  
पापैश्च । “अशुभगदिता योगा याप्या भवन्ति शुभेक्षिताः” इत्युक्तत्वाद्योगकर्तार-  
शुभेक्षिता न भवेयुः, न शुभयुक्ताश्च । चन्द्रलघेशजन्मेश्वराणां यलाचलमन्वेष्यम्  
फलमधिकमिदं यद्यत्र भावाद्वनमनाथशुणैर्विविन्तनीयम् इत्युक्तत्वात् ॥ २ ॥

( अतुष्टुप् )

पापावुदयास्तगतौ क्रूरेण युतश्च शशी ।

दृष्टस्तु शुभैर्न चदा मृत्युश्च भवेदचिरात् ॥ ३ ॥

पापाविति । लग्नास्तयोः पापो चन्द्रश्च पापसहितस्तद्वारिष्ट्ययोगः । दृष्टस्तु शुभैः  
रित्यादिनास्यापवादयहितत्वं स्वतः शुभद्वारिष्ट्यपवाद इति सिद्धम् । तथा च  
सारावल्याम्-

“चन्द्रः शुभवर्गस्यः क्षीणोऽपि शुभेक्षितः सुहृत् ।

भागोरिष्टहराणां श्रेष्ठो वातहराणां यथा वस्तिः ॥ ”

इति स्वंधिमित्रांश इति निरूपणीयम् ॥ ३ ॥

( अनुष्टुप् )

क्षीणे हिमगौ व्ययगे पापैरुदयाष्टमगैः ।

केन्द्रेषु शुभाश्च न चेत्क्षिप्रं निधनं प्रवदेत् ॥ ४ ॥

क्षीणे इति । केन्द्रेषु शुभाश्च न चेदिति सर्वारिष्टस्यापवादः ।

“गुरुशशिसहिते कुलीरलगे शशितनये भृगुजे च केन्द्रयाते ।

भवरिपुसहजोपगैश्च शेषैरमितमिहायुरनुकमादिना स्यात् ॥ ”

इत्यमितायुर्योगकथने गुरुदयश्च गुरोश्चन्द्रयोगश्च शशितनयशुक्रयोः केन्द्रगतत्वं चारिष्टयोगापवादलक्षणमिति सिद्धयति ॥ ४ ॥

( चामरम् )

क्रूरसंयुतः शशी स्मरान्त्यमृत्युलग्नगः ।

कंटकादहिः शुभैरवीक्षितश्च मृत्युदः ॥ ५ ॥

क्रूरेति । क्रूरग्रहैरवलैर्वा संयुतः स्मरान्त्यमृत्युलग्नगश्चन्द्रो मृत्युदः शुभा यदि न केन्द्रगताः । तथाच सारावल्याम्—

“व्यपाष्टसप्तोदयगे शशांके पापेन युक्ते शुभदृष्टिहीने ।

केन्द्रेषु सौम्यग्रहवर्जितेषु प्राणैर्धियोंं व्रजति प्रजातः ॥” इति ॥५॥

( पृथ्वीछन्दः )

शशिन्यरिविनाशगे निधनमाशु पापेक्षिते

शुभैरथ समाष्टकं दलमतश्च मिश्रैः स्थितिः ।

असद्भिरवलोकिते बलिभिरत्र मासं शुभे

कलत्रसाहिते च पापविजिते बिलगाधिपे ॥ ५॥६॥

शशिनीति । अरिविनाशगे न केवलं पापेक्षिते शशिनि आशु निधनं केवलं शुभेक्षिते समाष्टकं मिश्रंक्षितं ततो दलवर्षचतुष्कं जीवति । शुभैस्त्रिभिरेकेन पापेन दृष्टश्चेत्सप्तवर्षं जीवति । शुभैरखिलैर्द्राभ्यां पापाभ्यां दृष्टश्चेत्पञ्चवर्षाणि जीवति । पापैस्त्रिभिः शुभैर्नैकेन दृष्टश्चेद्द्वयं जीवति । पापैस्त्रिभिर्द्राभ्यां शुभाभ्यां दृष्टश्चेद्द्वयं जीवति । तथा च सारावल्याम्—

“वर्षान्मारयति शशी पष्ठाष्टमराशिसंस्थितोलगात् ।

सद्यः क्रूरदृष्टः सौम्यैरब्दादिनिर्दिशेन्निधनम् ॥

अशुभशुभैः सदृष्टे वर्षचतुष्केण निर्दिशेदन्तम् ।

अनुपातः फर्तव्यः प्रोक्तग्रहेर्न च दृष्टः ॥”

इत्यस्यापवादमुपरिष्ठाद्व्याप्ति । 'अशुभकृदुडुपोहि दृश्यमूर्तिर्गलिततनुश्च शुभोऽन्यथान्यदूह्यम् ।' अहिर्दिवा दृश्यमूर्तिः पूर्वपक्षगतश्चन्द्रः शुभकृदरिष्टयोग-  
प्रावत्यकृद्गलिततनुश्च शुभो दिवा गलिततनुस्परपक्षगतश्चन्द्रः शुभः अन्यथान्यदूह्यम् ।  
पूर्वपक्षे निशायां चन्द्रः शुभः । तथाच सारावल्याम्—

“पक्षे सिते भवति जन्म यदि क्षपायां  
कृष्णेऽथवाहनि शुभाशुभदृश्यमानः ।

तच्चन्द्रमा रिपुविनाशगतोऽपि यत्ना—

दापत्सु रक्षति पितेव शिशून् हन्ति ॥”

असद्विरवलोकिते इत्यादि बलिभिर्वकिभिरत्रारिविनाशे सहिते कस्मिंश्चिच्छुभ-  
प्रद्वैर्वकिभिः पापैर्दंष्ट्रे मासं जीवति । तथाचोक्तम्—

“शशिवत्सौम्याः पापैर्बलिभिरवलोकिता न शुभदृष्टाः । .

मासेन मरणदाः स्युः पापजितो लभप्रश्नास्ते ॥ ” इति ।

लमाधीशस्य बलादायुश्चिन्त्यमिति सूचितम् । कलत्रसहिते चेत्यत्र च—शब्दे-  
नारिविनाशस्थानं च सूचितम् । तथाच सारावल्याम्—

“राशिप्रमितैर्वपैर्मारयति विलम्बपो रिपुस्थाने ।

मासैर्दंष्ट्राणपतिर्दिवसेरंशाधिपो हन्ति ॥ ”

कलत्रसहिते च—शब्देन लमाधिपजन्मपती पष्ठाष्टमारिःकगौ मसव-  
कालेऽस्तमितौ मरणकरी मासे पष्ठाष्टमे वापि । चन्द्रः कुजरवियुक्तः स्वसुतरस्थाने  
शुभैर्न संपुक्तः मरणं प्रयच्छति शिशोर्नवमे वर्षे न सन्देहः ।” इति ॥ ६ ॥

( मंदाक्रांता )

लग्ने क्षीणे शशिनि निधनं रन्ध्रकेन्द्रेषु पापैः ।

पापान्तस्थे निधनहिबुकयूनसंस्थे च चन्द्रे ।

एवं लग्ने भवति मदनच्छिद्रसंस्थैश्च पापै—

र्मात्रा सार्द्धं यदि न च शुभैर्वीक्षितः शक्तिभृद्भिः ॥७॥

लग्ने क्षीण इति । लग्ने क्षीणे पृष्ठोदये शशिनि निधनं गतवति रन्ध्रकेन्द्रेषु पापैर्लगे  
पृष्ठोदये रन्ध्रकेन्द्रेषु पापैरित्येको योगः । पृष्ठोदये लग्ने निधनं गतवति शशिनीत्यपरो  
योगः । शशिनि निधनं गच्छति रन्ध्रकेन्द्रेषु पापैरिति तृतीयः । तथा च कृष्णीये—

“पृष्ठोदये विलगे भूरा विलमास्तमुखनिधनगताः ।

निधने च शीतरदिर्मन्त्रियते रोगार्तकः पुण्यः ॥” इति ।

पापान्तस्थे एकराशौ स्थितयोः पापयोर्वा द्वितीयदादशयोर्वा मध्ये चन्द्र इति  
पापान्तस्थे निधनहिबुकयूनसंस्थे इत्यत्र दुर्धराभेगापवादद्वयः । तथाच कृष्णीये—

“चतुरस्रदुर्धरागताः पापाः कुर्वन्ति सुचिरेण ।” इति ।

एवं लभे भवतीत्यादि । चन्द्रलघाबुधौ पापमध्यगौ मात्रा सार्धं निधनं गच्छति । एतत्पापद्वयमध्यगा इत्यादियोगे मदनच्छिद्रसंस्थाः पापग्रहाः विरोधेनोक्तत्वादस्याप्यंश्लोकः किञ्चिदत्रोच्यते तत्र गर्भनाश उक्तः अत्र त जातस्य संवत्सरान्तं मरण-युक्तम् । गर्भस्य पापबाहुल्यामिति वक्तव्यम् ॥ ७ ॥

( इन्द्रवज्रा )

राश्यन्तगे सञ्जिरवीक्ष्यमाणे

चन्द्रे त्रिकोणोपगतैश्च पापैः ।

प्राणैः प्रयात्याशु शिशुर्वियागे-

मस्ते च पापैस्तुहिनांशुलग्ने ॥ ८ ॥

राश्यन्तग इति । राशिषु मृत्युभागाः शास्त्रान्तरेषु परिपठितास्तेषु स्थितश्चन्द्रो भागसंख्येष्वेवेषु मृत्युदो भवति । अन्तःशब्दोऽत्र मृत्युभागाः शास्त्रान्तरेषु द्रष्टव्याः तथा चोक्तम्-

“क्षीरप्रियो लोकमुखेश्वरश्च काव्यांतरे भाग्यलोकं मुखेन ।

मौनीराज्यं मृत्युभागाः प्रादिष्टा मेपादीनां वर्णसंख्यैर्हिमांशौ ।”

“मृत्युभागे स्थितश्चन्द्रः पापयुक्तो न सौम्यगः ।

निधने वापि केन्द्रे वा मात्रा सह विनश्यति ॥” इति ।

अथवा राश्यन्तगो राश्यरिष्टं राशिमृत्युभागेऽपि जातस्यारिष्टयोगो भवति ।

राशिमृत्युभागा अपि शास्त्रान्तरेपूक्ताः तथा चोक्तम्-

“यत्तं धनी रुद्ररौद्रं मुखेन प्राज्ञा भानुर्गोत्रजायानरत्नः ।

यश्चीनित्यं मृत्युभागाः प्रादिष्टा मेपादीनां तेषु जातो गतायुः ॥”

“दारुणान्तर्दशाकाले राश्यरिष्टसमान्विते ।

तास्मिन्काले मूर्तिं विन्द्यादन्यथा रोगमाप्नुयात् ॥” इति ।

इत्युक्तत्वात्रिकोणोपगतेः पापैश्चारिष्टम् । तथा चोक्तम्-

“त्रिकोणस्येषु पापेषु षष्ठं शूलान्मतिध्रुमः ।

स्यानघंशः एलधंशो वंशच्छेदोऽथवा भवेत् ॥”

“अस्ते च पापैस्तुहिनांशुलग्ने” इति । दृष्टद्वेष्टाणादारभ्यकोनविंशे द्रव्याणे पापे रिप्ते एते चन्द्रे चारिष्टम् । तथा चोक्तं सारायल्याम्-

“दृष्टद्वेष्टाणयामिमे यस्य स्याद्दारुणो ग्रहः ।

हारां गतः शशांकश्च सघां हरति जीवितम् ॥ ८ ॥”



( हरिणीवृत्तम् )

अशुभसहिते ग्रस्ते चन्द्रे कुजे निधनाश्रिते  
जननिसुतयोर्मृत्युर्लग्ने रवौ तु सशस्त्रजः ।  
उदयति रवौ शीतांशौ वा त्रिकोणविनाशगै-  
र्निधनमशुभैर्वीर्योपेतैः शुभैर्न युतेक्षिते ॥ ९ ॥

अशुभेति । तथाच सारावल्याम्-

“ग्रहणोपगते चन्द्रे सकूरे लग्ने कुजेऽष्टमगे ।

मात्रां सार्धं म्रियते चन्द्रवर्द्धकेण शस्त्रेण ॥”

अशुभसहिते ग्रस्ते चन्द्रे निधनाश्रिते इत्येको योगो लभ्यते । तथाच होरासारे-

“ग्रहणपरिवेशकाले जातः पापग्रहे विलसत्ये ।

लभ्यते बलवर्जिते जीवति पक्षत्रयं त्रिमासं वा ॥” इति ।

उदयति रवाविति । उदयति चन्द्रे रवौ वा त्रिकोणविनाशगैः पापैर्निधनम् ।  
निधनशब्देनेष्टकार्योपघातश्च सूचितः । तथाच विद्वज्जनवल्लभाख्ये-

“केन्द्रत्रिकोणोपगतैः शुभाख्यैः पापेषु केन्द्राष्टमवर्जितेषु ॥

द्वयात्रराणामखिलार्थसिद्धिं विपर्ययः स्याद्विपरीतभेषु ॥”

उदयति रवौ शीतांशौ वा त्रिकोणविनाशगैर्निधनमशुभैरित्युक्तं तस्मात्सर्वेषु केन्द्र-  
त्रिकोणाष्टमगेषु पापाश्च लग्ने चन्द्रश्च सर्वकार्येषु कष्टमित्युक्तं भवति शशांकलम्बो-  
पगतैरित्यादिनापमर्थः सूचितः ॥ ९ ॥

( अपरवक्रम् )

असितरविशशांकभूमिजै-

र्व्ययनवमोदयनैधनाश्रितैः ।

भवति मरणमाशु देहिनां

चदि बलिना गुरुणा न वीक्षिताः ॥ १० ॥

असितेति । असितादयश्चत्वारो ग्रहाः व्ययादिस्थानगताः सद्यः वर्तमाना आशु  
मृतिग्रहा देहिनामिति । आत्मनो वा भ्रातुर्वा वन्धोर्वा पुत्रस्य वा भार्याया वा  
गुरोर्वा स्वसम्बन्धिवन्धुनाश इति यावत् । इति ।

यद्वापादारभ्योक्तेषु स्थानेष्वसितादयश्चत्वारो ग्रहाः स्थितास्तस्यात्मादिभाव-  
भूतस्य देहिनो नाश इत्यर्थः । अथवा व्ययनवमोदयनैधनाश्रितैः इति । व्ययनैधनं  
सप्तमस्थानं तत्र गताश्चेन्मातुर्निधनं वन्धुनाशो वा । उदयनैधनमष्टमस्थानं तत्र

गताश्चेत्त्वोदरनाश इत्यादि व्युत्क्रमेण नैधनोदयनवमव्ययगतैरसितादिभिरप्यरि-  
ष्टयोगः । यदि बलिना गुरुणा न वीक्षिता इति । सर्वेषां योगानां कर्तारो ये ग्रहास्तेषां  
च सूचितम् । गुरुदृष्टौ सत्यामरिष्टयोगवैफल्यं सूचितम् । शुभदृष्टिषु गुरुदृष्टेरा-  
धिक्यम् ॥ १० ॥

( पुष्पिताम्रा )

सुतमदननवांत्यलग्नरन्ध्रे—

एवमुभयुतो मरणाय शीतरश्मिः ।

भृगुसुतशशिपुत्रदेवपूज्यै—

यदि बलिभिर्न युतोऽवलोकितो वा ॥ ११ ॥

सुतेति । भृगुसुतादिदृष्टियोगौ चन्द्रस्य सर्वत्रारिष्टयोगापवादत्वेनोक्तौ । अशुभ-  
युत इत्यनेन शुभक्षेत्रांशदृष्टियोगाश्चिन्त्याः । अर्थांतरम् । 'सुतमदननवान्त्यलग्न-  
रन्ध्रेष्वुभयुतो मरणाय शीतरश्मिः' सुतान्त्यलग्नरन्ध्रेषु गुरुर्नाशयेत्यादि । एवम-  
रिष्टाध्याये उक्तम् ।

एतेऽरिष्टयोगाः आचार्येण सुपरीक्षिताः प्रोक्ताः । ननु च किमन्यैः सारावल्या-  
दिशास्त्रैरुक्ता अन्येप्यरिष्टयोगा नोक्ताः । उच्यन्ते । तेषु शास्त्रेष्वरिष्टयोगा बहुवै-  
निर्दिष्टाः तेषामपवादाश्च तथैवोक्ताः, अपवादानां मध्ये कस्याप्यपवादस्य सदा  
सम्भवादरिष्टयोगानामफलत्वमपि सिद्धं भवति । तस्मात्तदुभयकथनमनर्थकं भव-  
तीति मत्वा संक्षेपात्केचित्सारभूता एवमाचार्येणोक्ताः तथाप्यरिष्टानन्त्यापवादानां  
च बलावलविज्ञानादेव फलनिष्पत्तिज्ञानमिति शास्त्रान्तरैस्तेषां विज्ञानं कर्तव्यम् ।  
'पृथुविरचितशास्त्राद्गत्यनूकं च चिन्त्यम् ।' इत्याचार्येणात्रोक्तत्वाद् शास्त्रान्तरं  
चिन्त्यमिति सिद्धं भवति । ननु कस्मादत्रायुषां नोक्ताः पृथ्वापरपर्यालोचनेन  
सिद्ध्यन्तीति । 'शशाङ्कलोपगतेः शुभग्रहैः' इत्युक्तम् । 'केन्द्रेषु शुभाश्च न चेत्क्षिप्रं  
निधनं प्रवेदत्' इत्यत्र केन्द्रे शुभा आशुष्करा इति विज्ञायते । 'कूरेण युतश्च शशी  
दृष्टेस्तु शुभैरनीक्षितश्च मृत्युदः' इत्यत्र लग्नाच्चन्द्राच्च केन्द्रे शुभाः सन्ति चेदायुर्भव-  
तीत्यवगम्यते । 'मात्रा सार्धं यदि न च शुभैर्वीक्षितः शक्तिभृद्भिः' इत्यत्र वीक्षितं  
शुभानां बलवत्त्वे सत्यपि वीक्षणफलमिति ज्ञातव्यम् । 'यदि बलिना गुरुणा न वीक्षिताः'  
इत्यनेन दोषहरणे शुभवर्द्धने च शुभानां मध्ये गुरोर्वीर्याधिकमस्तीत्युक्तं भवति तथा  
चोक्तम्—

“निःशेषदोषहरणे गुणवर्धने च  
वीर्यं गुरोरधिकमस्त्यखिलग्रहेभ्यः ।

तद्दीर्घवाददशशक्तिमृतौ जगुको

चान्दं बलं तु निखिलग्रहवोर्यवीजम् ॥” इति ।

“शुभं वर्गोत्तमे जन्म वेशिस्थाने च सद्गृहे ।

अशून्येषु च केन्द्रेषु कारकाख्यग्रहेषु च ॥” इति वक्ष्याति ।

पुनः—“हारादयस्तनुकुटुम्बसहोत्पन्न्यु-

पुत्रारिपत्तिभरणानि शुभास्पदायाः ।

रिःफाल्गुनम् ।”

इति प्रथमं द्वादश भावा उक्ताः । तस्मान्भरणमष्टमराशौ तल्लमराशौ च चिन्त्य-  
मिति सिद्धं भवतु । कथयन्त इति ।

“सुहृदरिपरकीयस्वर्क्षतुङ्गस्थितानां

फलमनुपारिचिन्त्यं लभदेहादिभाविः ।

समुपचयविपत्तिः सौम्यपापेषु सत्पः

कथयति विपरीतं रिःफपष्ठाष्टमेषु ॥”

इत्युक्तत्वाल्लभादिभावेषु सौम्यपापेषु सत्सु समुपचयविपत्ती विज्ञातव्ये । रिःफपष्ठा-  
ष्टमेषु विपरीतं रिःके शुभे सति व्ययाभावः जीवस्य तु खलत्वम् इत्युक्तत्वात् ‘फलम-  
धिकमिदं यदत्र भावाद्भवनभनायगुणैर्विचिन्तनीयम्’ । इत्युक्तमपि सर्वत्र चिन्त्यम् ।  
तन्वादिभावानां तत्तद्वाक्षितन्नाययोर्वलवत्त्वे तद्भावपुष्टिरन्यथा हानिः । शुभाश्च न चे-  
दित्पनेन केन्द्रशुभानामायुष्करत्वमस्ति । तथा चोक्तमन्यत्र—

“त्रिपट्टायगतैः पापैः सौम्यैः केन्द्राश्रितैरशीत्यब्दः ।

जीयति चात्रोद्भूतो मिश्रैर्वा पष्टिवर्षं च ॥” इत्युक्तत्वात् ।

“गुरुचन्द्रौ द्विचकस्थौ लभ्ये भवगे बलाद्ये च ।

सौम्ये दशमं याते त्वशीतिवर्षं च परमायुः ॥” इति ।

“लभे क्षीणे शशिनि निघने रन्ध्रेकेन्द्रेषु पापैः ।” इति ।

‘केन्द्राष्टमेषु पापानामिति कष्टत्वात्रिकोणोपगतैः पापैः’ इति त्रिकोणोपगतानां  
पापानामप्यतिकष्टत्वमुक्तम् । तस्मादतिशयेन कष्टाः—

“केन्द्रात्रिकोणनिघनेषु न यस्य पापा

लभाधिपः सुरगुरुश्च चतुष्टयस्यौ ।

भुक्ता सुखानि विविधानि च पुण्यकर्मा

जीवेच्च वत्सरशतं स विमुक्तरोगः ॥” इति ।

अहनि निशि च चन्द्रे स्वेधिभिर्नाशके वा  
सुरगुरुसितदृष्टे वित्तवान्स्यात्सुखी च ॥”

अरिष्टनाशकत्वमप्यनेनोक्तम् । ‘सौम्यैः स्मरारिनिधनेष्वधियोग इन्दोः’ इत्या-  
दियोगोप्यरिष्टनाशकरः । ‘होराफलं लग्नपतेः समानम्’ इति वक्ष्यमाणेन जातफलं  
समस्तं लमाधिपसमानम् । लग्नपतौ बलाढ्ये शुभग्रहयुतदृष्टे पापग्रहदृष्टियोग-  
रहिते च होराफलं शुभं परिपूर्णं भवति, अन्यथाप्यशुभं भवति । चन्द्रप्राधान्येन  
चन्द्रांशकप्राधान्येन वा आरोपणीयमिति ॥ ११ ॥

( भ्रमरविलसितम् )

योगे स्थानं गतवति वलिन—

क्षन्द्रे स्वं वा तनुग्रहमथवा ।

पापैर्दृष्टे वलवति मरणं

वर्षस्यान्तः किल मुनिगदितम् ॥ १२ ॥

इति श्रीवराहमिहिरकृते बृहज्जातकेऽरिष्टाध्यायः षष्ठः समाप्तः ॥ ६ ॥

योगे स्थानमिति । चन्द्रशब्देन शुभाशुभफलदो लमाधिपो वा तत्तद्वावाधिपो वा  
ग्रहो विवाक्षितो वलिनो ग्रहस्य राशिं स्वस्थितराशिं वा स्वराशिं वा प्रविशति तदा  
शुभाशुभफलप्राप्तिः । पापैर्दृष्टे वलवति मरणं शुभैर्दृष्टे शुभं वर्षस्यान्तःस्थानम् ।  
वर्षशब्देन ग्रहपरिवृत्तिर्विच्यते । चन्द्रस्य नाक्षत्रमासादर्वाक् सूर्यस्य संवत्सरादन्त-  
र्भूमिस्थापि स्वपरिवर्तमानादन्त इत्यादि । बृहस्पतेर्द्वादशसंवत्सरादन्तः फलद-  
ग्रहस्य स्वराश्विचलप्रवलयद्बृहगतराशिप्राप्तिकाले फलसिद्धिः । तथा चोक्तम्—

“कालेन यावता गच्छेच्छुभः पापोऽपि वा ग्रहः ।

लभं स्वोद्यं स्वगेहं वा तस्मिन्काले फलं भवेत् ॥

फलदा हि ग्रहाश्चिन्त्याश्चन्द्रसूर्योदयस्थिताः ।

कालेन यावता प्राप्तः शुभः पापोऽयवोदयम् ॥

तत्काले पृच्छता वाच्यमतीतं स्याच्छुभाशुभम् ।

शुभः पापोऽपि वा लग्नं यस्मिन्काले प्रवक्ष्यति ॥

तत्काले प्रवदद्वापि शुभाशुभफलं नृणाम् ।”

लमादापञ्चमगेरानयमस्येश पञ्चमात्रवमात् ।

आलग्नमैरपि भवेद्वापि च भूतं शुभं वाच्यम् ॥

लमवदुदितं कृत्वा दादशभागानतीतरविभागे ।

यंतिमे पापस्ततिमे वर्षे भावक्षयः शुभा संपत् ॥

अथवा प्रश्नादौ तत्काले मरणादिदुःखकरम् ।”

यस्मिन्नाशौ गुलिकादिषु कष्टमती यस्मिन्नाशौ समराशिः योगे बलिनः स्थान-  
मित्युक्तम् । शुभशकुननिमित्तं च यस्मिन्नाशौ शुभग्रहाः शुभफलदाश्च यस्मिन्नाशौ  
तत्र चन्द्रार्कजीवमन्दा गृह्यन्ते । तेषु यस्मिन्काले यः कष्टस्तास्मिन्नाशौ तिष्ठति  
सति मरणादिरित्यादि चिन्त्यम् । 'वर्षस्यान्तः किल मुनिगदितम्' इति किल-  
शब्दोऽत्र विकल्पार्थः, अरिष्टफलं सर्वदा भविष्यति स्वपरीक्षितं यथापि मुनिगदित-  
मेव कथनीयमिति ॥ १२ ॥

इति श्रीवराहमिहिराचार्यकृतबृहज्जातके दशाध्यायीटीकायामरिष्टयोगाध्यायः पष्ठः ॥ ६ ॥

### अथायुर्दायाध्यायः ७.

( पुष्पिताग्रा )

मययवनमणित्थशक्तिपूर्व-

र्दिवसकरादिषु वत्सराः प्रदिष्टाः ।

नवतिथिविषयाश्चिभूतरुद्रा

दशसहिता दशभिः स्वतुंगभेषु ॥ १ ॥

अथायुर्दाय उच्यते ।

मययवनेति । स्वतुङ्गभेषु स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु जातस्य राजयोगसम्भवाद्वाज्ञानु-  
बन्नीचदशा नेतव्या । 'यशस्विनां च जन्तूनामुच्चनचिक्रमो यतः' इत्युक्तत्वान्मययव-  
नेत्यादि बह्वाचार्यकथनात्सर्वपुरुषाणां चिन्तनीयेत्युक्तं भवति । कलिप्रगादावेव  
तं वत्सरा उपदिष्टाः पुनर्लैराशिकवदायुर्हसति ॥ १ ॥

( मन्दाक्रांता )

नीचेऽतोर्द्धं ह्रसति हि ततश्चांतरस्थेऽनुपातो

होरा त्वंशप्रतिममपरे राशितुल्यं वदन्ति ।

हित्वा वक्रं रिपुगृहगतैर्हीयते स्वत्रिभागः

सूर्याच्छन्नश्रुतिषु च दलं प्रोज्झ्य शुक्रार्कपुत्रौ ॥ २ ॥

नीचेतोर्द्धमिति “होरा राशि रिपुगृहगतैर्हीयते स्वत्रिभागं राश्यंशप्रतिमम्”  
इत्यंशशब्देनांशनाथस्य बलाधिक्ये राशितुल्यं साम्येऽपि स्यात् भूतुल्यता इति वा ।  
वक्रमित्यत्र वक्रशब्देन वक्रचारी-ग्रहश्चोच्यते । तदंशक्रमानयने वक्रचारिणो ग्रहस्य  
शत्रुक्षेत्रहरणं न विधेयम् । शत्रुक्षेत्राणि न मययवनादिषु केषांचित्पक्षे जीवो जीव-

बुधाविति । अन्येषां सप्तोक्ते सुहृद् इत्यादिना कल्पनीयानि फलसंपदेव निर्णयः ।  
सूर्याच्छन्नद्युतिषु इत्यत्र तु-शब्देन रहितकरोशकत्वेऽर्धराश्यन्तरगतत्वे व्यंशं हीयते ।  
तथा चोक्तम्-

“हरत्यर्द्धं ग्रहो मूढरूपंशं राश्यन्तरस्थितः ।” इति ।

तु-शब्देनाशकक्रमो बुधस्य मौढ्यहरणं नास्त्येवमपि सूचितम् । ‘शुकार्की हरतो  
नायुश्चन्द्रजश्चाशकक्रमः’ । इति वचनात् ॥ २ ॥

( ग्रहर्षिणी )

सर्वार्द्धत्रिचरणपञ्चपष्ठभागाः

क्षीयन्ते व्ययभवनादसत्सु वामम् ।

सत्स्वर्द्धं हसति तथैकराशिगाना-

मेकोऽंशं हरति वली तथाह सत्यः ॥ ३ ॥

सर्वोद्धति । एकराशिगानामेकोऽंशं हरति वलीति । तथाचोक्तम्-‘एकक्षगतेषु बहुषु  
वलवानपहारकः । सर्वेऽप्यपहाराण्यपि हरणानि सम्भवन्ति चेत् । इदमर्थहरणं कृत्वा-  
न्येषु महद्धरणं कार्यम् ॥’ इति । ‘कृते इदमर्थकेऽन्येषु महदेवैकमिष्यते’ इत्युक्तत्वात् ॥ १ ॥

( वसन्ततिलका )

साध्वोदितोदितनवांशहतात्समस्ता-

द्भागोऽष्टयुक्तशतसंख्यमुपैति नाशम् ।

क्रूरे विलग्नसहिते विधिना त्वनेन

सौम्येक्षिते दलमतः प्रलयं करोति ॥ ४ ॥

साध्वोदितोदितेति । विधिना त्वनेनेत्यत्र तु-शब्देन ग्रहबलादन्यैर्लक्षणैर्दीर्घायुषो  
संभवे लमायुष्येव क्रूरोदये हीयमानमोज्यमिति सूचितम् । लमायुष्येव तच्छोधन-  
मिति वचनादत्रायुष्ये समस्तायुष्येवं शोधनमिति स्वान्त्वान्संशोध्य मध्यायुष  
इति वचनात् ॥ ४ ॥

( शिखरिणी )

समाः पाष्टिर्दिग्धी मनुजकारिणाम्पञ्च च निशा

हयानां द्वात्रिंशत्खरकरभयोः पञ्चककृतिः ।

विरूपा साप्यायुर्वृषमहिषयोर्द्वादश शुनां

स्मृतंज्जगादीनां दशकसहिताः षट् च परमम् ॥ ५ ॥

समा इति । द्विन्ना पष्टिर्विंशत्यधिकशतं संवत्सराः पञ्चनिशाश्च मनुष्याणां करिणां च परमायुः । हयानां मन्थानां च द्वाविंशत् । खरकरभयोः पञ्चककृतिः पञ्चानां चर्गः पञ्चविंशतिसंवत्सराः वृषमहिषयोः सा पञ्चककृतिः विरूपा चतुर्विंशतिसंवत्सरा इत्यर्थः शुनां द्वादश वत्सराः परमायुः । छागादीनामित्यत्रादिशब्देन विमृगयोरपि ग्रहणम् । किमर्थमत्र करिप्रभृतीनां परमायुरुक्तमिति चेदुच्यते तेषां करीन्द्रादीनामायुर्निरूपणार्थमिदं परमायुरुक्तम् । उक्तेन परमायुषा सूर्यादीनां ग्रहाणां पृथक् पृथक् दशासंवत्सरास्त्रैराशिकेनावगन्तव्याः । अस्मिन्त्रैराशिके तु नवतियविषयाश्चिभूतरुद्रा दशसहिता दशभिरुक्तसंवत्सराः समुदायाः सप्तविंशत्यधिकशतं तत्प्रमाणराशिर्नवतिः सूर्यादीनां पृथक् दशासंवत्सराः भवन्ति । ततो हयादीनां जन्मकालानैर्ग्रहैरुक्तविधिनायुर्निरूपणीयमित्युक्तं भवति ॥ ५ ॥

( पुष्पिताग्रा )

अनिमिपपरमांशके विलग्ने

शशितनये गवि पञ्चवर्गलिसे ।

भवति हि परमायुपः प्रमाणं

यदि सकलाः सहिताः स्वतुंगभेपु ॥ ६ ॥

अनिमिपेति । अस्य श्लोकस्येन्द्रदैवं छन्दस्तेनास्मिन्योगे जातध्रुववर्तिर्भवतीति सूचितम् । अन्यच्च कैश्चिद्गणिततन्त्रे बुधे निरूपिते वृषे पञ्चकृतिलिप्तात्मको बुधो रवौ भेपे दशमांशल्लभे तत्संभवति । तस्मात्कालांतरे ग्रहगणितानामदृष्टत्वात्कदाचिद्गणितेन बुधस्तादृशो भविष्यति । इति संचिन्त्य तथोक्तं तदर्थं खलु पञ्चसिद्धान्तिकाः प्रादुर्भूताः । कदाचिदेकः सिद्धान्तः संवदतिद्वगणितानीतयोः कदाचिदन्यः पुनः कदाचिदपरस्तस्मात्काले परीक्ष्य ग्रहाणां द्वगणितसाम्यमानेतद्व्यमिति ॥ ६ ॥

( शालिनी )

आयुर्दायं विष्णुगुप्तोपि चैवं

देवस्वामी सिद्धसेनश्च चक्रे ।

दोषस्तेषां जायतेष्टावरिष्टं

हित्वा नायुर्विंशतेः स्यादधस्तात् ॥ ७ ॥

आयुर्दायमिति । बह्वाचार्याभिप्रेतोऽप्ययमुच्चदशमार्गः । कदाचिदभिवरति तदर्थमिदमुक्तम् ॥ ७ ॥

( शालिनी )

यस्मिन्योगे पूर्णमायुः प्रदिष्टं  
तस्मिन्प्रोक्तं चक्रवर्तित्वमन्यैः ।

प्रत्यक्षोऽयं तेषु दोषोऽपरोपि  
जीवत्यायुः पूर्णमर्थैर्विनापि ॥ ८ ॥

यस्मिन्निति । विषयेविभागं प्रत्यक्षं चानादृश्योऽयं मार्गो नाङ्गीकर्तव्य इत्यभि-  
प्रायः । तस्माज्जन्मकालं सम्यगवगम्य दशामानीय यया दशायानुभूतफलसंवादो  
दृश्यते तथा भविष्यत्फलं चिन्तयेदिति । तथा चोक्तम्-

“यस्मिन्क्रमे संगृहीते पूर्वभुक्तं दशाफलम् ।

न विसंवादमन्येति स क्रमो मम संगतः ॥ ८ ॥” इति ।

( उपछन्दः )

स्वमतेन किलाह जीवशर्मा

ग्रहदायम्परमायुपः स्वरांशम् ।

ग्रहभुक्तनवांशराशितुल्यं

बहुसाम्यं समुपैति सत्यवाक्यम् ॥ ९ ॥

स्वमतेनेति । स्वमतेनेत्येको दोषः । कदाचित्संवदतीति ग्रहभुक्तनवांशराशितुल्य-  
मिति स बहुसाम्यमिति । सत्यवाक्यत्वात्सत्त्वाचार्यस्य सत्यनाम केवलं रूढं गौणं  
च भवति । सत्यवचनस्य प्रामाण्यमस्त्यतिर्य्यः । नवांशराशितुल्यामिति । लग्नराशेश्च  
लग्नांशकप्राचल्येऽंशकक्रमदशांशकप्राचल्येऽंशकक्रमं दशा नेत्येति । ९ ॥

( आर्या )

सत्योक्ते ग्रहमिष्टं लिखीकृत्वा शतद्वयेनासम् ।

मण्डलभागविशुद्धेऽब्दाः स्युः शेषान्तु मासाद्याः ॥ १० ॥

( वंशस्थम् )

स्वतुङ्गवक्रोपगतैस्त्रिसंगुणं

द्विरुत्तमस्वांशकभत्रिभागैः ।

इयान्विशेषस्तु भदत्तभाषिते

समानमन्त्यप्रथमेऽप्युदीरितम् ॥ ११ ॥

सत्योक्तेति । स्वतुंगेति । भदत्तभाषिते सत्योक्ते पक्षे इयान्विशेषः स्वतुंगवक्रोप-  
गतैरिति । ग्रहैर्यः आयुर्दायः आनीतः स त्रिसंगुणः कार्पास्त्रिभिर्गुण्य इत्यर्थः । वर्गो-



सप्तमस्वनवांशकस्त्वष्ट्वहस्वद्वेकाणगतैर्ग्रहैः प्राप्तायुर्दायो द्वाभ्यां गुण इत्यर्थः । अत्र तु-  
 शब्देनायमर्थोऽवगम्यते । यदिदमायुः ग्रहयुक्तनवांशराशितुल्यमित्युक्तम् । तद्ग्रह-  
 वलादीर्घायुषो संभवे पुरुषस्य ग्रहाणां भुक्तमेपाद्यंशकतुल्यां दशामानीय हरणानि  
 कृत्वा द्वित्रिगुणसंभवे द्वित्रिगुणं च सम्पादितं ग्रहभुक्तराशिसंख्यातुल्यैः संवत्सरैः  
 संयोज्यसम्पादनीयमिति । ग्रहयुक्तनवांशराशितुल्यमित्यनेनैव ज्ञातव्यं भवति । समान-  
 मन्यदुदीरितमिति प्रथमे उच्चनीचदशाविधाने यदुदीरितं तदत्रापि समानं दृष्टार्थ-  
 हरणमूढहरणानि पूर्ववत्कार्याणीत्यर्थः । अत्रापि को विशेषोस्ति । अंशकक्रमवि-  
 धाने उदासीनहरणं च क्रियते। शत्रुक्षेत्रगतस्य त्रिभागहरणविधानादुदासीनक्षेत्रगतस्य  
 षड्भागहरणं च विधेयं भवति 'स्वतुङ्गवक्रोपगतैस्त्रिसंशुणः' इत्यत्र तुङ्गवक्रोपगतयोः  
 सह पाठाद्गुणसाम्याच्च स्पष्टतुल्यं बलं वक्रगतौ भवतीत्यपि सूचितम् ॥ १० ॥ ११ ॥

( इन्द्रवज्रा )

किंत्वत्र भांशप्रतिमं ददाति

वीर्यान्विता राशिसमश्च होरा ।

क्रूरोदये पापचयः स नात्र

कार्यं च नाब्दैः प्रथमोपदिष्टैः ॥ १२ ॥

किंत्वत्रिति । अत्र सत्योपदेशे किंचिद्विशेषोऽस्ति । लग्नराश्यंशकस्य लग्नराशि-  
 गतो बलाधिके होरा राश्यंशप्रतिममायुर्ददाति । अंशकगते होरा वीर्यान्विता चेद्वा-  
 शिसममायुर्ददाति । पुनश्च क्रूरोदये योऽपचय उच्चनीचमार्गं विहितः सोऽत्र न कार्यः ।  
 प्रथमोपदिष्टैर्नवतित्थित्यादिशब्दैश्च न कर्तव्यमिति ॥ १२ ॥

( इन्द्रवज्रा )

सत्योपदेशो वरमत्र किन्तु

कुर्वन्त्ययोग्यं बहुवर्गणाभिः ।

आचार्यकत्वञ्च बहुधृताया-

मेकन्तु यद्गूरि तदेव कार्यम् ॥ १३ ॥

सत्योपदेश इति । अत्र कालियुगे अंशकक्रमदशा संवादभूयिष्ठेति ॥ १३ ॥

( पुष्पिताग्रा )

गुरुशशिसहिते कुलीरलग्ने

शशितनये भृगुजे च केन्द्रगे वा ।

भवरिपुसहजोपगैश्च शेषै-

रमितमिहायुरनुक्रमाद्भिना स्यात् ॥ १४ ॥

इति श्रीवराहमिहिराचार्यकृते होराशास्त्रे बृहज्जातके

आयुर्दायाध्यायः सप्तमः ॥ ७ ॥

गुरुशशीति । अमितायुर्योगा उक्ताः बह्वत्र निरूपणीयमस्ति तत्र सर्वं ग्रहा उक्त-  
स्थानस्थाश्चेत्स्यायुरमितं चन्द्रलग्नौ पृथक्स्थौ चेताभ्यां पृथङ्निरूपणीयं  
चन्द्रादिति वक्ष्यति । केन्द्रस्थानामायुष्करत्वं त्रिषडायगतानां पापानामप्यायुष्करत्वं  
मस्तीति सर्वत्र चिन्तनीयं चन्द्रलग्नयोर्बलाधिक्यं चायुष्करं बलिप्रत्यक्षं जीवस्य  
लग्नगतत्वं च ।

“बलिष्ठो लग्नगः सूरिः सर्वारिष्टविनाशकृत् ॥”

इत्यादिवचनात् ॥ १४ ॥

इति दशाध्याय्यामायुर्दायाध्यायः सप्तमः ॥ ७ ॥

अथ दशान्तर्दशाध्यायः ।

( मालिनी )

उदयरविशशांकप्राणिकेन्द्रादिसंस्थाः

प्रथमवयसि मध्येऽन्ते च दद्युः फलानि ।

नहि न फलविपाकः केन्द्रसंस्थायाभावे

भवति हि फलपक्तिः पूर्वमापोक्लिमेऽपि ॥ १ ॥

उदयेति । विंशत्यधिकशतसंवत्सराः परमायुः । तन्निर्भागं कृत्वा प्रथमभागे वयसि  
उदयप्राधान्येन फलनिर्देशः । मध्यभागे वयसि चन्द्रप्राधान्येनान्त्यभागे वयसि  
रविप्राधान्येन कार्यं इति । अस्मिन्नयं उदयरवीति क्रमो न विवक्षितः । अथ  
दशापरिग्रहविधौ तु उदयरविशशांकपे बलवतो दशा प्रथमा । पुनस्तत्केन्द्रगतस्य  
पुनरापोक्लिमगतस्य । तदुक्तम्-‘नहि न फलविपाकः’ इत्यादिना केन्द्रे पुनः  
सप्तमगतस्य अन्ये दशमगतस्य पुनः पणफरगतस्य तत्र प्रथमलग्नाद्वितीयगतस्य  
पुनः पञ्चमगतस्येत्यादि पूर्ववत् । आपोक्लिमे च तद्वत् । उच्चनीचमार्गेषु दिवस-  
फरादिविवति दिवसकरस्य प्रथमोक्तया तदादिदशापरिग्रहो युक्तः । नवांशराशि-  
तुल्यमिति । राशिकथनादंशकक्रमे लग्नादिदशापरिग्रहः । चन्द्ररेन्दुजेति । चन्द्रस्य  
प्रायस्योक्ता निसर्गादयो चन्द्रदशापरिग्रहः इति प्रायश उपदिष्टं भवति । बाल्ये  
यौवने वार्धक्ये च केन्द्रादिस्थाः फलदाः । तथा च सारावल्याम्-

“केन्द्रात्पणफरमापोक्लिमं च संज्ञितं ततः ।

परस्ताद्बालयुवस्यविरत्वे क्रमेण फलदा ग्रहास्तेषु ॥” इति ।

अनेनाध्यायेन प्रभादावप्युपयुज्यते । उदयरविशशांकप्राणिनो यस्मिन्काले प्रष्ट-  
स्वभाभिमतं पृच्छति तदोदयराशिभगवन्म्य छायाजलयन्त्रादिभिर्गतनाडिकाः विज्ञाय  
ताभिरुदयलग्नमानीय तेन शुभाशुभं चिन्त्यम् । तदानीमेव रविमानीय तेनापि  
शुभाशुभस्य पाककालश्च निरूपणीयः । चन्द्रमपि तदानीमानीय तेन लग्नवत्फलं  
निरूपणीयम् । प्राणीति । प्रच्छकस्य भावादिना तेनारूढेन भूचक्राशिना चोदया-  
रूढवशादवगतेन छिद्रराशिना च केन्द्रादिसंस्थैर्ग्रहैश्च फलं चिन्त्यते केन्द्रस्यैः शुभाशुभैः  
प्रथमे वयसि सदसत्परिपाकः पणफरस्यैर्मध्ये वयस्यापोक्लिमस्यैरन्ते वयसि-  
केन्द्रसंस्थाद्यभावे सर्वदा सत्फलविपाको भवत्येव । केन्द्रसंस्थाद्यभावे लग्नमित्यर्थः ।  
तेन त्रिषु वयसु च फलनिरूपणं कर्तव्यमित्यर्थः । आपोक्लिमस्था अन्त्ये वयस्येव  
फलं दद्युरित्यत आह—‘आपोक्लिमस्थिताः पूर्वमपि फलं दद्युः’ इति किं पुनः पण-  
फरस्थास्तृतीयेन भावेन सहजगुणाः प्रथमे वयस्यपि चिन्त्याः त्वमेन गुरुगुणदोषाः ।  
पष्ठेन शत्रवः । पञ्चमेन पुत्राः । द्वितीयेन धनमेकादशेन च लाभमित्यादिसर्वभावफल-  
मपि सर्वदा चिन्त्यमित्यर्थः । केन्द्रादिसंस्था इत्युक्तविधिना पूर्वमापोक्लिमेऽपि इति  
पक्षान्तरं वा । आपोक्लिमे गतफलं, केन्द्रे वर्तमानफलं, पणफरे भविष्यत्फलं, केन्द्रा-  
त्प्रातिष्वनिवृत्ता इति । एतन्नवमाध्याये ॥ १ ॥

( इन्द्रवज्रा )

आयुष्कृतं येन हि यत्तदेव

कल्प्या दशा सा प्रवलस्य पूर्वा ।

साम्ये बहूनां बहुवर्षदस्य—

तेषाञ्च साम्ये प्रथमोदितस्य ॥ २ ॥

आपुरिति एषमुदयारूढच्छिद्रचन्द्राद्यैः सर्वप्रभे प्रथममायुश्चिन्त्यम्, अरिष्ट-  
योगा राजयोगादयश्च सर्वे चिन्त्याः । तथा दशा चानेतव्या । तथा चोक्तम्—

‘जनलग्नतया प्रभलमं संकल्प्य पण्डितः ।

जातके यद्यदुद्दिष्टं तत्तत्प्रश्नेपि चिन्तयेत् ॥” इति ।

तत्र विशेषः—आरूढच्छिद्रलगाधिपतीनां यो बलवांस्तस्य दशा अवस्था पूर्वं  
भवति । ग्रहाणां सप्तावस्था निरूपणीयाः । “अथ बालः समर्त्तस्यो चालो बन्धुगृहे  
स्थितः । मृतनामातिनीचस्यो दशैवं स्थानतो भवेत् ॥” “सूर्यादुदितमात्रोसौ सोऽति-  
बालः प्रकीर्तितः ॥”

चालः सप्तांशकादूर्ध्वं कुमारस्तु ततः परम् ॥  
 वक्रारम्भे युवा प्रोक्तो वक्रकाले नराधिपः ।  
 आसन्नास्तमयो वृद्धो मृतोऽस्तंगत ईरितः ॥  
 अतिचालो दशाकाले जडो रोदनतत्परः ।  
 चालस्य तु दशाकाले क्रीडासक्तः कुमारकः ॥  
 कुमारस्य दशाकाले विद्यासक्तश्चेन्नरः ।  
 यौवनस्य दशाकाले कामी भोगपरायणः ॥  
 वृद्धसंज्ञदशाकाले बलहीनो जडात्मकः ।  
 मृतसंज्ञदशाकाले मरणं याति निश्चयात् ॥” इति ।

एवमंशपतिर्वोदयाधिपतिर्वा लमांशकाधिपतिर्वा यो बलवान् तस्य या अवस्था  
 सात्र पूर्वा भवतीति । तेषां बलसाम्ये बहुवर्षदस्य बहुकालफलदस्य निगदितेति  
 निरूप्य बहुकालं यस्य फलस्य संवादस्तेन ग्रहेण फलं चिन्त्यम् । तेषां च साम्ये  
 प्रथमोदितस्य बहुफलं संवादिनां सौम्ये यो ग्रहः प्रथमोदितस्तेषु राशिष्वेकत्र राशी  
 स्थिते न वदेदित्यर्थः ॥ २ ॥

( वसन्ततिलका )

एकर्क्षगोर्ध्वमपहृत्य ददाति तु स्वं  
 त्र्यंशं त्रिकोणगृहगः स्मरगः स्मरांशम् ।  
 पादम्फलस्य चतुरस्त्रगतः सहोरा-  
 स्त्वेवम्परस्परगताः परिपाचयन्ति ॥ ३ ॥

एकर्क्षग इति । एकराशिगतौ द्वौ ग्रहौ चेत्तयोरेकोऽन्यस्य फलं स्वयं शुभश्चे-  
 त्तापुष्टं करोति, अशुभश्चेत्स्वयमशुभम् इत्यर्थः । तैर्ग्रहैः स्वकैर्भवेर्गुणदोषा  
 भवन्ति । पञ्चमस्यशुभाशुभैः पुत्रवशात्त्रयमस्यशुभाशुभैः पितृवशात्सप्तमस्यशुभा-  
 शुभैः फलत्रयशाच्चतुर्थगतैर्मातृवशादष्टमस्यैरायुःकेशादिभिर्पथा पञ्चमस्यः शुभः  
 पुत्रगुणादात्मगुणं त्र्यंशाधिकं करोति । नवमस्यः शुभः पितृगुणादात्मगुणं त्र्यं-  
 शाधिकं करोति । तद्वीक्षणं च सप्तमस्यः शुभः कलत्रगुणमात्मगुणं सप्तांशाधिकं  
 करोति । एवं दीपं च परस्परगताः परिपाचयन्ति ॥ ३ ॥

( इन्द्रवज्रा )

स्थानान्यथैतानि सवर्णयित्वा  
 सर्वाण्यधश्छेदविवर्जितानि ।

दशाब्दपिण्डे गुणका यथांश-

छेदस्तदैक्येन दशाप्रभेदः ॥ ४ ॥

स्थानानीति । एतानि स्थानानि पञ्चमनवमसप्तमचतुर्थाष्टमस्थानानि पापसंवा-  
धाभावाच्छुभयोगाच्च छेदो नाशस्तेन हीनानि यदि चिन्तितानि तदानीं दशाब्दपिण्डे  
गुणनादशाब्दपतिः शुभमेव तस्य भावस्य यथासम्भवं छेदः । लभं द्वादशाधा  
विभज्योद्यदंशकेन वर्तमानार्थं गुणदोषौ चिन्त्यौ अतीतैर्द्वादशांशकैरधः, अतीत-  
संवत्सरेषु गुणदोषौ चिन्त्यौ । एषामंशकैर्भविष्यत्संवत्सरेषु । तदुक्तम्-यथांशच्छेदाः  
यथांशस्य छेदो भवति पापयोगादाधिपतिबलहान्या तदैक्येन तत्संयोगाद्दशाप्रभेदो-  
ऽवस्थाप्रभेदः अवस्थादुःखमित्यर्थः । तस्मिन्संवत्सरे तस्य भावस्य-दुःखमित्यर्थः ।  
तथा चोक्तम्-

“लभवदुदितं कृत्वा द्वादशभागानतीतरविभागे ।

यातिमे पापस्ततिमे वर्षे भावक्षयः शुभैः सम्पत् ॥

एष्यद्वादशभागेः सदसद्युक्तैस्तथैष्यवर्षेषु ॥” इति ॥ ४ ॥

( वैतालीयम् )

सम्यग्बलिनः स्वतुङ्गभागे

सम्पूर्णा बलवर्जितस्य रिक्ताः ।

नीचांशगतस्य शत्रुभागे

ज्ञेयानिष्टफला दशा प्रसूतौ ॥ ५ ॥

सम्पत्तिगति । जातकेषु सर्वबलसम्पूर्णस्य दशा शुभा सर्वबलहीनस्य दशा अशुभा  
इतरा मध्यमा । तथा च सारावल्याम्-

“स्वोच्चस्वराशिनिजभागसुहृद्ब्रह्मस्थाः

सम्पूर्णवीर्यरुचिरा बलिनः स्वकाले ।

मित्रोच्चभागसहिताः शुभदृष्टियुक्ताः

श्रेष्ठां दशां विदधाति स्ववयःसु खेदाः ।

नीचशत्रुगृहं प्राप्तः शत्रुनीचांशसूर्यगः ।

पापसम्पर्कमापन्नो दशां कुर्यादशोभनाम् ॥”

इति प्रश्नादौ । उदयाधिपतिरविशशांकारुद्रपतयश्च तैर्युक्तराश्यधिपाश्च सम्य-  
ग्बलिनः सोच्चभागस्थाः सम्पूर्णफलदास्तेषु बलहीनेषु पुरुषस्थावस्था नीचांशगताः  
शत्रुभागगताश्चेदनिष्टफलसामर्थ्यम् । यया गुरोर्हमाश्वात्मजकुञ्जरावरचयः इति दशा-  
फलमुक्तम् । न तन्निपतं दृश्यते लोके जनानां गुरुदशाकालः संभाव्यः । न तेषा-

मुक्तफलप्राप्तिरित्यनुपपत्तिपरिहाराय प्रसूतावित्युक्तम् । प्रसूतौ सम्पूर्णवले ग्रहेनृपत्वं भवतीत्युक्तम् 'जनयति नृपमेकोऽप्युच्चगो मित्रदृष्टः' इत्यादिना । ततः कुञ्जराश्वादि-  
प्राप्तिश्चोपपद्यत इति । अरिष्टफलेत्यत्र फलशब्देन पूर्वत्र सम्पूर्णोऽष्टमफला इति ।  
एतदुक्तं भवति । जन्मकाले ग्रहे बलवति दशायां तस्योक्तानि शुभफलान्येव । शुभ-  
ग्रहः स्वोच्चगतो लग्नगतश्चेत्सर्वार्थसिद्धिप्रदो भवति । तथा च विद्वज्जनवल्लभाख्ये-

"पश्यत्येकश्चेच्छुभेषु स्वमुच्चं लग्नं प्राप्तः खेचरः प्रदन्काले ।

स्थानैश्वर्यायौच्छ्रयो वृद्धिवाच्या निस्त्वं देहं एवमेवात्र तज्ज्ञैः" इति ।

ननु तस्मिन् बालिन इत्यादिश्लोके दशादातुर्ग्रहस्य शुभदृष्टिरस्ति । चेदशा  
शुभा इत्युक्तं साराधल्यां तु- 'शुभदृष्टियुक्ताः भेषां दशां विदधति' इत्युक्तम् । कथमे-  
तदुच्यते । नैष दोषः ।

"अशुभगदिता योगा याप्या भवन्ति शुभेक्षिताः ।

दृष्टुस्तु शुभैर्न यदा मृत्युस्तु भवेदचिरात् ॥

पदि च न शुभैर्वीक्षितः शक्तिमद्भिः शुभैरयुतेक्षिते ।

भृगुसुतशशिपुत्रदेवपूज्यैर्यदि बलिभिर्न युतोऽवलोकितो वा ॥"

इत्यादिवचनैः शुभदृष्टेरशुभनाशकरत्वं केन वा नोह्यते ।

"क्षीणेन्द्रर्कमहीसुतार्कतनयाः पापा बुधस्तैर्पुतः ।"

इत्युक्तस्य ग्रहाणां शुभाशुभफलप्रदानज्ञापनं विना किं प्रयोजनमवगम्यते ।  
तस्माच्छुभग्रहदृष्टिः शुभेति किमु वक्तव्यम् । पुनरुच्चगतं लग्नस्थं ग्रहमुच्चको ग्रहः  
पश्यति चेद्वाहो राज्यसिद्धिरपि वक्तव्या । लग्नशब्देनारूढोऽपि विवक्षितः । तथा  
च विद्वज्जनवल्लभाख्ये-

"यदि विलग्नमुच्चगतं ग्रहं समवलोकयते ग्रह उच्चगः ।

भवति तत्समये सम्पुण्यैः सपदि राज्यमिति प्रवदेद्बुधः ॥"

"जनयति नृपमेकोऽप्युच्चगो मित्रदृष्टः

प्रतुरधनसमेतं मित्रयोगाच्च सिद्धिम् ।"

इति वक्ष्यति च 'उच्चस्थस्य ग्रहस्य वक्रगतेश्च बलं नान्यैर्हरिष्यते ।' तथा च  
साराधल्याम्-

"उच्चेशेन विलोमे च बलं नान्यैर्हरिष्यते ।

फालस्यातिबलत्वं स्याच्चेति चारसवक्तिः ॥" इति । ॥ ५॥

( इन्द्रवज्रा )

अष्टस्य तुङ्गनदवरोहिसंज्ञा

मध्या भवेत्सा सुहृदुच्चभांशे ।

आरोहिणी निम्नपारिच्युतस्य  
नीचारिभांशेष्वधमा भवेत्सा ॥ ६ ॥

(उपजातिः)

नीचारिभांशे समवस्थितस्य  
शस्ते गृहे मिश्रफला प्रदिष्टा ।  
संज्ञानुरूपाणि फलान्यथैषां  
दशासु वक्ष्यामि यथोपयोगम् ॥ ७ ॥

अष्टम्येति । नीचारिभांशे इति । अतिदुष्काद्रष्टव्यमिति नीचभावावधिदेशस्थाने  
अवरोहिसंज्ञा दशा ॥ अतिनीचाद्रष्टव्यमप्युच्चभागान्तरास्त्रितौ आरोहिणी दशा । एतदुक्तं  
भवति । परमोच्चैः यत्फलमुक्तं तत्फलं तस्मादारभ्य क्रमेण ह्रसति परमनीचैः शून्यं  
भवति, तत्रापि सुहृदुच्चभागादिस्थितवशाच्चत्फल्स्योत्कर्षापकर्षौ ज्ञेयौ । पुनरयमुप-  
देश उच्यते जन्मलभेशेषोर्वरुषान् जन्मकाले तस्मारोहित्वे पूर्वस्मात्तस्य ग्रहस्योप-  
घातो भवति आरोहित्वे वृद्धिर्भवति । एवमुच्चनीचवशादपि फलं चिन्त्यमित्युक्तं  
भवति । उच्चनीचवशान्मूलत्रिकोणस्वगृहमित्रोदासीनशत्रुक्षेत्रनीचस्थितवशाच्च फल-  
विशेषश्चिन्त्यते इत्युक्तम् । नीचारिभाग इति अत्र नीचारिभागे शस्तेप्रहस्य दशा-  
मिश्रफला । अत्र ग्रहसंस्थितराशिभावावगमनेन केवलं वक्तव्यम् । अंशकपरिज्ञानं  
चावश्यकमित्यवगन्तव्यम् । नीचारिभाग इति । सर्वेषु राशिषु नीचारिभागेषु नीच-  
नवांशे शत्रुनवांश इति । नीचारिगृहे शस्ते नवांशके स्थितस्य दशा च मिश्रफलदा  
इत्येतदप्यनेनैवोक्तं भवति । शस्तेतानि ग्रहाण्युच्चत्रिकोणक्षेत्रवन्धुराशयस्तेषु राशिष्वपि-  
किञ्चिद्विद्यते । तथा च साराध्याय-  
“अत्युच्चमिति द्रव्यं महान्तमपि भास्करः स्वतुंगस्थः ।  
मृष्टाशनान्धराढ्यं सुभूषणं शतितुः कुरुते ॥  
तेजस्विनं कुतनयः दुःखसहं गर्वितं प्रवरशूरम् ।  
मेधाविनं कुलाढ्यं निपुणं वाक्ये वुधः कुरुते ॥  
विख्यातं गुरुराढ्यं विद्यासंभृतसत्कृतज्ञं च ।  
स्वोच्चं भृगोश्च तनयो विलासहास्यप्रनृत्यरसम् ॥  
स्वोच्चस्थो रुषितनयो नृपलब्धानियोगमपि जनयेत् ॥”  
“मानुस्त्रिकोणसंस्थो धनवन्तं मुख्यशीलमतिनिपुणम् ॥  
भोक्तारं धनवन्तं शशी प्रसूतौ त्रिकोणगः पुरुषम् ।  
वक्रांऽपि तस्करपतिं शूरं बलनिर्दयं चापि ॥

सौम्यो विनोदशीलं त्रिकोणगो वै नरं कुरुते ।  
 जीवः पुरोहितवरं महत्तरं नयविदां सुखोपेतम् ॥  
 दानवगुरुरपि जनयेद्भामवरणो वारिष्ठमास्यमतिम् ।  
 आत्मत्रिकोणमार्कियनदत्तकुलपतिं त्वधर्मरतम् ॥”  
 “शीतरश्मिर्मनस्विनं रूपवन्तमात्मर्क्षे तीक्ष्णमयूखः ।  
 कुरुते महोद्युक्तकर्माणमाढ्यं प्रचंडचपलं भौमः ॥  
 कुरुते स्वराशिगः पुरुषं शशितनयोऽपि कुरुते कथापण्डितं चापि ।  
 कान्धभृतज्ञमाढ्यं शुभचेष्टेवेषं वाक्पतिः स्वराशिक्षिः ॥  
 दानवपूज्यः कुरुते कृपावलं स्थिरचित्तं च ।  
 कुरुते शैश्वरोऽपि मान्यमदुःखं स्वराशिगः पुरुषम् ॥”  
 “मित्रगृहेऽर्कः रुपातं सुस्थिरहृदयं च दातारम् ।  
 मित्रर्क्षगः शशांकः समुदयसौख्यं सुवनमानम् ॥  
 अंगारकोऽपि कुरुते सुहृदने रक्षणासक्तम् ।  
 शशिजः सुहृद्गृहगतः कुरुते चातुर्यहास्यधनवंतम् ॥  
 वचसामधिपः पूज्यं सतां च संमृष्टकर्माणम् ।  
 मित्रगृहं भृशुतनयः सुहृत्प्रियं दयितवित्तञ्च ॥  
 इष्टसुतं भास्करजः कुरुते च परान्नभोजिनं पापम् ॥”  
 “नीचे सविता कुरुते प्रेम्णं बान्धवजनावधूतं च ॥  
 हिमरश्मिरप्युष्णं रोगिणमतिदुर्भगं लोके ।  
 नीचस्थः क्षितितनयोऽनर्थव्यसनोपतप्तमतिनीचम् ॥  
 नीचे हिमकरपुत्रः क्षुद्रं स्वकृजातवद्धमतिवैरम् ।  
 नीचे गुरुः प्रकुरुते मलिनं मातावमानमतिनीचम् ॥  
 असुरदयितः स्वतन्त्रं नष्टदारं विषमशीलं च ।  
 कोणो विषमशीलं विषमिहान्तरास्पृश्यस्ति ॥”  
 “कुरुते शत्रुगृहोऽर्कं निःस्वं विषमोडितं चापि ।  
 तुहिनमयूखः कुरुते हृदोगिणमरिगृहे नरं सततम् ॥  
 चद्रामयभारिभाजं विरुलं रुधिरासतिदुर्भगं लोके ।  
 अज्ञानं घाम्दीनं बुधोरिभे नैकदुःखमतिदानम् ॥  
 अरिभे गुरुर्विधत्ते वेद्यं विधनं च सद्वृत्तम् ।  
 शुक्रारिगृहं भृतकं कुतन्त्रिमतिदुःखितं जनयेत् ॥  
 भास्करपुत्रः कुरुते मलिनं व्याध्वध्वशोकसंतप्तम् ॥”



इत्येतत्सर्वं राशिफलाध्यायेन कुलसममकुलमुख्येत्यादिना च सिद्ध्यतीत्यादि-  
राश्याभ्रपवशादुक्तानामंशकाभ्रपवशादन्ययार्थं निरूपणीयमिति-

“नीचारिभांशे समवस्थितस्य शस्ते ग्रहे मित्रफला प्रदिष्टा ।”

इत्युक्तम् । एतदिष्टानिष्टमिश्रफला प्रदिष्टेत्युक्तम् । एवमिष्टानिष्टमिश्रफलं नि-  
रूपणीयम् । एवमिष्टानिष्टमिश्रफलानयनं सम्भवल्लिन इत्यर्थश्लोकद्वयेनोच्चत्रिकोण-  
स्वसुहृदित्यादिकेनोपदिष्टाः । भावाध्याये वक्ष्यमाणेन श्लोकेनाचार्येण सूचितमत्र ।  
अन्यशास्त्रेपि स्पष्टमुक्तमत्र मयोच्यते-

‘अर्कादिग्रहान्तरमनीचभागादिशोध्य शिष्टात्राशीन् दशभिर्भागान् विंशत्या च  
गुणयेत् पुनश्चेष्टाकेन्द्रं पूर्ववदानयेत् सायनांशोर्कस्त्रिराशिसहितोर्कस्य चेष्टाकेन्द्रम् ।’

भानुस्फुटरहितश्चन्द्रस्य चेष्टाकेन्द्रम् । कुजादीनां तु मध्यस्फुटान्तरार्धम् । मध्यमे  
स्फुटाधिके शीघ्रोच्चयो भवेत् मध्यमे स्फुटादूने शीघ्रोच्चादिशोध्ययेत् पुनस्तस्माच्छी-  
घ्रोच्चात्स्फुटं त्यजेत् । एवं चेष्टाकेन्द्रमानीय “शेषमण्डकिपद्यच्छ इष्टफलं  
परितवेषुम् अदजातकसंग्रहात् लेपक छिपोलईरुकरद ।” एवमानीते इष्टानिष्टफले  
तस्य ग्रहस्योच्चादिनिसर्गान्तं पदप्रकारमानीय तेन बलसमूहेन गुणयेत् । ग्रहद-  
शायामन्तर्दशापामायव्ययसंख्यासाधने स्थाताम् । आभ्यां सर्वग्रहैरानीतां दृष्टिं  
पृथगुणयेत् एते अभिष्टाष्टिकलमदानकाले आपव्ययसाधने स्थाताम् ।

अथ बलकालायव्ययसाधने उच्येते उच्चराश्मिबलमेवोच्चबलं, चेष्टारश्मिबल-  
मेव चेष्टाबलं तयोर्योगदलं तत्पट्टिगतं साधितमनिष्टफलमिति विभागः । उच्चादि-  
स्थानेनार्धहोरादिर्वर्गश्च युक्तमिष्टफलमनिष्टफलं च स्थानबलेन हत्वा गुरुजाकाणां  
शतपट्टचक्रैः सितचन्द्रयोस्त्रिपापकेन्दुना मन्दभौमयोः पणवत्या विभजेत् । स्थान  
बलकालेष्वाव्ययसाधने भवतः । दिग्बलेन युक्तेष्टानिष्टफले दिग्बलेन हत्वा  
त्रिंशता विभजेत् । कालबलेनोक्तवत्संयुक्तेनिष्टफले इतरमलसंयोगमपि विधाय  
कालबलेन गुणयेदर्कताराणां विचन्द्रे विभजेत् । सितेन्द्रोः शतेन मन्दारयोः  
सप्तपट्ट्या विभजेत् । कालबलफलकाले आपव्ययसाधने भवतः । एवमपनबलमु-  
क्तेष्टानिष्टफले अपनबलेन हत्वा सर्वेषामेव त्रिशता विभजेत् । एवं चेष्टाबलयुक्ते-

“स्थानदिकालवीर्यघ्नं चेष्टायनबलाहृतम् ।

यदुक्तं संख्यया भाज्यं तत्कालायनसाधनम् ॥” इति ।

पुनः रविराविजगुरवः पञ्चषट्चन्द्रैः सितः शतिगुः कृतिचन्द्रैः शनिभौमौ  
पणवत्या बलिमता दिक्चेष्टायनवीर्यं तु दलमेव प्रकीर्तितम् एकैकशः सप्ताहैः  
कालबले इति । अथ भावानामिष्टानिष्टफले उच्येते-

भावानां ग्रहविपुक्तानामविपतिबलमेव फलं ग्रहयुक्तानां तु तस्य ग्रहस्य पाप-  
शत्रुनीचराशिधेदिष्टफलं भावसाधनेन हत्वा पट्ट्या विभजेत्तन्ध्यामिष्टफलमेव प्राक्-

सौम्यो विनोदशीलं त्रिकोणगो वै नरं कुरुते ।  
 जीवः पुरोहितवरं महत्तरं नयविदां सुखोपेतम् ॥  
 दानवगुरुरपि जनपेद्रामवरणा वरिष्ठमास्यमातिम् ।  
 जातमत्रिकोणमार्कधनदत्तकुडपतिं त्वधर्मरतम् ॥”  
 “शीतरश्मिर्मनस्विनं रूपवन्तमात्मक्षे तीक्ष्णमयूखः ।  
 कुरुते महोप्रमुद्युक्तकर्माणमाड्यं प्रचंडचपलं भीमः ॥  
 कुरुते स्वराशिगः पुरुषं शशितनयोऽपि कुरुते कथापण्डितं चापि ।  
 काव्यश्रुतज्ञमाड्यं शुभचेष्टवेपं वाक्पतिः स्वराशिर्यः ॥  
 दानवपूज्यः कुरुते कृषीषलं स्थिरचित्तं च ।  
 कुरुते शैवश्चरोऽपि मान्यमदुःखं स्वराशिगः पुरुषम् ॥”  
 “मित्रगृहेऽर्कः रुशतं सुस्थिरहृदयं च दातारम् ।  
 मित्रर्क्षगः रुशोकः समुद्यसौख्यं सुवनमानम् ॥  
 अंगारकोऽपि कुरुते सुहृद्वने रक्षणासक्तम् ।  
 शशिजः सुहृद्वृहगतः कुरुते चातुर्यहास्यधनवंतम् ॥  
 वचसामधिपः पूज्यं सतां च संमृष्टकर्माणम् ।  
 मित्रगृहे भृगुतनयः सुहृत्प्रियं दयितवित्तञ्च ॥  
 इष्टसुतं भास्करजः कुरुते च परात्रभोजिनं पापम् ॥”  
 “नीचे सविता कुरुते प्रेप्यं वान्धवजनावधूतं च ॥  
 हिमरश्मिरपपुण्यं रोगिणमतिदुर्भगं लोके ।  
 नीचस्थः क्षितितनयोऽनर्थव्यसनोपतप्तमदिनीचम् ॥  
 नीचे हिमकरपुत्रः क्षुद्रं स्व रुजातवद्धमतिवैरम् ।  
 नीचे गुरुः प्रकुरुते मलिनं प्राप्तावमानमतिनीचम् ॥  
 असुरदयितः स्वतन्त्रं नष्टदारं विषमशीलं च ।  
 कोणो विषमशीलं विगर्हिताचारमध्वनिरतं च ॥”  
 “कुरुते शत्रुगृहेऽर्कः निःस्वं विषयीडितं चापि ।  
 तुहिनमयूखः कुरुते हृदोगिणमारिगृहे नरं सततम् ॥  
 वदामयमारिभाजं विरुलं रुधिरोऽतिदुर्भगं लोके ।  
 अज्ञानं वाग्दीनं बुधोरिभे नैकदुःखमतिदीनम् ॥  
 अरिभे गुरुर्विद्यते वेद्यं विधनं च सद्वृत्तम् ।  
 शुभाणिदे भूतकं कुतन्त्रिमतिदुःक्षितं जनयेत् ॥  
 भारकरपुत्रः कुरुते मलिनं व्याध्यध्वशोकसंततम् ॥”

इत्येतत्सर्वं राशिफलाध्यायेन कुलसममकुलमुख्येत्यादिना च सिद्धयतीत्यादि-  
राश्याश्रयवशादुक्तानामंशकाश्रयवशादन्यथार्थं निरूपणीयमिति-

“नीचारिभांशे समवस्थितस्य शस्ते गृहे मित्रफलाः प्रदिष्टाः ।”

इत्युक्तम् । एतदिष्टानिष्टमिश्रफलाः प्रदिष्टेत्युक्तम् । एवमिष्टानिष्टमिश्रफलं नि-  
रूपणीयम् । एवमिष्टानिष्टमिश्रफलानयनं सम्पन्नं चलिन इत्यर्थं श्लोकद्वयेनोच्चत्रिकोण-  
स्वसुहृदित्यादिकेनोपदिष्टाः । भावाध्याये वक्ष्यमाणेन श्लोकेनाचार्येण सूचितमत्र ।  
अन्यशास्त्रेऽपि स्पष्टमुक्तमत्र मयोच्यते-

‘अर्कादिग्रहान्परमनीचभागादिशोऽप्य शिष्टावाशीन् दशभिर्भागान् विंशत्या च  
गुणयेत् पुनश्चेष्टाकेन्द्रं पूर्ववदानयेत् सायनांशोऽर्कस्त्रिराशिसहितोऽर्कस्य चेष्टाकेन्द्रम् ।’

भानुस्फुटरहितश्चन्द्रस्य चेष्टाकेन्द्रम् । कुजादीनां तु मध्यस्फुटान्तरार्धम् । मध्यमे  
स्फुटाधिके शीघ्रोच्चयो भवेत् मध्यमे स्फुटादूने शीघ्रोच्चादिशोधयेत् पुनस्तस्माच्छी-  
घ्रोच्चात्स्फुटं त्यजेत् । एवं चेष्टाकेन्द्रमानीय “शेषमण्डकियद्यदृच्छ इष्टफलं  
घरित्तवेणुम् अदजातकसंग्रहात् लेपक् लिपोल्ईरुकरद् ।” एवमानीते इष्टानिष्टफले  
तस्य ग्रहस्योच्चादिनिसर्गान्तं पदप्रकारमानीय तेन बलसमूहेन गुणयेत् । ग्रहद-  
शायामन्तर्दशायामापव्ययसंख्यासाधने स्याताम् । आभ्यां सर्वग्रहैरानीतां दृष्टिं  
पृथग्गुणयेत् एते अभिदृष्टिफलप्रदानकाले आपव्ययसाधने स्याताम् ।

अथ बलकालापव्ययसाधने उच्येते उच्चराशिबलमेवोच्चबलं, चेष्टारशिबल-  
मेव चेष्टाबलं तयोर्व्योमदलं तत्पट्टिगतं साधितमनिष्टफलमिति विभागः । उच्चादि-  
स्थानेनार्धहोरादिवर्गश्च युक्तमिष्टफलमनिष्टफलं च स्थानबलेन हत्वा गुरुजाकार्णां  
शतपट्टचक्रैः सितचन्द्रयोस्त्रिपापकेन्दुना मन्दभौमयोः पणवत्या विभजेत् । स्थान  
बलकालेऽप्यापव्ययसाधने भवतः । दिग्बलेन युक्तेष्टानिष्टफले दिग्बलेन हत्वा  
त्रिंशता विभजेत् । कालबलेनोक्तवत्संयुक्तेऽनिष्टफले इतरमलसंयोगमपि विधाय  
कालबलेन गुणयेदर्कज्ञाराणां विचन्द्रे विभजेत् । सितेन्द्रोः शतेन मन्दारयोः  
सप्तपट्ट्या विभजेत् । कालबलफलकाले आपव्ययसाधने भवतः । एवमपनबलमु-  
क्तेष्टानिष्टफले अपनबलेन हत्वा सर्वेषामेव त्रिंशता विभजेत् । एवं चेष्टाबलयुक्ते-

“स्थानदिकालवीर्यघ्नं चेष्टायनबलाहतम् ।

यदुक्तं संख्यया भाज्यं तत्कालायनसाधनम् ॥” इति ।

पुनः रविराविजगुरवः पञ्चपट्टचन्द्रैः सितः शतगुः कृतिचन्द्रैः शनिभौमौ  
पणवत्या बलिमता दिक्चेष्टायनवीर्यं तु दलमेव प्रकीर्तितम् एकैकशः सप्तज्ञैः  
कालबले इति । अयं भावानामिष्टानिष्टफले उच्येते-

भावानां ग्रहयुक्तानामधिपतिबलमेव फलं ग्रहयुक्तानां - तु तस्य ग्रहस्य पाप-  
शत्रुनीचराशिश्चैदिष्टफलं भावसाधनेन हत्वा पट्ट्या विभजेत्तन्नामिष्टफलमेव प्राक्-

स्थितेऽनिष्टफले योजयेत् । स्थितस्य पापग्रहस्य न भाव उच्चादिपञ्चस्थानं चेद्भि-  
रोधपरित्यागन्याये प्राकस्थिते फले भवतः । शङ्कराशिश्चेदुभयं न कर्तव्यमिति  
सम्प्रदायः । एवमाह यवनेश्वरः-

“भावानां स्वपतेः फले तु विहिते तत्र ग्रहश्चेतदा  
हत्वा भावफले नवाङ्गभजिते लब्धेषु यो योजयेत् ॥  
सौम्यश्चेदितरं रवेः परमथो पापस्तथैवान्यथा ।  
दृग्वीर्योत्थफले तथैव च भवेदुच्चादिपूक्तकमात् ॥” इति ।

एतदुक्तं तत्राचार्येण भावाध्याये-

“फलमधिकमिदं यदत्र भावाद्भवनभनाथगुणैर्विचिन्तनीयम् ॥”

इति वक्ष्यमाणेन ग्रन्थसंदर्भेण सिध्यति । इष्टानिष्टफलानयने कोऽपि सम्प्रदायः  
प्रदर्शितः । प्रकृतमनुसरामः, संज्ञानुरूपानि फलानि चैवामित्यस्यायमर्थः । राजानौ  
रविशीतगृ इत्यादिना च ग्रहयोरपि भेदाध्याये शिष्टेन ग्रन्थेन च ग्रहमयं समस्त-  
मित्युक्तम् यथा-

“स्नाय्वस्थसूक्तवगय शुक्रवसे च मञ्जा  
मन्दार्कचन्द्रबुधशुक्रसुरेज्यभौमाः ॥”

इत्युक्ते ग्रहाणां धातूनां च सप्तानामभेद उपदिष्टः । तथा सति मन्दस्य स्नायु-  
धातोश्च भेदे मन्दस्य स्नायुरिति संज्ञा वक्तव्या एवं संज्ञाध्यापोक्तं सर्वमुक्तं संज्ञा-  
नुरूपानि फलानीति । तथा चोक्तम् । तत्र यद्ग्रहरूपं यदुक्तं तस्य फलदातृत्वे तत्फ-  
लपरिपाकः । यथा रवेरात्मप्रभावादि; चन्द्रस्य मनोगुणादि, कुजस्य सत्त्वं, बुधस्य  
वचनमित्यादि, रविशीतगाविति रविचन्द्रयोः राजकुलवासादि, कुजस्य दण्डनाय-  
कत्वाद्बुद्ध्यादि, बुधस्य यौवराज्यसेवादि, गुरुशुक्रयोरमात्यशक्तिः, शनेः सेवादि,-  
प्रागाद्या इत्यत्र दिक्परिज्ञाने फलम् । बुधसूर्यसुतावित्यत्र पुंस्त्रीनपुंसकस्वभावादि;  
विषादित इति जातिभेदपरिज्ञाने, चन्द्रार्कजीवावित्यादि गुणस्वभावपरिज्ञाने, मधु-  
पिङ्गलद्विगित्यादि रूपपरिज्ञाने, स्नाय्वस्थीत्यादि धातुपरिज्ञानेः चोपयुज्यते तदुक्तं  
‘संज्ञानुरूपानि फलानि चैवाम्’ इति ॥ ६ ॥ ७ ॥

( चैतालीयम् )

उभयेऽधममध्यपूजिता

द्रेष्काणैश्चरभेषु चोत्क्रमात् ।

अशुभेष्टसमाः स्थिरे क्रमा-

द्धोरायाः परिकल्पिता दशा ॥ ८ ॥

उभयेऽधमेति अनेन सूत्रत्रयमपि सूच्यते । उभये चरमध्यमम्, उभये उभयं मध्यमम्, उभये स्थिरं पूजितं, चरमे पूजितमध्यमाधमाः, चरे चरं पूजितं चरे स्थिरं स्थिरं मध्यमं चरे उभयमध्यमम् । अशुभेषु समाः स्थिरे क्रमास्थिरे स्थिरम् । समये पक्तिदशायां क्रमादन्त्ये लब्धदशा शुभेति ॥ ८ ॥

(शार्दूलविक्रीडितम्)

एकं द्वौ नव विंशतिर्धृतिरुत्ती पञ्चाशदेपां क्रमा—

चन्द्रोरन्दुजशुक्रजीवदिनकृद्देवाकरीणां समाः ।

स्वैःस्वैः पुष्टफला निसर्गजनितैः पक्तिर्दशायाः क्रमा-

दंते लग्नदशा शुभेति यवना नेच्छन्ति केचित्तथा ॥ ९ ॥

एकमिति । नैसर्गिकः स्वभावः क्षरीरिणामेष उक्तः । प्रथमवर्षे चन्द्रोऽधिपति-  
स्तस्य जलात्मकत्वान्निश्चेष्टता । द्वितीयतृतीययोर्भाप्रस्तस्य बालत्वादधिरसाभिर-  
तिर्भवति । चतुर्थवर्षादारभ्य द्वादशवर्षान्तं ज्ञः । त्रयोदशवर्षादारभ्य द्वात्रिंशद्वर्षान्तं  
दानवश्चरः । त्रयस्त्रिंशद्वर्षादारभ्य पञ्चाशद्वर्षान्तं गुरुः तस्य ज्ञानस्वरूपत्वाज्ज्ञान-  
सुखाद्यनुभवः । पुनः सप्तत्यनन्तरं रविरधिपस्तस्य बुद्धत्वादात्मज्ञानसेवाकालः ।  
पुनर्विंशत्युत्तरशतवर्षान्तं शनिरधिपस्तस्य मरणस्वरूपत्वान्मृतप्रायो भवेत् । 'स्वैः  
स्वैः पुष्टफला निसर्गजनितैः' इत्यनेन बाहुल्याद्यवस्थानुरूपं दशाफलप्राप्त्यर्थं वक्तव्यं  
भवति । 'स्वैः स्वैः पुष्टफला निसर्गसमये' गणितानीता या निसर्गदशा पुष्टफला  
बाधफला वा पुष्टा भवन्ति । प्राप्तिर्यमस्तीत्यर्थः । तथा च सारावल्याम्—

“स्वोच्चस्वकालवलिनः सम्पूर्णवलस्य या निसर्गपुष्टा ।

उत्तमशुभफलदा ग्रहस्य नित्यं दशा भवन्तीति ॥”

एवं चन्द्रादीनां क्रमेणातिबालकुमारपौवनस्यंविशविपरीतवृद्धमृतात्मकधमनेनोक्तेन  
दर्शितं भवति ॥ ९ ॥

(शार्दूलविक्रीडितम्)

पाकस्वामिनि लग्नगे सुहृदि वा वर्गस्थे सौम्येऽपि वा

प्रारब्धा शुभदा दशा त्रिदशपङ्कलाभेषु वा पाकपे ।

मित्रोच्चोपचयत्रिकोणमदने पाकेश्वरस्य स्थित—

श्चन्द्रः सत्फलबोधनानि कुरुते पापानि चातोऽन्यथा ॥ १० ॥

पाकेति । दशाश्लेषभङ्गोऽनेनोच्यते । न केवलं जन्मकालादशा निरूपणीया दशा-  
प्रारम्भकालादपि तत्रापि दशापतेर्गुणदोषवशाच्चिन्त्यते । पाकस्वामिनि दशानाथे

शाप्रारम्भे लग्नगते सुहृत्क्षेत्रगते दशानाथस्य वर्गे वा शुभर्क्षे सौम्ये वा शुभराशिगते  
न या दशा प्रारम्भते सा शुभा भवति । तथा च सारावल्याम्-

“प्रवेशे बलवान्क्षेपः शुभैर्वा संनिरीक्षितः ।

सौम्यादिमित्रवर्गस्थस्तदा शुभफलप्रदः ॥”

इत्यादित्रिदशपङ्कलाभे वा पाकपे उपचयस्ये दशापत्तौ प्रारब्धाः शुभा दशाः  
ति । अथार्थान्तरमुच्यते-लमाद्दिद्वादशराशिभिर्ये भावा निरूप्यन्ते तेषामधिपाः  
पाकस्वामिनोऽर्कादयो ये ग्रहाः पित्रादिकारकास्ते च तत्तात्पित्रादिपदार्थपाकस्वामिनः  
एवं यस्य पदार्थस्य यः पाकस्वामी दशाप्रारम्भे तस्मिन् लग्नगते सुहृत्क्षेत्रगते तस्य  
वर्गे लग्नगे तद्दशायां तस्य शुभं भवति । मूहूर्त्तादावप्येवम् । तथा चोक्तम्-

“पुत्रादिभावसिद्धयर्थं क्रियाः पुंसवनादयः ।

सिद्धयन्ति भावनाथस्य वारक्षेत्रोदये कृताः ॥” इति ।

पुनः सौर्यामित्यादिना यानि शुभफलान्युक्तानि तेषां वृद्धिर्भवति, प्रश्नादावप्येव-  
मूह्याः । यः कारको यस्य फलस्य तस्मिन्लग्नगते बन्धुगते वा तरय वर्गे लग्नगे  
तस्मिन्स्ववर्गगे सौम्यक्षेत्रगते धोपचयगते वा तस्य फलस्याचिरात्सिद्धिर्वक्तव्या  
ति । मित्रोच्चोपचय इत्यादि ‘चन्द्रः सत्फलबोधनानि कुरुते’ इत्यत्र चाभिप्रायान्तर-  
मस्ति चन्द्रस्य हि फलानां बोधयितृत्वं, रवेर्दशाफलानां पाचकत्वं, ‘राजानौ  
रविशीतगू’ इत्युक्तत्वाच्चन्द्रार्काधीनत्वं कुजादीनामुक्तं पूर्वमेव व्याख्यातं शास्त्रान्तरे-

सविता दशाफलानां पाचयिता चन्द्रमा प्रबोधयिता ।

आदित्यचन्द्रवशगाः सर्वे ताराग्रहा ज्ञेयाः ॥” इति ।

अकस्मादेकस्यां दशायामुक्तानि शुभफलानि मित्रोच्चोपचयादिस्थानगते चन्द्रे-  
ऽनुभूयन्ते मित्रोच्चोपचयादन्यराशिगे चन्द्रे अशुभफलान्यपि भवेयुरिति द्रष्टव्यम् ।  
चन्द्रस्य मित्रोच्चोपचयादिसितत्वं दशाप्रारब्धे निरूपणीयम् ॥ १० ॥

( शार्दूलविक्रीडितम् )

प्रारब्धा हिमगौ दशा स्वगृहगे मानार्थसौख्यावहा

कौजे दूषयति स्त्रियं बुधगृहे विद्यासुहृद्विचिता ।

दुर्गारण्यपथालये कृपिकरी सिंहे सितक्षेत्रदा

कुम्भीदा मृगकुम्भयोर्गुरुगृहे मानार्थसौख्यावहा ॥ ११ ॥

प्रारब्धेति । सर्वत्र चन्द्रस्थितिबशादन्यग्रहाणां फलविभागभेदातीति सूच्यते ।  
अंशकार्थेऽप्येतदेव फलं वक्तव्यम् । चन्द्रस्य शुभत्वे सति अन्यग्रहाणां शुभत्व-

विपरीते विपरीतत्वम् । चन्द्रबलवशादन्येषां स्वफलदानशक्तिरित्युक्तं भवति ।  
तथा च श्रीपतिः—

“अमृतस्त्रिणवीर्याद्वैर्यमाभित्य सर्वे  
विदधति फलमेते खेचराः साध्वसाधु ।  
निजनिजविषयेषु व्यामियन्ते ययामू—  
न्यलमिह मनसेवाधिष्ठितार्त्तादियाणि ॥ ११ ॥”  
( शार्दूलविक्रीडितम् )

सौर्यां स्वं नखदन्तचर्मकनकक्रौर्यार्ध्वभूपाहवै-  
स्तैक्ष्ण्यन्धैर्यमजस्रमुद्यमरतिः ख्यातिः प्रतापोन्नतिः  
भार्यापुत्रधनारिशस्त्रहुतभुग्भूपोद्भवा व्यापद-  
स्त्यागी पापरतिः स्वभृत्यकलहो हृत्क्रोडपीडामयाः ॥ १२ ॥

सौर्यामिति । सौर्यामित्यादिश्लोकपूर्वाद्धन शुभफलान्यपराधेनाशुभफलानि गदि-  
तानि । भूपाहवैधनमिति पूर्वार्धेनाक्तम् । ‘शस्त्रहुतभुग्भूपोद्भवा व्यापदः’ इत्यपराध-  
नोक्तम् । भूपाद्धनसिद्धिरपि भूपादापच कथमेतत्संभवत्युच्यते—सूर्यस्य बलपुष्टौ  
पूर्वार्धेनोक्तं शुभफलम् । तथा च सारावल्याम्—

“भानुदशायां लभते नखदन्तचर्मोपवाद्यविपकलहैः ।  
अर्थगैरिव बह्विः क्रीर्यं नरेन्द्रहृदयाद्यैः ॥  
चेतृपतेरर्थार्थिर्वै भूपात्ततोद्यमं तैक्ष्ण्यम् ।  
ख्यातिः प्रतापविद्याचेष्टा धर्मे द्विभूपतित्वं च ॥  
भृत्यार्थचौरचक्षुःशस्त्राण्युदरक्षितिपरा वाधा ।  
अथ पत्नीवन्धुजनैः संपीडा स्यान्व पापरतिः ॥  
धुत्तृष्णार्तिः शोको हृत्पीडा पैत्तिका रोगाः ।  
गात्रच्छेदो भवति हि सूर्यदशायापमनिष्टायाम् ॥” इति ।

एवं सर्वग्रहदशायां यस्य ग्रहस्य शुभफलत्वमुक्तं तस्मिन्बलवति तद्भवति । बल-  
हीने शुभं भवति । मध्यबले मिश्रमिति । एतदशासु शस्तास्त्रियादिग्रन्थेनाचार्येण-  
वोक्तं भवति । नन्वाचार्येणोक्तम्प्यो दशाफलेभ्योऽतिरिक्तानि दशाफलानि । तत्रा-  
चार्योक्तान्येव वक्तव्यानि, आहोस्त्रित्सारावल्यामुक्तान्युच्यन्ते निरूपणे तु सारावल्याः  
मुक्तान्याचार्येणाप्युक्तानि भवन्ति । अत्रापैत्रविषाभ्यामर्थसिद्धिराचार्येणाप्युक्ता  
भवति । ‘अर्कांशे तृणकनकोर्णभेषजाद्यैः’ इत्यत्र भेषजेनार्थसिद्धिरुक्ता । ‘भार्यापुत्र-  
धनारिशस्त्र०’ इत्यत्रारिशब्देन विपचौरादयोपि गृह्यन्ते । शस्त्रशब्देन गात्रच्छेदोऽपि

सूचित इत्यादि निरूप्यताम् । प्रश्नादावपि दुस्ये रवौ अशुभान्युक्तानि दशाफलानि वक्तव्यानि सुस्थे तु शुभानि वक्तव्यानि । कालात्मा दिनकृदित्यादि सत्त्वादिगुण-  
विषयः । मधुपिंगलद्विगित्यस्याकृतिविषयः । स्नाय्वस्थोत्थादि धातुविषयः ।  
देवाग्निव्यादि स्थानविषयः । वस्त्रं स्थूलमित्यादि वस्त्रविषयः । दिवाकोर-  
न्दोरित्यादि पितृमातृनिरूपणविषयः । व्ययगृहगतश्चन्द्रो वामं हिनस्ती-  
त्यादिना नयनारोग्यादि । सूर्यं काष्ठचतुष्पदेत्यादिना देह पीडादि पित्तमकृ-  
तिरित्यादिना धातुकीयः । योऽन्यधिपतित्वाज्ज्वरादिभयमग्निभयमग्निशस्त्र-  
विषयं च दाहादि । अस्थ्यधिपतित्वादस्थिस्नायुहृत्कोष्ठपीडामयाः । शिवदेवस्य  
शिवकोपः । सिंहराश्यधिपतित्वादपस्मार इत्यादि सर्वं प्रश्ने विचिन्तनीयम् ॥ १२ ॥

( शार्दूलविक्रीडितम् )

इन्दोः प्राप्य दशां फलानि लभते मंत्रद्विजात्युद्भवा-  
नीक्षुक्षीरविकारवस्त्रकुसुमक्रीडातिलान्नश्रमैः ।

निद्रालस्यमृदुद्विजामररतिः स्त्रीजन्म मेधाविता

कीर्त्यर्थोपचयक्षयौ च बलिभिर्वैरं स्वपक्षेण च ॥ १३ ॥

इन्दोरिति । क्षीरशब्देन जलं चोच्यते—कीर्त्यर्थोपचयक्षयौ पक्षवशादन्य-  
त्सूर्यवशात् ॥ १३ ॥

( शार्दूलविक्रीडितम् )

भौमस्यारिविमर्दभूपसहजक्षित्याविकाजैर्धनं

प्रद्वेषस्तुतदारमित्रसहजैर्विद्वद्गुरुद्वेष्टता ।

तृष्णासृगज्वरपित्तभङ्गजनिता रोगाः परस्त्रीकृता

प्रीतिः पापरतैरधर्मनिरतिः पारुष्यतैर्क्षण्यानि च ॥ १४ ॥

भौमस्येति । भौमस्यारिविमर्दभूपसहजक्षित्याविकादीनां कारकत्वं चोक्तम् ।  
मेधाधिपत्याच्छिरोरोगः । अग्निमयत्वान्नयनरोगः । अग्निशस्त्रविषयम् । पित्तशब्देना-  
पस्मारभ्रान्त्यादि सूचितम् । भङ्गशब्देन च विकटाद्यपि सूचितम् । अरिशब्देन  
चौरपि सूचितः । एतेषु दशाग्रहेषु बलवत्सु यैर्हनुभिर्वनसिद्धिरुक्ता प्रतिकूलस्थान-  
गतैष्वलेषु तैर्हानिरपि तर्कणीया ॥ १४ ॥

( शार्दूलविक्रीडितम् )

वौश्यां दौत्यसुहृद्गुरुद्विजधनं विद्वत्प्रशंसायशो-

युक्तिद्रव्यसुवर्णवैसरमहीसौभाग्यसौख्याप्तयः ।



हास्योपासनकौशलं मतिचयो धर्मक्रियासिद्धयः

पारुष्यं श्रमबन्धमानसशुचः पीडा च धातुक्षयात् ॥ १५ ॥

बौद्धयामिति । यथा सवितृदशानिरूपणप्रकार उक्तस्तद्वत्सर्वेषामपि निरूपणीयः ।  
दौत्यसुहृदित्यादिनोक्तः ॥ १५ ॥

( शार्दूलविक्रीडितम् )

जैव्यास्मानगुणोदयो मतिचयः कांतिप्रतापोन्नति-  
र्माहात्म्योद्यममन्त्रनीतिनृपतिस्वाध्यायमन्त्रैर्धनम् ।

हेमाश्वात्मजकुञ्जरास्वरचयः प्रीतिश्च सद्गुमिपैः

सूक्ष्म्योहागहनाश्रमः श्रवणरुग्वैरं विधर्माश्रितैः ॥ १६ ॥

जैव्यामिति । हेमाश्वात्मजादीनामतिशयस्यापि गुरोः कारकत्वं ज्ञेयम् ॥ १६ ॥

( शार्दूलविक्रीडितम् )

शौक्रयाङ्गीतरतिप्रमोदसुरभिद्रव्यान्नपानास्वर-

स्त्रीरत्नद्युतिमन्मथोपकरणज्ञानेष्टमित्रागमाः ।

कौशल्यं क्रयविक्रये कृपिनिधिप्राप्तिर्धनस्यागमो

वृन्दोर्वीशानिपादधर्मरहितैर्वैरं शुचः स्नेहतः ॥ १७ ॥

शौक्रयामिति । गीतादीनां शुक्रस्य कारकत्वमवगन्तव्यं विवाहोपि, मन्मथोप-  
करणशब्देनोक्तः ॥ १७ ॥

( शार्दूलविक्रीडितम् )

सौरीम्प्राप्य खरोष्ट्रपक्षिमहिषीवृद्धाङ्गनावासयः

श्रेणीग्रामपुराधिकारजनिता पूजा कुधान्यागमः ।

श्लेष्मेष्ट्यानि लकोपमोहमलिनव्यापत्तितन्द्राश्रमा-

न्मृत्यापत्यकलत्रभर्त्सनमपि प्राप्नोति च व्यङ्ग्यताम् ॥ १८ ॥

सौरीमिति । सौर्या स्वमित्यादिसप्तश्लोकोक्तं प्रश्नादावप्युपपद्यते ॥ १८ ॥

( उपजातिः )

दशासु शस्तासु शुभानि कुर्व-

न्त्यानिष्टसंज्ञास्वशुभानि चैवम् ।

## मिश्रासु मिश्राणि दशाफलानि

होराफलं लग्नपतेस्समानम् ॥ १९ ॥

दशास्त्विति । बलाबलवशादशानां शस्ताशस्तत्वं चोक्तम् । समवलिनः स्वतुङ्गे सम्पूर्णेत्यादिनोक्ताः संज्ञाः स्वतुङ्गभागे स्थितस्य सम्पन्वलिन इत्युक्तत्वात्स्थानबलेन तुङ्गाश्रयेणान्यैर्दिकालचेष्टादिभिर्बलैरसितस्येत्युक्तं भवति । तस्माद्बलवदशायाः कष्टत्वमिष्टत्वं चोच्यते । तथा चोक्तम्—

“सम्पूर्णवीर्यः सविता करोति राज्यादिसिद्धिं जनरञ्जनादीन् ।

पादोनवीर्येण युतोऽस्य पुष्टिं गृहीयवस्तुस्वजनाभिवृद्धिम् ॥

वीर्यार्थयुक्तो विषदाभिभूतिं पश्चात्सुखासिं सुतदारसौख्यम् ।

पादेन वीर्येण युतोऽपि दुःखं व्याध्यादिकोपं शमनं च पश्चात् ॥

पद्मागवीर्यः स्वसुतार्तिदुःखं मूर्धागरोगं पिटकं च पश्चात् ।

इष्टासु हानिं त्वय पोडशांशवीर्योतिदुःखं मरणं बलीनः ॥

चान्द्रीदशा पुष्टफलं ददाति स्त्रीराज्यवस्त्रान्नसुगन्धबन्धून् ।

पादेनजा स्त्रीग्रहणं जलात्तु धनं कफार्तिं निजमातृसौख्यम् ॥

अर्धाशजा स्त्रीकलहं सुगन्धद्रव्यान्नपानादतिभीर्विरोधम् ।

स्त्रीभ्यो धनं पित्तमरुत्प्रकोपं यो पोडशांशाजलतोऽर्थहानिम् ॥

वृद्धाङ्गनासक्तिवधूविनाशौ वीर्यवियुक्तौ विषबन्धघातम् ।

स्त्रीभीतिपायोमयपाण्डुरोगान्निरुन्नतामात्मजनैर्वियोगम् ॥

देहक्षयं वा प्रददात्पनिष्टां सम्पूर्णवीर्यस्य कुजस्य दोषम् ।

भूपुत्रसेनाधिपतित्वलाभं पुजा गुरुणां गुणवान्धनाढ्यः ॥

शूलं भवेत्पित्तमरुत्प्रकोपात्पादोनवीर्यः प्रददाति राज्यम् ।

सर्वविरोधं कलहं —

विषक्षवैरं च कुज

द्विजातिरोषात्सदवीर्ययुक्तः पद्मागवीर्यो वसनार्थहानिम् ॥

स्त्रीपुत्रदारास्वयमदप्रदाता कुष्ठाक्षिकर्णोद्भवरोगपीडाः ।

शत्रुक्षतिं स्वल्पबलः करोति विहीनवीर्यो मरणप्रदः स्यात् ॥”

‘शस्त्राभिभूताशनितो भयं च’ इत्यादिबलवशात्सौर्या स्वमित्यादिनोक्तानि फलानि विभज्य जातिशुलदेशावस्थानुरूपं वदेत् । ननु च बलवशादेव फलं सर्वेषां ग्रहाणां शुभाशुभत्वमिति चेच्छुभानां शुभकृत्त्वमशुभानामशुभकृत्त्वं च कथं संपद्यते । उच्यते मन्दस्य ह शोकस्य पूर्वार्धनापारशुभफलमुक्तमपराधेनात्यन्तमशुभफलमुक्तम् । तस्मादेषां प्रयाणां दशासु शुभफलमित्युक्तं भवति । बुधस्य दशाफलोक्तिस्त्रिभिः

पादैः शुभफलमुक्तमन्त्यपादेनाशुभफलमुक्तम् । गुरुदशायां प्रापशः शुभफलान्येवोक्तानि । अन्यैस्तु किञ्चिदशुभफलमुक्तम् । शुक्रस्यापि तद्वत् । तस्मादेषां त्रयाणां शस्तासु दशासु शुभफलानि वस्तूनि प्रायो भवन्ति । अनिष्टसंज्ञासु अशुभमल्पं शुभं न भवति । चन्द्रस्याप्येवं चिन्त्यम् । इयानत्र विशेषोऽभिप्रेतः । पुनरष्टमाधिपत्यादिदोषकृत्त्वं सर्वग्रहाणां साधारणमेव तत्रापि बलं चिन्त्यम् । अथ प्रश्नादौ दशाषु शस्तासु शुभानि कुर्वन्ति । अवस्थासु मङ्गलासु च भच्छकस्य शुभानि भवन्ति अनिष्टसंज्ञास्वस्यास्वशुभानि भवन्तीति । 'होराफलं लग्नपतेः समानं' होराफलं जातकफलं समस्तं लग्नेशसमानं, लग्नेशस्य प्रश्नादावारुद्धेशस्य बलं विशेषाच्चिन्त्यमित्यर्थः ॥ १९ ॥

( शालिनी )

संज्ञाध्याये यस्य यद्व्यमुक्तं

कर्मर्माजीवो यश्च यस्योपदिष्टः ।

भावस्थानालोकयोगोद्भवश्च

तत्तत्सर्वं तस्य योज्यं दशायाम् ॥ २० ॥

संज्ञेति । अत्र दशाफलनिरूपणे न केवलं सौर्या स्वमिति उक्तफलान्यव धत्तव्यानि । किन्तु बहुधा हि ग्रहस्य फलपरिपाकदशावशादन्तर्दशावशाद्राशिषशाद्योगवशादष्टकवर्गवशाद्वेष्काणादिवशादाश्रयवशाच्च यद्यत्फलं तत्सर्वं दशासु योज्यम् । 'संज्ञाध्याये यस्य यद्व्यमुक्तं' इत्यत्र संज्ञाध्याये कालात्मा दिनकृदित्यादिग्रन्थेन यः पदार्थ उक्तः सोऽस्तुसन्धेयः । आदित्यादीनामात्मत्वराजत्वादि रक्तद्यामत्त्वादि च ताम्रादिवर्णाः पदार्थाश्च ताम्राणि द्रव्याणि च सत्त्वादिगुणाश्च विप्रादिजातयश्चान्योन्यविधानि ग्रहस्वरूपाण्युक्तानि तानि सर्वाणि दशासु योज्यानि । एतदुक्तं भवति । आदित्ये बलवति सति जातस्यादित्यदशायामात्मप्रभावः राजप्रसादस्ताम्रवर्णवस्तुसिद्धिस्ताम्रद्रव्यलाभः क्षत्रियकुलवासः सन्वयुणस्वभावः । 'मधुर्पगलदृक्' इत्यादि आकृतिस्थितिधातुगुणिः । आदित्ये बलहीने सति एतेषां हानिरपि चिन्तनीया । एवं चन्द्रादीनामपि स्वस्वरूपानुरूपमूलम् । योज्यमित्यत्र जातिवशादवस्थानुरूपं योजनीयमित्यर्थः । अथवा शास्त्रान्तरेषु ग्रहाणां द्रव्याण्युक्तानि तस्याकं तनुस्ये इति लग्नेशस्य फलमुक्तं तत्र शूरशब्देन क्रियालस्यं क्रोधिता प्रचण्डत्वं मानित्वं पित्तप्रकृतितात्वेतिकत्वमल्पकर्फं च निरूपणीयं न केवलमेतावता 'समुपचयविपत्तिः सौम्यपापेषु सत्यः कथयति विपरीतं रिःकमष्टाष्टमेषु' मूर्धादिभावेषु यत्र सौम्यास्तस्य भावस्योपचयं यत्र पापस्तस्य भावस्य

विपरीतं रिःफपष्टाष्टमेषु शुभोपि नाशं करोति अष्टमे शुभो मरणं नाशं करोति  
पष्ठे शुभो रिपुनाशं करोति पापो विपरीतमिति सत्यः कथयति । आचार्यस्य मतं  
तु अष्टमव्यययोः सर्वे नेष्टाः पष्ठे शुभाः शत्रुनाशका इति कथमेतदवगतमिति  
चेदष्टमे गुरोर्नीच इति फलमुक्तं द्वादशे गुरोः खल इति पष्ठे गुरोरशुभ इति ।  
शुक्रस्य गुरुवदित्युक्तम् । अष्टमे रेवः- 'स्वल्पात्मजो निधनगे विकलेक्षणश्च ' इत्युक्तम् ।  
'व्यये पतितस्तु रिःफे' इति कुजशून्योरादित्यवदित्युक्तम् । तस्मादष्टमद्वादशयोः सर्वे  
ग्रहा नेष्टा इति सिद्धं भवति । 'अन्त्यगते द्विविणीयः स्यात्' इत्युक्तत्वाच्छुक्रं विना  
सर्व ग्रहाः मृत्युव्यययोर्नेष्टा इत्यवगन्तव्यम् । तथा च स्वल्पजातके-

"पुष्णन्ति शुभा भावान्मूर्त्यादीन् घ्नन्ति संस्थिताः पापाः ।

सौम्या पष्ठेऽग्निघ्नाः सर्वे नेष्टा व्याघ्रमगाः ॥" इति ।

एतानि दशायां योजनीयानि । तानि शास्त्रान्तरादानीय लिख्यन्ते तथाच  
सारावल्याम्-

"व्यालामिशैलकर्णिकसुवर्णविषवस्त्रभेषजादीनाम् ।

म्लेच्छास्थिकारकाणां गिरिकाष्ठादेः प्रभुः सूर्यः ॥

कुसुमानां भोज्यानां मणिरजतेश्वादिशङ्खवस्त्राणाम् ।

रम्भविभूषणनारीपृततैलादिप्रभुश्चन्द्रः ॥

रक्तोत्पलताम्राणां मनःशिलास्वर्णपात्राणाम् ।

क्षितिनृपपतितनुमूच्छाभिषातचौरप्रभुर्भूमिः ॥

श्रुतिलिपिशिल्पकलादौ मुनिपुणता मन्त्रिदूतप्रभुहास्ये ।

खगलग्मादौ स्यातिर्विधिधौषधिमणिप्रभुः सौम्यः ॥

माङ्गल्यधर्मपौष्टिकमहत्वाशिक्षादिपागपुराष्ट्रे ।

यानासनधान्यादेः सुवेदमपुत्रप्रभुर्जीवः ॥

पद्यमणिरत्नभूषणविवाहरम्येष्टगन्धमाल्पानाम् ।

सुपुवतिनिधुवनविद्यासस्त्रित्वरजतप्रभुः शुक्रः ॥

प्रपुशीसकाललोहककुधान्यमदमृतिदिन्यमन्वादेः ।

व्याधीनामति वृद्धिः सुदीनदीक्षाप्रभुः सौरिः ॥"

एवं ग्रहाणां द्रव्यमुक्तं कर्मजीवफलं शूरस्तब्ध इत्यादिपृत्तानां ताम्रदगित्या-  
दिस्थानफलं चन्द्रे रूपवधावित्यादि दृष्टिफलं राजयोगचन्द्रयोगादिग्रहयोग-  
प्रग्रज्यायोगारिष्टयोगनिर्माणयोगाभययोगाद्रावकं संधर्ल दक्षाशु योज्यम् । तत्र  
भाष्यकलाध्यापे स्वल्पं सफलमुक्तम् । तथाहि-

'शूरस्तब्धो विफलनयनो निर्वृणोऽङ्गं तनुस्थे ।'

गर्पदा सपाणि पाच्यानि तत्र विभागोऽस्ति । तदर्थे-

“सुहृदरिपरकीयस्वर्क्षतुंगस्थितानां फलमनुपरिचिन्त्यं लभदेहादिभावैः ।”

अनुपरिचिन्त्यं फलदग्रहवलपुष्टिः किन्तु—

फलमधिकमिदं यदत्र भावाद्भवन्नभनाथगुणैर्विचिन्तनीयम् ॥”

भावरारोर्भावाधिपस्य च भावस्थग्रहस्य च बलाधिक्याद्भावफलमधिकं भवति ।  
सुहृदरिपरकीयस्वर्क्षतुंगस्थितानां फलं कथमनुपरिचिन्त्यमिति चेत्तदर्थमुक्तम्—

“उच्चत्रिकोणस्वसुहृच्छत्रुनोच्चगृहार्कगैः ।

शुभसंपूर्णपादोनेदलपादाल्पनिष्फलम् ॥” इति ।

तथा चोक्तमन्यत्र—

“स्वोच्चे प्रदीप्तः सुखिनस्त्रिकोणे स्वस्थः स्वगेहे मुदितः सुहृद्दे ।

शान्तस्तु सौम्यग्रहवर्गसंस्थः शक्तो मतोसौ स्फुटरश्मिजालः ॥”

ग्रहाभिभूतः स निर्पाडितः स्वात्स्वलस्तु पापग्रहवर्गसंस्थः ।

सुदुःखितः शत्रुगृहे ग्रहेन्द्रो नीचेतिभीतो विकलोऽस्तयातः ॥”

“दीप्तः पूर्णं विधत्ते शुभफलमुदितः पादहीनस्तद्वस्तः

स्वस्थः पादैर्विहीनं त्रिभिरथ मुदितः शान्तशक्तौ च तद्वत् ।

अत्यल्पं तत्र योऽप्ये विदधाति विकलो भीतसंज्ञश्च कष्टम्

भीतापादीप्तनिष्ठास्वशुभमपि तथा व्युत्क्रमेण ग्रहास्ते ॥”

तस्माद्भावाधिपतिबलमाश्रित्य राशिबलं चावलोक्य फलं वक्तव्यम् ।

तथा चोक्तम्—

“अधिपः सर्वभावानां कारकः परिकीर्तितः ।

कर्ता भावगतः प्रोक्तस्तथा तद्भाववीक्षितः ॥

बलहीनेऽरिनीचस्थे दुःस्थे वा भावनायके ।

भावस्य सम्पदं कर्तुं न शक्यं भावमाश्रितैः ॥”

लभाद्द्विर्द्वादशभावानां स्वाधिपतिना सौम्यग्रहैश्च योगसंभवे सति वृद्धिर्भवति  
शत्रुग्रहः पापैरपि दंष्ट्रियोगसंभवे हानिर्भवति । तथा च पट्टपञ्चाशिकायाम्—

“यो यो भावः स्वामिदृष्टो युतो वा

सौम्यैर्वा स्थातस्य तस्यास्ति वृद्धिः ।

पापैरेवं तस्य भावस्य हानि—

निर्दंष्ट्रव्या पृच्छतां जन्मतो वा ॥”

आचार्येणाप्युक्तमनिष्टयोगाध्यायेऽप्यमर्थः प्रोक्तस्तथा तत्रकारः—

“लभ्रात्पुत्रकलत्रभे शुभपतिप्राप्त्यवालोकिते ।

चन्द्राद्वा यदि सम्पदस्ति हि तयोर्ज्ञेयोऽन्यथा संभवः ॥”

अयं विधिर्न केवलं पुत्रकलत्रविषयः सर्वभावसाधारणः स्यात् । बह्वयोर्यं श्लोकः पुत्रकलत्रभे शुभपतिप्राप्ते शुभैः पत्या वा प्राप्ते एतैरालोकिते वा तयोः सम्पदस्ति यद्वा शुभानां पती शुभपती शुभमवरौ गुरुशुक्रावित्यर्थः गुरुशुक्राभ्यां पुत्रकलत्रभे प्राप्तेऽयवालोकिते वा यदि तयोः सम्पदस्ति, अथवा शुभपतिः शुभं भवनं भाग्यस्थानं तत्पतिः प्राप्तावलोकिते पुत्रकलत्रभे यदि तयोः सम्पदस्ति अर्थाद्-शुभपतिप्राप्तावलोकिते पुत्रकलत्रभे यदि तयोरभावो ज्ञेयः अन्यथा सम्भव इति-वचनादशुभमष्टमं मरणस्थानत्वात्पतिरष्टमेशस्तेन युतदृष्टो भावो नाशं व्रजति । तथा चोक्तम्-

“यद्भावस्थोऽष्टमपस्तद्भावो नश्यते न सन्देहः ।” इति ।

लभस्य लभेशस्य वा पुत्रकलत्रेशयोगदृष्टो तत्संभव इति । एवं भावयोगवलादा-श्रयवलात्सुहृत्सौम्यवीक्षणादन्यथा भवति । तथा च सारावल्याम्-

“योगाश्रयवलयोगात्सौम्याद्रिपुनिरीक्षणाच्चैव ।

उच्चादिभवनसंस्थैर्ग्रहैश्च फलमन्यथा भवति ॥” इति ।

चन्द्राद्वेति । चन्द्रस्य बलिष्ठत्वे तस्मात्फलसिद्धिः । अत्र ग्रहाणां कारकत्व-मस्ति । तथा चोक्तम्-

“आत्ममभावशक्तिश्च पितृचिन्ता रवेः फलम् ।

मनोबुद्धिमभावं च मातृचिन्ता तु चन्द्रतः ॥

भ्रातृसत्त्वगुणान्भूमिं भौमेन तु विचिन्तयेत् ।

वाङ्मगलं च विज्ञानं बुधेन परिचिन्तयेत् ॥

गुरुणा देहपुष्टिः स्याद्बुद्धिपुत्रार्थसंपदः ।

शुक्राद्विवाहकर्म स्याद्भोगस्थानं च वाहनम् ॥

आयासस्याधिदुःखानि मरणं च शनैश्चरात् ॥”

एतदस्मिन्नेव पूर्वोक्तेन सिद्ध्यति कथमिति चेत्कालात्मा दिनकृदित्यादिना शोकाधेन दिवार्कशुक्रावित्यादिना च सह क्षित्याविकाजैर्जनमित्यनेन च हेमाश्चात्म-जगुञ्जराभ्यन्तरच इत्यनेन च विज्ञातव्यमिति उग्रग्रहैरित्यनेन श्लोकेन शुक्रस्य भार्या-पारपत्यं पृथं च सिद्धिश्च मदन इति वीजक्षेपः । शीघ्रणां गीतरतीत्यनेन निवृत्तम् । एवमुग्रग्रहैरित्यनेन भार्यारिष्टम् । सप्तमाधिपतेरप्येवमूलम् । गुरोः पञ्चमाधिपते-श्चेत्पुत्रारिष्टमयमन्तव्यम् । पुंस्त्रीविभागस्तु बुधस्यपुताधित्यनेन श्लोकेन निरूप-यितव्यः । बुधशर्पेर्निपुंसकत्वे तदर्थं तत्सम्बन्धे तदादिसिद्धिः एतेषां ग्रहाणां पणं पिनादिमिद्विद्विः । पुत्राणां संख्या दृष्ट्वा समानं प्रवदेदित्यादिना ज्ञेया । अथ

‘लमाद्ययारिगतयोः’ इति येन कारकत्वं चन्द्रार्कयोः । ‘धूनस्थयोर्नवमपंचमसंस्थयो-  
र्वा शुक्रार्कयोः’ इत्यत्रार्कशब्देनांगारकोऽपि गृह्यते । तथा च सारावल्याम्—

“धूने कुजभार्गवयोजातः पुरुषो भवेद्विकलदारः ।

धीधर्मास्थितयोर्वा नो विकलं पण्डिताः प्राहुः ॥”

इत्यरिष्टयोगाध्यायोक्तमपि दशायां योज्यम् । अथ स्थानशब्दस्यार्थ उच्यते ।  
वृत्ताताम्रद्वगित्यत्राध्यायोक्तफलराशितन्नायस्वभावा अत्रोच्यन्ते । वृत्ताताम्रद्वगिति  
क्षुजधर्मः । उष्णशाकलपुष्पगिति मेघधर्मः । क्षिप्रमसादः सेनाधिपधर्मः । अटनः  
कामी दुर्बलजानुरंगनावल्लभः कुनखी व्रणाङ्कितशिरास्तोये च भीरुरिति मेघधर्मः ।  
अन्ये सेनापतिधर्मोः । एवं चन्द्रस्य अन्येषु राशिपूक्तं फलमपि । अन्येषां  
राशिफलानि तन्नायस्वभावा इत्यवगन्तव्याः । तेन राशौ बलवति तदधिपे च  
बलसहिते युक्तग्रहे च बलवति कथितफलानां समग्रप्राप्तिः, राशौ बलहीने उभयमपि  
न वाच्यम् । ग्रहे च बलहीने तथैव तदुक्तमाचार्येण—

“बलवति राशौ तदधिपतौ च स्वबलयुतः स्याद्यदि तुहिनांशुः ।

कथितफलानामविकलदाता शशिवदतोऽन्येष्वनुपारिचिन्त्याः ॥”

एतत्स्थानबलमपि दशायां योज्यमिति । आलोकनशब्दस्यार्थ उच्यते । चन्द्रेभूष-  
बुधावित्यादिना । मेषाद्यैकैकराशिगतस्य चन्द्रस्यान्यग्रहवीक्षणफलान्पुक्तानि तथा  
मेषाद्यंशगतस्य चन्द्रस्यापि तान्युक्तानि पूर्वशास्त्रेषु विस्तरतः कथितानि । इह तु  
संक्षेपादेकैकं फलमेव कथितं तेनापि शुभाशुभविभागो विज्ञायते । ततः पूर्व-  
शास्त्रैरप्यवगन्तव्यानि चन्द्रस्य तावत्—

“शिशिरकरसमागमेक्षणानां कथितफलं प्रवदन्ति लग्नातम् ॥”

‘भेद्वर्काश्चदपतिगाशनाथवृत्त्या’ इति च वक्ष्यति । ‘उदयरविशशाङ्कप्राणिके-  
न्द्रादिसंस्थाः’ इत्युक्तं च पूर्वं तस्मात्लग्नचन्द्रार्कणां जातकफलनिरूपणे प्रधानेऽ-  
पकारित्वमिति ज्ञायते । अन्येषां ग्रहाणां च प्रतिराशिद्वष्टिफलमस्ति तत्पूर्वशास्त्रेषु  
कथितं च कालात्मा दिनकृदिति श्लोकरूपेण सूत्रेण वीक्ष्यमाणग्रहं च तदाश्रितं-  
राशिं च वीक्ष्य ग्रहं च निरीक्ष्य तेषां द्वाष्टिफलं स्वशुद्ध्या तर्कणीयम् । पूर्वशास्त्राणि  
चावगम्य तत्फलं निर्णेतव्यम् । चन्द्रस्यांशवीक्षणस्य इयान्विशेषः—

“वर्गात्तमः स्वशरणेपु शुभं यदुक्तं

तत्पुष्टमध्यलपुताशुभमुक्तमेव”

इत्युक्तमंशफलं निरूपणीयमिति सूचनार्थमेवंभूतं द्वाष्टिफलमपि स्वदशायां  
योज्यम् । अथ योगशब्दस्यार्थ उच्यते तत्र प्रथमं राजयोगा उक्ताः ‘प्रादुर्भवना’  
इत्यादिना ‘विभिरुच्यतेः क्रूरैरपि महीपतिर्भवति’ इति । ‘स्वोच्चेपु पोडशं नृपा’ इति  
फलभेदोऽस्ति अतो योगानां विभागेन संख्याकरणम्—

“अपि खलकुलजाता मानवा राज्यभाजः” इत्यादिश्लोकेन कानिचित्फलानि जातिदेशावस्थानुरूपं वक्तव्यानि कानिचिदवश्यं भवितव्यतया वक्तव्यानि तद्भिर्भागां लक्षणानां बलाबलविभागत इति सूचितम् । राजयोगस्य ग्रहस्थातिबलं तदशायां राज्यप्राप्तिस्तदुपरि वक्ष्यति—

“कर्मलप्रगतपाकदशायां राज्यलब्धिरथवा प्रबलस्य ।

शत्रुनीचग्रहयातदशायां लिद्रसंश्रयगता पारिकल्प्या ॥”

दशमगतस्य दशायां राज्यप्राप्तिं वदेत्—तथा चोक्तम्—

“बलयुक्तो दशमगतस्तस्य दशायां विनिर्दिशेद्राज्यम् ।

तत्रोच्चैर्धर्मगतो यदि स तु संपूर्णभूमिमाभवति ॥

उच्चस्थो बलयुक्तः सौम्यः सोमेन शोभनेन युतः ।

तस्य दशायां राज्यं प्राप्नोत्यन्तर्दशायां च ॥

जन्मसमये ग्रहेन्द्रा बहुफलयुक्तास्तथा सुस्थाः ।

तेषां दशासु मतिमान्संपात्तिं निर्दिशेद्यथायोग्यम् ॥

अन्याश्च राजयोगानालोच्य बलाधिकस्य वर्षेषु ।

राज्यं श्रूयान्मतिमान्कारकविहगस्य पाके वा ॥

नीचैस्तमेऽरिराशौ रन्ध्रे व्ययमेऽथवा बलैर्हीने ।

तस्य दशायां भ्रंशं विनिर्दिशेद्बन्धनं चापि ॥”

इति राजयोगाश्चिन्त्याः । एतेषां राजयोगानां भंगोऽपि निपरूणीय इति अन्येषु शास्त्रेषु विस्तरतोऽन्यैराचार्यैर्निर्दिष्टः । आचार्येण राजयोगोक्तप्रकारवैपरीत्येन चिन्तनीय इति नोक्तः । ‘प्रादुर्ध्वनाः स्वतुंगैः क्रूरैः’ इत्यत्र स्वनीचैः क्रूरैरिति वैपरीत्येन राजयोगभंगः । तथा च सारावल्याम्—‘सर्वे क्रूराः केन्द्रे नीचारिगताः न सौम्ययुतदृष्टाः । शुभदा व्ययरिपुरन्ध्रैस्तदा विभंगो भवेत्पततेः ।’ इति ननु केवलं ‘प्रादुर्ध्वनाः स्वतुंगैः क्रूरैः’ इत्यस्य वैपरीत्यमेवात्रोक्तं तेषां क्रूराणां केन्द्रगतत्वं सौम्यग्रहानां दृष्टयुतत्वं च शुभानां व्ययरिपुरन्ध्रगतत्वं चोपकारितयोक्तं कथमेतदवगम्यते । उच्यतेऽवगमोपायः क्रूराणामवगतत्वं योगवैपरीत्येन केन्द्रगतत्वं ‘स्त्रकसर्पां कथितौ पराशरेण’ इत्यत्र सर्पयोगलक्षणेन सौम्यायुतदृष्टित्वम् । ‘अशुभगदिता योगा याप्या भवन्ति शुभेक्षिताः’ । इत्यनेन तर्कणीयम् । चक्रार्कजार्कगुरुभिरित्यत्रापि वैपरीत्येन राजयोगावगमः । तथा च सारावल्याम्—

“कुजार्कजीवार्कभिरत्र नीचे द्वाभ्यां त्रिभिर्वा कतमे विलभे ।

निशाकरे शृशिकराशिसंस्थे वंशीयुते राजककोऽतियोगः ॥”

इति घणोत्तमगते एव इत्यत्रापि वैपरीत्यं ग्राह्यम् । तथा च सारावल्याम्—



“लभं गणोत्तमाख्यं न खेचरैर्दृश्यते यदा भङ्गः ।  
भवति हि नृपयोगानां दारिद्र्याय प्रजातस्य ॥  
अष्टमस्यादिभागे राश्यादिषु वा शशी यदा क्षीणः ।  
एकेनापि न दृष्टो शुभेन भंगस्तदा नृपतेः ॥”

‘स्योच्चत्रिकोणगैर्धलसंस्थैः’ इत्यत्रापि वैपरीत्यमवगन्तव्यम् । तथा च सारावल्याम्-

“घटोदये नीचगतैस्त्रिभिर्ग्रहैर्बृहस्पतौ वन्युगते च नीचगे ।  
एकोपि नोच्चेऽप्यशुभस्य भंगः प्रयान्ति नाशं शतशो नृपोद्भवाः ॥”

इत्यादिशास्त्रान्तरादवगन्तव्यम् ऊहशाक्तीरास्ति चेदस्मादेवावगन्तव्यम् । राजयोगसम्भवे उत्पातानां बाहुल्ये सति राजयोगभंगः । तथा च सारावल्याम्-

“उक्तायाः पतने चैव निर्वातव्यतिपातयोः ।  
केतोश्च दर्शने चैव यान्ति नाशं नृपात्मजाः ॥  
अन्यैः क्रूरोत्पातैस्त्रिशंकुपातोदयाद्यैश्च ।  
सद्यः प्रयाति नृपतेर्योगो यदि भानुनो रवेर्लभे ॥  
कर्तारो नृपतीनां यदि वै युद्धस्य कांक्षितो बलिनः ।  
क्रूरैर्विजीर्णदेहा विभ्रं जनयन्ति राजयोगस्य ॥”

इत्यादिग्रहाणां नीचगतत्वं विशेषतश्चिन्तनीयम् इयानत्र विशेषोऽभिनेतः ग्रहाणामुच्चत्रिकोणक्षेत्रांशगतत्वं चक्रगतत्वं चोच्चक्षेत्रादिराशिगतत्वं चिन्तनीयम् । ‘फलयोगात्फलमंशकर्क्षयोः’ इति राश्यंशयोः साम्यं पूर्वमेवोक्तम् । अपिच-

“ग्रहयुक्तनवांशराशितुल्यं बहुसाम्यं समुपैति सत्यवाक्यम्”

इति सत्यमतप्रशंसयाप्यंशकप्राधान्यमेवात्र व्यक्तीभवति । चन्द्रयोगास्तु हित्वाकर्मित्यादिग्रन्थेनोक्ताः । तत्र सुनफाअनफादुर्धरायत्नोत्तरयः ‘स्वयमधिगतवित्’ इत्यादिना तेषां फलं च कथितम् । तत्र योगकर्तृभेदेन फलभेदोऽस्ति शास्त्रान्तरेषु विस्तरतो निर्दिष्टाः ।

अत्र तूत्सादशौर्पधनसाहसवानित्यादिना ग्रहस्वभावः कथितः तेन च पूर्वोक्तफलैर्न विचार्य फलं वाच्यम् । तदर्थं ‘विशत्स्वरूपाः’ इत्यादिना संख्याकरणम् । अत्र योगकर्तारो ग्रहाः केन्द्रगताश्चयोगस्यातिशुभत्वं कल्पयेत् । तथा च सारावल्याम्-

“चन्द्राद्ग्रहैर्निर्गदिताः सुनफादयः स्युः  
वेन्द्रस्थितैर्यदि भवन्ति च तेष्वयोगम् ।

विश्वम्भरापतिकुलेषु महत्सु जाता

योगेषु तेषु मनुजेश्वरतां लभन्ते ॥”

चतुरस्रे केन्द्रे वा पापैर्दुर्धरायोगश्चेदशुभफलमपि चिन्तनीयम् ‘पापान्तस्थे निधनहिबुकदूनसंस्थे च चन्द्रे’ इति स्वनेवोक्तत्वादेते योगा न यदा भवन्ति तदा केमद्रुम इति केषांविन्मतम् । अन्येषां गर्गप्रभृतीनां पक्षे तु सुनफादीनामुक्तलक्षणाभावे विलम्बकेन्द्रे अथवा चन्द्रे केनचिद्गृहेण युक्ते केमद्रुमाभाव इति । तथा च सारावल्याम्—

“एते न यदा योगाःकेन्द्रे ग्रहवर्जिते शशाङ्के च ।

केमद्रुमोऽतिकष्टः शशिनि समस्तग्रहादृष्टे ॥”

इति केन्द्रनवांशकेषु च वदन्तीति केचिच्छुभकीर्तिप्रभृतयः केन्द्रेषु गतैर्ग्रहैर्योगान्वदन्ति केचिज्जीवशर्मप्रभृतयो नवांशकेषु गतैर्ग्रहैर्योगान्वदन्ति । चन्द्राच्चतुर्थः स्थितैरनफा चतुर्थदशमस्थितैर्दुर्धरा इति ।

तथा च श्रुतकीर्तिः—

“चन्द्राच्चतुर्थसंस्थैः सुनफानफा दशमस्थैः ।

उभयस्थैर्दुर्धरा केमद्रुमसंज्ञितोऽन्यैः स्यात् ॥” इति ।

पुनश्चन्द्रार्काशनवांशराशोर्द्वितीयराशिगतैः सुनफा द्वादशराशिगतैर्दुर्धरा । तथा च जीवशर्मा—

“यदाशिसंज्ञे शीतांशुर्नवांशे जन्मनि स्थितः ।

तद्वितीयस्थितैर्योगः सुनफारूपः प्रकीर्तितः ॥

द्वादशे त्वनफा ज्ञेया द्वितीयद्वादशस्थितैः ।

प्रोक्तोऽयं दुर्धरायोगोऽन्यथा केमद्रुमो मतः ॥” इति ॥

‘केचिकेन्द्रनवांशकेषु च वदन्तीत्यनेन व्याख्यातोऽयमर्थ इति व्यक्तं भवति किमर्थमाचार्यगैव कृतं तन्मतानादरणायेति कल्पनीयम् । वा ‘उक्तिप्रसिद्धा न ते’ इति च चन्द्राद्गहाणां बलपौष्कल्ये तन्मतमपि कदाचित्संगच्छेत इति मतं च प्रकाशितम् । “अन्यमते शुभकृदुदुपोहि दृश्यमूर्तिः” इति । अहि दृश्यार्धगतश्चन्द्रोऽशुभकृद्दृश्यशोकादिकृत् । गलिततनुश्च अपरपक्षगतचन्द्र इत्यर्थः । अन्यथान्यदूह्यम्—दृश्यार्धगतः शुभकृत्पक्षमाणतनुः शुभश्च । तथा च सारावल्याम्—

“उत्पातकं कृततनुर्निशि चाप्यदृश्यो

दृश्यो दिवा शिशिरगुर्भयशोकदाता ।

एवं स्थितः समफलं पृथिवीपतित्वं

जातोऽन्यथा प्रकुरुते परिपूर्णमूर्तिः ॥” इति ।

गलिततनुरहि शुभ इत्यन्यशास्त्रान्तरेऽप्युक्तम्—

“पक्षे सिते भवति जन्म यदि क्षपायां  
कृष्णेऽथवाहनि शुभाशुभदृश्यमानः ।  
तच्चन्द्रमा रिपुविनाशगतोऽपि पत्ना-  
दापत्सु रक्षति पितेव शिशून् हन्ति ॥” इति

नन्वयमयोऽशुभकृदुदुप इत्यादिना कथमुच्यते अहि दृश्यमूर्तिरुदुपोऽशुभकृदहि  
दृश्यमूर्तिरिति अह्यनुदित इत्यर्थः पक्ष एव घटते गलिततनुः कृष्णपक्षचन्द्रः अहि  
शुभकृदित्यर्थः अन्यथाऽन्यदृश्यम् । रात्रौ शुक्लपक्षचन्द्रः शुभोऽपरपक्षचन्द्रोऽशुभ इति  
संगच्छते । ‘अहनि निशि च चन्द्रे स्वाधिमित्राशके वा सुरगुरुसितदृष्टे वित्तवान्स्या-  
त्सुखी च’ इति निरूपणीयम् । अत्राहनि गुरुदृष्टो निशायां सितदृष्ट इति क्रमो  
विवाक्षितः सुनफायोगास्तु समस्तसाधारणत्वेन निरूपणीयाः । द्विग्रहयोगास्तु ।  
‘तिग्मांशुर्भनयत्ययेन्दुसहितो यन्त्राश्मकारं नरम्’ इति यन्त्राणां मद्यरतमनृत-  
चयवन्धनादिरतं श्मश्रुकारो नापितवद्भूतिः ‘कथितफलैः परतो विकल्पनीयाः’ इति ।  
परतोऽपरे परतस्त्रिग्रहयोगादयः कथितफलैरूहेन कल्पनीया इति । अर्कचन्द्रयो-  
गजमर्ककुजयोगजं चन्द्रकुजयोगजं च फलसमूहेन कल्पनीयमिति । इति त्रिग्रह-  
चतुर्ग्रहपद्महयोगफलं शास्त्रान्तरैश्चिन्त्यमित्यर्थः । प्रव्रज्यायोगास्तु ‘एकस्थैश्चतुरा-  
दिभिः’ इत्यादिनोक्ताः । चतुरादिभिश्चतुर्भिः पञ्चभिः षड्भिः सप्तभिर्वा बलपुक्तैः  
सर्वैर्नास्तर्गैर्न नीचैः पृथग्वीर्यगैः स्वोच्चादिगतैः प्रव्रज्याबलिभिः समाश्रयेद्यदि  
बलवन्तस्तैः समं प्रव्रज्या भवन्ति । माचे यज्ञेऽप्यादिशैशाविशेषकयनं वन्याशनाः ।  
तथा च सारावल्याम्-

“अग्नीनां परिचारका गिरिनदीतीराश्रमे तापसाः

सूर्याराधनतत्परा गणपतेर्भक्ता वमायाश्च ये ।

गायत्री जपतां वने नियमिनां गंगाभिषेकार्थिनां

कौमारव्रतमिच्छतामधिपतिस्तेषां सदा भास्करः ॥”-

शुद्धशब्देनोक्तमर्थं वक्ष्यामि ! सारावल्यामुक्तम्-

“वृद्धश्रावकभस्मपूलिधवलाः शैवव्रते ये स्थिता

बर्हा पातकितां गता भगवतीभक्ताश्च निःसंगिनः ।

शुद्धास्ते खलु सौमनाम्नि निरताः कापालिका निष्ठुरा-

स्तेषां नायकतां गतः शशधरः खट्वाम्बुनाभ्युक्षितः ॥”

“उपासका बुद्धसमाश्रयं गताः शिखां विना पाण्डराभिश्वश्च ये ।

सुवाससो रक्तपदा जितेन्द्रियाः प्रभुः सदैषां क्षितिजः प्रकीर्तितः ॥

आवेशिनां कुहकिनां समयाविका ये ये दीक्षितास्तनुभृतो गरुडे च तन्त्रे ।

ये वै मयूरपशिताशनयोश्चयुक्तास्तेषां शशांकतनयोऽधिपतिर्नियुक्तः ॥”

“एवं स्त्रीसहिता वदन्ति मुनयो दण्डान्कषायाम्बरान्—  
वानप्रस्थमुपागताः फलपयोभक्ताश्च ये भिक्षवः ।

गार्हस्थ्येन तु संस्थिता नियमिनः सुब्रह्मचर्यं गता—  
स्तेषां नायकतां गतः सुरगुरुस्तीर्थेषु ये स्नातकाः ॥”

“पशुपतियज्ञे दीक्षां व्रतेषु ये नित्यमेव संयुक्ताः ।

चरकाणामपि तेषां नेता प्रकीर्तितः शुक्रः ॥

पाखण्डव्रतनिरता दिगम्बराश्चैकभिक्षवो ये च ।

तेषामधिपतिरार्किकः श्रावकतरुमूलिनश्च दुस्तपसः ॥”

इति कारकयोगाधिन्याः । स्वर्क्षतुंगमूलत्रिकोणगा इत्यत्र स्वर्क्षोशगानां च  
ग्रहणमस्ति । तथा च सारावल्याम्—

“तुंगसुहृत्स्वग्रहांशे स्थिता ग्रंठाः कारकाः समाख्याताः ।

मेपूरणे रविरिति विशेषतो वक्ति चाणक्यः ॥

लभ्रगतः सुखसंस्थः कामस्थश्चापि कारकाः सर्वे ।

एकादशेऽपि केचिद्वाञ्छन्ति तन्मतं मुनीन्द्राणाम् ॥”

इत्यत्र स्वोच्चत्रिकोणस्वर्क्षगेः कुजादिभिस्ताराग्रहैरुच्चकादयः पञ्चमहायोगाः  
शास्त्रान्तरेषु प्राधान्येन कथिताः । अत्र तु ‘अशुभ्येषु च केन्द्रेषु कारकाख्यग्रहेषु च’  
इत्यत्रान्तर्भूता भवन्ति तेन विशेषो न प्रदर्शितः । ते पञ्च महायोगाः प्राधान्येन  
निरूपणीयाः । तथा च सारावल्याम्—

“स्वक्षेत्रेऽथ चतुष्टये सुवलिभिः स्वोच्चस्थितैर्वा ग्रहैः

शुक्रांगारकमन्दजीवशशिजैरैतैर्यथानुक्रमात् ।

मालव्यो रुचकः शशोऽथ कलितो हंसश्च भद्रस्तथा

सर्वेषामिति विस्तरान्मुनिमतं संकल्प्यते लक्षणम् ॥”

योगकर्तृकग्रहानुरूपं फलं च वक्तव्यं चन्द्रयोगाध्याये ‘उत्साहशौर्यधनसाहसवान्  
महीजे’ इत्यादिग्रन्थेन तर्कणीयं, यत्फलं तस्यातिशयोञ्च योगानामूह्यः विशेषादपि  
सारावल्यां फलमुक्तं तदत्र लिख्यते—

“बलरहितेन्दुरविर्भ्यां युक्तेर्भौमादिभिर्ग्रहैः ।

योगैर्न भवन्ति भूमिपाला दशासु तेषां सुखार्थयुताः ॥”

“न स्थूलोष्ठो न विषमवपुर्नातिरिक्तांगसन्धि—

र्मध्ये क्षामः शशधरमतिर्हस्तिनादः सुगण्डः ।

व्यादीर्षाक्षः समरवरदो जानुदेशात्तपाणि—

र्मालव्योऽयं विलसति नृपः सप्ततिर्वत्सराणाम् ॥”

“दीर्घास्यः स्वच्छकान्तिर्वहुरचिरवलः साहसोदात्तकार्य-  
श्वारुभूर्नालकेशः श्रवणपथगतो मन्त्रविज्वीरनाथः ।

रक्तदयामोतिशूरो रिपुबलमथनः कम्बुकण्ठः प्रधानः ।

हूरो भक्तो नराणां दिजगुरुविनतः क्षामसन्जानुजंघः ॥”

“सद्वाङ्मनाशत्रुपकार्मुकवज्रवीणाचक्राञ्जहस्तचरणश्च शतांगुलश्च ।

मन्त्राभिवारकुशलस्तुल्या सहस्रं मध्ये च तस्य कथितं सुखदैर्घ्यतुल्यम् ।

“विन्ध्याचलसहागिरीन् भुनक्ति सप्ततिं च नागरान्देशान् ।

शस्त्रानलकृतमृत्युः प्रयाति देवालयं रुचकः ॥”

“तनुद्विजास्यो द्रुतगः शशोदयः शशोऽतिशूरोऽभिहृतिप्रधानः ।

नीचादिदुर्गेषु नदीषु सक्तः कृशो नरो नातिलघुः मसिद्धः ॥”

“पर्यकशंखहलशस्त्रमृदंगमाला

वीणोपमा यदि करे चरणे च रेखा ।

चर्षाणि सप्ततिमितानि करोति राज्यं

प्राप्यंतिकक्षितिपतिः कथितो मुनीन्द्रैः ॥”

“रक्तास्पोन्नतनासिकः सुचरणो हंसः प्रसन्नेन्द्रियो

गौरः पीनकपोलरक्तकरजो हंसध्वनिः श्लेष्मलः ।

शंखाजाकुशवाममत्स्यगुलश्चक्रांगमालापटै-

श्चिह्नैः पादपराङ्कितो मधुनिभे नेत्रे च वृत्तं शिरः ॥”

“पातिह देशान्त्वशशूरसेनान् गान्धारगंगापमुनान्तरालान् ।

जीवेन्नवानां दशवर्षसंख्यं पश्चादनान्ते समुपैति नाशम् ॥”

इति-“शार्दूलप्रतिमानो दिजपतिः पीनोरुवक्षस्यलः

सद्वाक् पीनमुवृत्तबाहुगुलस्तनुत्यमानोच्छ्रयः ।

कामो कोमलसूक्ष्मरोगनिकरः संरुद्धगण्डस्थलः

प्राज्ञः पंकजगर्भपाणिचरणः सत्त्वाधिको योगवित् ॥”

शंखादिकुञ्जरगदाकुसुमेष्टुकुचक्रांगलविचिह्नितपाणिपादः

पत्रागुरुद्विपदगो प्रथमाम्बुसिक्तदङ्कुलकुम्भप्रतिमगन्धतनुः सुघोणः ॥

शास्त्रार्थविद्वितियुतः समसंहतभूर्नागोपमो भवति वस्तु निगूढगुह्यः ।

सत्कुक्षिर्भनिरतः सुललाटजङ्घो वीरस्थिराव्यसितकुञ्चितकेशपाशः”

अदयोगः कारके योगे जन्मशुभमिति । तथा-

“नीचकुले सम्भूतः काशकविहगैः प्रधानतां याति ।

क्षितिपतिर्वंशसमुत्थो भवति नरेन्द्रो न सन्देहः ॥” इति ।

आश्रययोगास्तु 'कुलसम' इति 'स्वभैकवृद्ध्या' अत्र स्वशब्दास्त्रिकोणादीनामप्यु-  
पलंक्षणार्थः। ग्रहाणां पृथक्पृथक्पृथक्क्षेत्राद्याश्रयफलं शास्त्रान्तरेपूक्तम् । अत्र युगपत्स्व-  
क्षेत्राद्याश्रयफलमुच्यते । पृथक्पृथक्गाश्रयफलन्तु पूर्वं स्थानबलाध्याये कथितमित्यत्र  
नोक्तम् । कुलसमकुलमुत्पादीनां ग्रहानुगुणं फलं निरूपणीयम् । अत्र स्वभावा-  
दिस्थितोऽग्रलग्नजन्मराशितदंशेशानामन्यतमश्चैकुलसमत्वादगुणं विशेषेणापि वक्त-  
व्यम् । 'जनयति नृपमेकोऽप्युच्चगो मित्रदृष्टः' श्वश्लोकेन स्वभस्थितस्य मित्रभस्थि-  
तस्य च फलमुक्तमनेन श्लोकेन उच्चस्थितस्य फलमुच्यते तत्रायं विशेषः । स्वभस्थितेषु  
सप्तग्रहेषु एवं नृपत्वं मित्रभावस्थितेष्वपि तथैवोक्तम् । उच्चस्थित एकोऽपि अनन्या-  
पेक्षः नृपं जनयति उच्चप्राधान्यमत्रापि द्योतितम् । 'प्रचुरधनसमेतं मित्रयोगाच्च  
सिद्धिम्' इत्यनेन योगादृष्टैः प्राधान्यं सूचितम् । विविक्त्वादि विवमुनिर्द्रव्यो  
विमुखश्च बहुलो नीचश्च मूढो मूर्खश्चाधर्मरतो व्याधितो निश्चेष्टः भृतकश्च । बन्धु-  
तप्तः प्रभिन्नदारः अगृहश्च दासश्च वधसमेतः सर्वभ्यो दुरितसमे परात्रभोक्ता ।  
परहिंसको दरिद्रो दुःखभाक् पतितः सर्वदा दुरितफलमनुभवतीत्यर्थः ।  
शत्रुगृहेषु फलानामीषन्मृत्युत्वमनेन पूर्वदशासु शत्रुनीचगृहयातदशायां 'छिद्रसंश्रयदशा  
परिकल्प्या' इत्यनेनापि राजयोगफलभंग कक्षः इति ।

निर्याणयोगस्तु 'मृत्युर्मृत्युगृहे इति कालमृत्यादिगुलिकादयश्चिन्त्याः । शैला-  
ग्राभिहतस्य' इत्यादिना मृतिभेद उच्यते । स हि चन्द्रपापग्रहैः प्रायशो भवति  
योगानामभावे द्वाविंशतिमस्तु कारणमित्युच्यते-

“मेपाद्ये द्रेष्काणे क्रूरग्रहवीक्षिते न शुभदृष्टे ।

अम्बुविषमपित्तकृतं मरणं नृणां समादेश्यम् ॥”

इत्यादिना सारावल्यामुक्तेन ग्रन्थेन द्रेष्काणैर्मरणं चिन्त्यम् । तथा च  
सारावल्याम्-

“उदयाद्वाविंशतिमो द्रेष्काणो भवति कारणं मृत्यौ ।

तस्याधिपतिर्भावान्निर्याणं सूचयेत्स्वगुणेः ॥

मेपाद्येद्रेष्काणैः क्रूरग्रहवीक्षिते न शुभदृष्टे ।

अम्बुविषमपित्तकृतं मरणं नृणां समादेश्यम् ॥

विद्याद्वितीयभागे तज्जलकृत्यावनद्यश्च ।

एवं तृतीयभागे तडागकूपप्रपातादा ॥

पराहफरभस्वरोऽमृत्युर्ज्ञेयो वृषाद्यैर्वा ॥

पितामिपातचौरैर्द्वितीयभागे वृषैश्चैव ॥

विद्यातृतीयभागे यानासनाजिपातकृतम् ।

पुंसां भवति हि मरणं शिरसि महावेधकृतमेव ॥  
 मिथुनाद्यतृतीयांशे कासश्वाससलिलोद्भवो भवति ।  
 मृत्युकर्मभिषक् वृषभाद्रा तृतीयके सन्निपाताद्वा ॥  
 वनवासिनश्चतुश्चरणात्सर्पपतनात्तथारण्ये ।  
 भवति हि मृत्युः पुंसामंत्ये भागे तु जनुषश्च ॥  
 नरवणमद्यपानात्कण्टकदोषेण वा तथा स्वप्रात् ।  
 भवति हि कर्कटकाद्यैर्मृत्युर्नृणां तृतीयभागे तु ॥  
 अभिशपाद्विषपानान्मध्यत्र्यंशे भयं समादिष्टम् ।  
 प्रमेहगुल्मस्त्रंसनप्रमुखैर्दोषैस्तथाऽचान्त्ये ॥  
 सलिलाद्विषादरोगात्सिंहाद्ये त्र्यंशके भवेन्मृत्युः ।  
 मध्यतृतीयभागे जलमयंकृतो वनोद्देशे ॥  
 विषशस्त्रयोगदोषैर्नित्यं विषमान्नपानाद्वा ।  
 अन्त्ये सिंहत्र्यंशे भवति हि मृत्युर्न सन्देहः ॥  
 आद्ये कन्यात्र्यंशे मस्तकरोगात्तथा निलांमृत्युः ।  
 घालाच्च शैलदुर्गे मध्ये भूपातमंजादयवा ॥  
 करवरशस्त्रतोदादभिशपात्स्त्रीकृतान्नपानाद्वा ।  
 अन्त्ये कन्यात्र्यंशे नृणां मृत्युः समादिष्टः ॥  
 आद्ये षण्णिकत्रिभागे युवतिचंतुष्पदनिपातदोषेण ।  
 मध्ये कुल्लरदोषैरन्त्ये व्यालाम्बुदोषेभ्यः ॥  
 आद्येऽलिनेस्त्रिभागे विषशस्त्रस्त्रीरसान्नपानकृतः ।  
 मध्ये कटिवस्तिभागस्त्रंसनदोषैर्भवति मृत्युः ॥  
 वन्त्ये तृतीयभागे इष्टकपापाणपातवेदनया ।  
 भवति हि मरणं यानान्मृत्युर्न जङ्घास्थिभंगकृतम् ॥  
 चापस्याद्ये त्र्यंशे गुदानिलसमुद्रवैर्विविधरोगैः ।  
 मध्ये विषगरदोषैर्भवत्यनिलकृतेर्वा मृत्युः ॥  
 अन्त्ये तृतीयभागे जलमध्ये तत्समुत्थितैर्वापि ।  
 मृत्युर्नृणां दृष्टो जरामरणदोषसम्भूतः ॥  
 मकराद्ये द्वेष्टकाणे नृपहिंस्रव्याघ्रकारणो मृत्युः ।  
 ऊरुविनाशकृतो वा जलचरसर्विषैकशफसर्पात् ॥  
 दहनास्त्रतस्करेभ्यो ज्वरातिसारादमानुपजनात् ।  
 अन्त्ये मकरत्र्यंशे नृणां मृत्युर्जनैरुद्धाः ॥

कुम्भे प्रथमत्र्यंशे स्त्रीभ्यस्तेयात्तथाजठररोगैः ।  
 ज्ञेयो मृत्युर्नृणां पर्वतवनगहनविपाद्विर्वा ॥  
 मध्ये स्त्रीकृतदुःखैर्गुह्यजरोगैर्भवति मृत्युः ।  
 अन्ये मृत्युश्चिन्त्यश्चतुष्पदमुखरोगकृतैर्भवेत्पुंसाम् ॥  
 त्र्यंशे मीनयुगाद्ये तुल्यग्रहणीप्रमेहयुवतम्यः ।  
 जङ्घास्थलजै रोगैर्गजग्रहकृते समादिशेन्मृत्युम् ॥  
 नौभेदाजनमध्ये पङ्क्तेष्काणाद्वितीयजातानाम् ।  
 अन्ये भवति हि मृत्युः कुत्सितरोगैर्न सन्देहः ॥”

एवं द्रष्टृणां मरणकारणमित्युक्तम्-तस्याधिपतिर्भावोऽपि वा स्वगुणैर्निर्याणं प्रयच्छतीति । अधिपतिर्द्वाविंशतिद्रष्टृणां अधिपतिर्भावोऽष्टमाधिपतिः । अथवा तस्याधिपतिर्निर्याणाधिपतिर्दुःखाधिपत्याच्छनिः द्वाविंशतिद्रष्टृणां अष्टमेशमन्दास्तद्युक्तराश्यंशपाश्च गुलिकराश्यंशपाश्च निर्याणे चिन्त्याः । ननु द्वाविंशतिद्रष्टृणां अष्टमेशमन्दास्तद्युक्तराश्यंशपाः गुलिकराश्यंशकेशाश्चिन्त्या इत्याचार्येण न प्रसज्यते नैषदोषः आचार्येण प्रसक्तमेव कथमिति चेदुच्यते तस्याधिपतिरित्यत्र ‘दुःखं दिनेशात्मज’ इति संज्ञाध्याये कथितत्वान्मरणस्यात्यन्तदुःखत्वान्मरणकारकः शनिरित्युक्तं भवति गुलिकस्य शनैश्चराशकसम्भवत्वाद्गुलिकोऽपि मरणकारक इति विज्ञायते ‘कूरेऽष्टमे चिरवता निधनेश्वरौऽंशे यस्य स्थितो वयसि तस्य समे प्रदिष्टा’ इति निधनेश्वरप्रयुक्तांशकेशस्य मरणकारकत्वमुक्तं तस्मात्सर्वेषां निधनकारकग्रहाणां तद्युक्तांशकेशानां च मरणकारत्वमूह्यम् । एतदुक्तं भवति जन्मकाले लग्नाद्गलपुताच्चन्द्राद्वा योऽष्टमो राशिस्तत्र ‘मृत्युर्मेत्युग्रहेक्षणेन वलिभिस्तद्वातुकोपोद्भव’ इत्युपदेशात्तस्याधिपो वा शनैश्चरेण वा गुलिकेन वा भावोपि वा इत्युपदेशादष्टमेशेन वा एतैर्युक्तराश्यंशकैर्वा मरणं चिन्त्यमिति एतेषां यो दुर्बलोऽनिष्टस्थानगतश्च भवति तस्य दशायामन्तमुक्तं व्याध्यादिहेतुभिर्मरणं चिन्त्यमिति । मरणकाले शनैश्चराद्यवस्थानं चेपां राशित्रिकोणेषु निरूपणीयम् । पूर्वं सद्योमरणाध्यायप्रोक्तयोगानां सम्भवे योगकर्तृग्रहदशायां च मरणं चिन्त्यम् । इत्थं प्रायशो योगशब्दार्थ उक्तः ।

अथ प्रश्नविषयेऽप्ययं श्लोकश्चिन्त्यः । संज्ञाध्याये ममास्य कार्यस्य प्राप्तिः कथमिति पृष्ठे यस्य पद्व्यप्युक्तं तस्य द्रव्यं संनिहितवस्तु दैवज्ञायार्पितमुक्तं वा वचनं यदि जीवो यत्कर्माजीवेणुपादिष्टं श्रूयमाणं ‘भावस्थानावलोकं योगोद्भवं च’ इत्यत्र भावः प्रच्छकस्य स्वभावश्चेष्टा च हर्षशोकादयश्च स्पर्शश्च वेपं च स्थानं स्थितिप्रदेशो वा आलोकयोगोद्भवं च प्रष्टव्यं आश्रयः सहायो वा एवमादिप्रश्नकाले यद्यज्ञायते तत्सर्वं तस्य प्रच्छकस्य शुभाशुभनिरूपणदशायां योज्यमिति ॥ २० ॥



( इन्द्रवज्रा )

छायाम्महाभूतकृतां च सर्वेऽभिव्यञ्जयन्ति स्वदशामवाप्य ।

कंठवर्गिनवाय्वस्वरजान्गुणांश्च नासास्यदृक्त्वक्छूवणानुमेयान् २१॥

छायामिति । जातकं न प्रायिकमिति कथयति पुरुषस्य शरीरादौ प्रत्यक्ष-  
मेव दृश्यत इति स्वमहाभूतच्छायां स्वदशासु व्यञ्जयति । महाभूतग्रहयोरपृथग्भावा-  
त्तस्माच्छरीरे महाभूतच्छाया द्रष्टव्या । तथा चाचार्यकृतसंहितायाम्—

“छाया शुभाशुभफलानि निवेदयन्ती

लक्ष्या मनुष्यपशुपक्षिषु लक्षणज्ञैः ।

तेजोगुणान्वाहिरपि प्रविकाशयन्ती

दीपप्रभा स्फटिकरत्नघटस्थितेव ॥”

तथा चान्यत्र—

“स्निग्धाद्विजत्वं नखरोमकेशा छाया सुगन्धा च महीसमुत्था ।

तुष्ट्यर्थलाभाभ्युदयान्करोति धर्मस्य चाहन्यहनि प्रवृद्धिम् ॥ १ ॥

स्निग्धासिता च हरिता नयनाभिरामा सौभाग्यमार्दवसुखान्भुदयान्करोति ।

सर्वार्थसिद्धिजननी जननीव चाप्या छायाफलं तनुभृतां शुभमादधाति ॥२॥

चण्डाधृष्या पद्मेहमाभवर्णा युक्तं तेजो विक्रमैःसमतापैः ।

आग्नेयीति प्राणिनां स्याज्जयाय क्षिप्रं सिद्धिं वाञ्छितार्थस्य धत्ते ॥ ३ ॥

मलिनपुरुषकृष्णापापगन्धानिलोत्था :

जनयति वधशोकं व्याध्पनार्थार्थनाशान् ।

स्फटिकसदृशरूपा भाग्ययुक्तात्युदारा

निधिरिव गगनोत्था श्रेयसां स्वच्छवर्णा ॥ ४ ॥”

न केवलं दशास्वेव महाभूतस्वभावो जायते । जन्मसमयेऽपि एकैको जन्तुर्जा-  
यते । तथा च सारावल्याम्—

“शब्दार्थविन्यासपटुः प्रगल्भो विज्ञानयुक्तो विवृतास्पभागः ।

छिद्रांगसन्निवः कृशपाणिपादो वामप्रकृत्या पुरुषोऽतिदीर्घः ॥

सत्त्वेन वायोः पुरुषः कुशांगः क्षिप्रं च कोपस्य वशं प्रयाति ।

कृत्यैकशुद्धिधमणे रतश्च जातोऽसितो भूपतिरमृष्यः ॥

शूरः ह्युधार्तश्चपलोऽतितीक्ष्णः प्राज्ञः कृशो गौरतनुर्विरोधी ।

विद्वान्मुमानी बहुमेक्षणश्च बहिस्वभावः पुरुषोत्तिकायः ॥

लावण्यभावो जलजप्रकृत्या मियाभिभाषी द्रवभोजनश्च ।

खलस्वरूपो बहुमित्रपक्षः क्षोणीपतिर्नातिचिरं प्रगल्भः ॥

कर्पूरजात्युत्पलपुष्पगन्धो भुनक्ति भोगाश्चिरलब्धसौख्यः ।

सिंहासनेमुत्थिरचित्तवृत्तिर्महीस्वभावः पुरुषः सुतत्त्वः ॥ २१ ॥ इति ।

( मालिनी )

शुभफलददशायां तादृगेवान्तरात्मा

बहु जनयति पुंसां सौख्यमर्थागमश्च ।

कथितफलविपाकैस्तर्कयेद्वर्तमानां

परिणमति फलासिस्त्वभचिंतास्ववीर्यैः ॥ २२ ॥

शुभफलदेति । दशाशु बहुविधासु यया दशया भुज्यमानफलसंवादतां गृही-  
यादिति द्योतयितुमयं श्लोकः । अन्यथा त्रिप्रकारं दशानयनमनर्थकं भवति ननु  
गणितानीतदशाफलभुक्तफलयोः संवादेनैव दशा प्रमाणी कर्तव्या चेत्फलानां दशा।  
नयनं कर्त्तव्यं द्वादशवर्षादधस्तनवयस्कस्य बालस्य केवलमरिष्टयोगेनायुर्नाशोप-  
देशात् । यद्येवं दशायाः प्रामाण्यं न भवति कथं तेन दशानयनप्रमाणभूता एवं  
स्यादायुःस्थितिर्जन्मकालादारभ्य प्रथमे वर्षे केवलं सद्योऽरिष्टैरेवायुः खण्ड्यते ।  
द्वादशवर्षात्पूर्वमरिष्टयोगैर्दशासापेक्षैर्दासततिवर्षात्पूर्वं मध्यायुयोगसापेक्षैर्दशाभेदैरत  
ऊर्ध्वं विंशत्याधिकशतात्पूर्वं केवलं दशाया अत ऊर्ध्वममितायुयोगैः सर्वत्र  
निर्योणग्रहस्थितिरन्वेष्टव्या-

“योगे स्थानं गतवति वलिनश्चन्द्रे स्वं वा तनुगृहमथवा ।”

इत्युक्तत्वात्तस्मादुक्तफलनिरूपणेनैव दशा प्रमाणी कर्तव्या । अपि च समकाल-  
जातयोर्द्वयोः शरीरिणोरायुः संवादादपि दशाभेदश्चिन्तनीयः । अयं त्वेवमुपदेशेशः  
काचिदपि दशा प्रमाणीकर्तव्या नैव दोषोऽन्येन केनैव विज्ञायते आचार्याभिप्रायो  
भवता न विदितः ।

प्रथमं ‘मययवनमणित्यशक्तिपूर्वः’ इत्यादिश्लोकेन बह्वाचार्यवैपम्यं चिन्तयताचार्येण  
सत्योपदेशः प्रवरोऽत्रेति अंशकदशापि कथिता । पुनः कचिद्विषये जीवशर्मदशासं-  
गच्छत इति सापि दर्शिता । तस्मान्निषु दशापरिग्रहप्रकारेषु केनचित्प्रकारेण भुक्त-  
फलसंवादो भवतीति । नहि ‘कथितफलविपाकैस्तर्कयेद्वर्तमानाम्’ इत्युपादिष्टम् ।  
तस्मात्परीक्ष्य निर्णेतव्यमित्युक्तं भवति । वक्ष्यति च नष्टजातकाध्याये-नष्टजातकमिदं  
मया बहुप्रकारं निर्दिष्टं ग्राह्यम् । अतस्तच्छिष्यैः परीक्ष्य यत्राद्यया भवतीति ।  
गणितस्कन्धेऽपि परीक्षणेनैव दृग्ग्रहणग्रहयोगादीनां संवादो जायते । अन्यथा पर-  
स्परभिन्नानां पञ्चसिद्धान्तानां निर्माणं निरर्थकं भवतीति । शुभफलददशायां तादृगे-  
वान्तरात्मा इत्यत्रान्तरात्मान्तःकरणं मनस्तादृक् शुभं प्रसन्नं रागद्वेषादिकलुपितं न

भवतीत्यर्थः । तथा च यात्रायां प्रष्टव्यो दैवविदा विस्मयमुपह्वयेनराधिपतिः । रिपु-  
विजयप्रणिधानं प्रतिभवतः किं मनः कुरुते । ह्ययान्मनः प्रोत्सहते हर्षयते ततश्चै-  
नम् । चित्तानुकूलतासिद्धिलक्षणम् । तत्रायं श्लोकः—

“शुभाशुभानि सर्वाणि निमित्तानि स्युरेकतः ।

एकतश्च मनो यातुस्तद्धि शुद्धं जयावहम् ॥”

इत्यादि । तैस्मात्सर्वेभ्यो लक्षणेभ्यो मनः प्रमाणीकर्तव्यम् । ततो मनः प्रसन्नं  
चैदशापि शुभफलदेति विज्ञातव्या । मनः पुंसां सौख्यमर्यागमं च बहु जनयति ।  
अनयानुगामिनो मनसः प्रवृत्त्या सर्वशः सौख्यमर्यागमाभिमतायाः सर्वतः सिद्धयन्ती-  
त्यर्थः । अन्तराख्येति पाठे शुभफलददशायां शुभफलदान्तर्दशा चेत्ययोरुभयोः संयो-  
गाद्बहुसौख्यमर्यागमं च पुरुषा लभन्त इत्यर्थः । ‘कथितफलविपाकैस्तर्कयेद्वर्तमानान् ।’  
इत्यत्र कथितफलानावश्यकभावित्वं सूचितम् । तदेव दृढीकर्तुं—“परिणमति फलोक्तिः  
स्वप्रचिन्तास्ववीर्यः’ इत्युक्तं फलवचनं परिणमत्येवं दशाफलं पुरुषेणावश्यं भोक्तव्य-  
मित्यर्थः । किन्तु अवीर्यैर्बलरहितैर्ग्रहैर्यत्फलमुक्तं तत्स्वप्रचिन्तासु परिणमति पुरुषेण  
किमप्युक्तं न भवतीत्यर्थः । ‘उच्चफलोक्तिः स्वप्रचिन्तास्ववीर्यः’ इति शुभाशुभः  
सामान्यप्रयुक्तमुच्चात्रिकोणेत्यादिश्लोकेन फलसंपूर्णपादोनदलपादात्पानिफलमिति-  
शुभमुक्तम् । तस्मात् पदपदकथनयोरैकार्थ्यं स्यादुच्यते एवं हि मन्यते ‘कथितफल-  
विपाकैस्तर्कयेद्वर्तमानान्’ इत्यत्रोच्चात्रिकोणेत्यादिश्लोकेन नैर्मल्यप्रसङ्गादर्कग्रहस्य  
शुभफलप्रदस्य नैष्कल्यं वर्तमानदशातर्केण कथितफलविपाकैरनुपपन्नं स्यादित्याशंकां  
परिहरन् ‘परिणमति फलोक्तिः स्वप्रचिन्तास्ववीर्यः’ इति कथयति तस्माच्छुभं  
प्रत्येवमुदितम् । ‘दशासु शस्तासु शुभानि कुर्वन्त्यनिष्टसंज्ञास्वशुभानि चैवम्’ इति  
पूर्वमवोपदिष्टत्वात्स्वप्रचिन्तास्त्विति स्वप्नाश्च बहुविधा भवन्ति । तथा च यात्रायाम्—

अनुक्त आद्ये स्मृत आयुषोऽंशे शेषे त्रिभागे गतिजः प्रदिष्टः ।

प्रकोपपापग्रहपाकचिन्तादृष्टाभिचारोद्भवगुह्यकोत्याः ॥

गतेष्वजात्यन्तरसङ्घिसंगः स्वप्रेष्यनूके गतिजे च नित्यम् ।

धातुप्रकोपादनिलात्मकस्य वर्षादितुंगाभ्वरलङ्घनानि ॥

पित्तोधिके कांचनरत्नमालां दिवाकराभिप्रभृतीनि पश्यन् ।

श्लेष्माधिकश्चेन्दुमशुभपुष्पं सरित्सरोजाम्बुविलङ्घनानि ॥

जघन्यमध्यप्रथमे निशांशे प्रावृत्त्यन्माधवसांज्ञिते च ।

काले मरुत्पित्तकफप्रकोपात्साधारणं स्यात्खलु संनिपाते ॥

दशासु चोक्तं ग्रहपाकजातं चिन्तासु दृष्टं च यथा तथैव ।

बीभत्ससत्त्वादिभवोऽभिरामे पित्तोद्भवो गुह्यकजः प्रदिष्टः ॥

आयुष्पचिन्ताग्रहदोषदृष्टान्यभीक्षणकर्माणि च निष्फलानि ।

दृष्टपूर्वाङ्कथितांश्च तद्वदन्यत्र लोके कथिता विशेषाः ॥” इति ।

अन्यशास्त्रान्तरेऽप्युक्तम्-

“दृष्टः श्रुतोऽनुभूतश्च प्रार्थितः कथितस्तथा ।

भाविजो दोषजश्चैव स्वप्नः सप्तविधः स्मृतः ॥”

इत्यत्र भाविजस्य स्वप्नस्य विशेषोऽस्ति प्रत्यक्षवद्भवति वचनान्तः स्वप्ननियमात्स-  
दसत्फलानिः । ‘स्वप्ने शुभाशुभफलं कथितं नराणामुद्देशमात्रमिह ताननुवर्णयामि ।’  
इति ग्रहपाकजस्वप्नो न भाविफलसूचक इत्यत्रापि सिद्धं भवति प्रभादौ तु ‘शुभ-  
फलददशायां तादृगेवान्तरात्मा’ इत्यत्र प्रच्छकस्य भावस्यानालोकयोगेषु शुभेषु  
देवज्ञस्यान्तरात्मापि प्रसन्नश्चेद्बहुसौरूपमिष्टार्थागमनं च भवति । ‘कथितफलविपा-  
कैस्तर्क्येद्वर्तमानाम्’ इत्यत्र प्रच्छकेन यत्फलं कथितं पृष्ठं च तस्य विपाकैस्तदानीं  
दृष्टैः श्रुतैर्वा वर्तमानदशामवस्थां तर्क्येत् यथा जलप्रश्ने जलदर्शनश्रवणादिना वर्षा  
भवतीत्युच्यते । एवं फलमुच्यते तत्सर्वमेव निरूपणीयमित्येवं स्वप्नचिन्तास्ववीर्य-  
लक्षणं प्रत्यक्षं यद्भवति यत्स्फुरतीत्यादिनोक्तम् । तादृशस्य फलमवश्यं भवति ।  
फालभेदत्वात्कालश्चोच्यते मिहिरेणास्मदाचार्येण-

“आद्ये वर्षा वत्सरार्धाद्वितीये यामे पाको वर्षपादादृतीये ।

मासात्पाकः शर्वरीपश्चिमांशे सद्यः पाको गोविसर्गेण दृष्टे ॥”

अत्र स्वप्नानां शुभाशुभावमन्यस्माच्छास्त्रान्तरादवगन्तव्यम् । चिन्तास्ववीर्यं तु  
प्रच्छकस्य प्रश्नसौष्ठवं देवज्ञस्य सावधानत्वं चेत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ २२ ॥

(वसन्ततिलका)

एकग्रहस्य सदृशे फलयोर्विरोधे

नाशं वदेद्यदधिकम्परिपच्यते तत् ।

नान्यो ग्रहः सदृशमन्यफलं हिनस्ति

स्वां स्वां दशामुपगताः स्वफलप्रदाः स्युः ॥ २३ ॥

इति श्रीधराहमिहिरविरचिते बृहज्जातके दशान्तदशाध्यायोऽष्टमः ॥८॥

एकग्रहस्येति । शुभाशुभयोः फलयोर्विरोधे सदृशे तयोर्द्वयोः फलयोर्नाशं वदेत्  
शुभाशुभयोः फलयोर्दधिकं शुभमशुभं वा तत्परिपच्यतेऽनुभूयते कारणबहुत्वादा  
तस्य गौरवादाधिक्यम् । एतदुक्तं भवति नैसर्गिकदशान्तदशाधिदशाराशिकलं भाव-  
फलं दृष्टिफलमष्टकवर्गफलं होरादिवर्गफलं प्रत्यक्षमासनिशाफलादिभेदेः, शुभाशुभ-  
फलविपाकः तेषु शुभाशुभफलेषु शुभयोः साम्ये तयोः फलयोरभावः यस्याधिक्यं

तस्य परिपाकः । यथा पुरुषस्य जन्मकाले पुत्रस्थाने गुरुः पुत्रप्राप्तिर्न दृष्टश्चेत्कथं-  
मिति सन्देहात्तन्निर्णयिते तथा विचारः अनेकविधकारणान्तरेण 'मरुते नीचोत्पवित्तो  
सुखी' इत्यादिवचनेन गुरोरनिष्टफलदत्वं च यदा भवति तदा शुभाशुभयोर्विरोधः ।  
पुनरष्टमाधिपतेरशुभत्वमूलम् । 'तस्याधिपतिर्भवोऽपि वा निर्याणं स्वगुणैः  
प्रयच्छति' इतिवचनात् । तथा चोक्तम्—

यद्भावस्योऽष्टमपस्तद्भावो नश्यते न सन्देहः ।" इति ।

भावाधिपतित्वाद्भावपुष्टिस्तस्याष्टमाधिपतित्वाद्भावहानिरित्युभयं यत्र दृश्यते तत्र  
च फलयोर्विरोधः । यदधिकं परिपच्यते न च इत्यस्योदाहरणम्—शनेस्तावन्मेप-  
स्यस्य मूर्खोऽनः कपटवानित्यशुभत्वं तस्यैव लग्नगतत्वे "प्रहृष्टार्थो रोगी" इत्या-  
दिनाप्यशुभफलत्वम्—

'परविभषपरिच्छदोपभोक्ता रवितनयो बहुकार्यकृद्गुणेशः' इत्यनेन शुभफलदत्वं  
च यत्र सम्भवति तत्राशुभफलस्याधिक्यात्तत्परिपच्यते । एवं बहुधा फलपरिपाकः  
श्रीपतिनाप्युपदिष्टस्तथा च तद्वाक्यम्—

"पाकं द्वादशया षदन्ति यवना दिग्भेदभिन्नं तथा  
माणित्याः खलु वादरायणमुनिस्तं चाष्टया मोक्तवान् ।  
षड्भेदं खलु सिद्धसेनविबुधस्तं देवरायः पुन-  
र्भेदेरधिभितैरुदारधिषणाः श्रीविष्णुगुप्तास्त्रिभिः ।"

"पाकं द्विभेदं पुनराह सत्यस्तच्छास्त्रदृष्ट्या कथयाम्यथैतान् ॥"

अस्यार्थो नैसर्गिकेत्यादिना पूर्वमेव व्याख्यातः ।

इति दशाध्याय्यामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

### अथाष्टकवर्गाध्यायः ९.

( शार्दूलविक्रीडितम् )

स्वादर्कः प्रथमायवन्धुनिधनद्व्याज्ञातपोयूनगो

वक्रात्स्वादिव तद्वदेव रविजाच्छुक्रात्स्मरान्त्यारिगः ।

जीवाद्धर्मसुतायशत्रुपु दशन्यायारिगः शीतगो—

रेण्वेवान्त्यतपः सुतेपु च बुधाह्वनात्सवन्ध्वन्त्यगः ॥ १ ॥

लग्नात्पट्टत्रिदशायगः सधनधीधर्मेपु चाराच्छशी

स्वात्सास्तादिपु साष्टसप्तसु रवेः षट्त्रयायधीस्थो यमात् ।

धीत्रयायाष्टमकण्टकेपु शशिजाज्जीवाह्वयायाष्टगः

केन्द्रस्थश्च सिताक्षु धर्मसुखधीन्यायास्पदानङ्गः ॥ २ ॥  
 वक्रस्तूपचयेष्विनात्सतनयेष्वाद्याधिकेपूदयाः  
 चन्द्रादिग्विफलेषु केन्द्रनिधनप्राप्त्यर्थगः स्वाच्छुभः ।  
 धर्मायाष्टमकेन्द्रगोर्कतनयाज्ज्ञात् पट्त्रिधीलाभगः  
 शुक्रात्पट्त्र्ययलाभमृत्युषु गुरोः कर्मान्त्यलाभारिषु ॥ ३ ॥  
 द्यायायाष्टतपःसुखेषु भृगुजात्सत्यात्मजेष्विन्दुजः  
 सांज्ञास्नेषु यमारयोर्व्ययारिषुप्राप्त्यष्टगो वाक्पतेः ।  
 धर्मायारिसुतव्ययेषु सवितुः स्वात्साध्यकर्मत्रिगः  
 पट्स्वायाष्टसुखास्पदेषु हिमगोः सायेषु लग्नाच्छुभः ॥ ४ ॥  
 दिक्स्वायाष्टमदायबन्धुषु कुजात्स्वात्सत्रिकेष्वाङ्गिराः  
 सूर्यात्सत्रिनवेषुधीस्वनवदिग्गलाभारिगो भार्गवात् ।  
 जायायार्थनवात्मजेषु हिमगोर्मन्दात्रिपट्त्रिधीव्यये-  
 दिग्धीपट्स्वसुखायपूर्वनवगो ज्ञात्सस्मरश्चोदयात् ॥ ५ ॥  
 लग्नादा सुतलाभारन्ध्रनवगः सान्त्यश्शशांकात्सितः  
 स्वात्साज्ञेषुसुखत्रिधीनवदशच्छिद्रासिगः सूर्यजात् ।  
 रन्ध्रायव्ययगो रवेर्नवदशप्राप्त्यष्टधीस्थो गुरो-  
 र्ज्ञांस्त्रीत्रयायनवारिगत्रिनवपट्पुत्रायसान्त्यः कुजात् ॥ ६ ॥  
 मन्दः स्वात्रिसुतायशत्रुषु शुभः साज्ञान्त्यगो भूमिजा-  
 त्केन्द्रायाष्टधनेष्विनादुपचयेष्वाद्ये सुखे चोदयात् ।  
 धर्मायारिदशान्त्यमृत्युषु बुधाचन्द्रात्रिपट्त्रिधीलाभगः  
 पष्टायान्त्यगंतः सितात्सुरगुरोः प्राप्त्यन्त्यधीशत्रुषु ॥ ७ ॥

अष्टक्यर्गाध्यायो ध्यात्वापते-स्वादकैत्यस्मिन् श्लोके प्रथमं रविकुजमन्दाः  
 पापप्रदाः प्रोक्ताः भृगुगुरुषुचन्द्राः शुभप्रदाश्च तेनापमर्थो गम्यते पापप्रहणां  
 दुःखफलद्वयात्तत्परिहाराय शुभक्रियाः कर्तव्याः अष्टक्यर्गं चिन्त्यस्याहदकर्मफल-  
 मेष दि परिहर्षत्यमिति ।

“सूर्यस्याष्टसु विन्दुषु क्षितिपतेराप्ता विभूतिर्वनम्  
सप्तस्वद्भुतकान्तिसौख्यविभवः पदसु प्रतापोन्नतिः ।  
पञ्चस्वर्यसमागमः सदसतोः साम्यं चतुष्के त्रिके  
अध्वश्रान्तिकरो द्विके गदभयं रूपेऽथ शून्ये मृतिः ॥” इति ।

पित्रादिकारकभूतानामर्कादीनां, लग्नतुल्यत्वादकस्थितराशेर्नवमं पितृस्थानत्वेन  
निरूपणीयम् । तत्रार्कस्याष्टकवर्गफलानि निक्षिप्य त्रिकोणैकाधिपत्यशोधनं कृत्वा सर्वं  
पिण्डं सप्तसप्तभिर्निहत्याविभज्य शेषो यत्रक्षत्रं दृश्यते तत्रिकोणगते मन्दे पितुः  
पितृसमस्य वा व्यसनं वाच्यम् । अर्काष्टकवर्गे यस्मिन्नाशौ फलभूयस्त्वं स्वगृहे  
तास्मिन्नाशौ देवस्थानफलं देवाराधनं च समृद्धिकरं भवति । फलभूयस्त्वरशौ स्थिते  
राजदर्शनव्यवहारादिकं कार्यम् ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

( मालिनी )

इति निगदितमिष्टं नेष्टमन्याद्विशेषा-

दधिकफलविपाकं जन्मभात्तत्र द्युः ।

उपचयगृहमित्रस्वोच्चगैः पुष्टमिष्टं

त्वपचयगृहनीचारातिगैर्नेष्टसम्पत् ॥ ८ ॥

इति श्रीवराहमिहिरविरचिते बृहज्जातकेऽष्टकवर्गा-

ध्यायो नवमः ॥ ९ ॥

इति निगदितमिति । एवं चारफलसूत्रम् । अष्टकवर्गफलमुच्यते । इति  
निगदितमित्यादिविशेषादधिकफलविपाकमिति ग्रहचारेण वा दशायां चेष्टं फलम्  
अष्टकवर्गेण चेष्टं चेत्तद्विशेषाच्छुभमेव भवति । उक्तविपरीतभावे विशेषादशुभमेव  
भवति । अथवा इति निगदितमिष्टं नेष्टमन्यादित्युक्तपौरिष्टानिष्टयोर्विशेषादन्तराद्यद-  
धिकं फलं तस्य विपाकं दद्युरिति ।

जन्मनामित्यत्र जन्मशब्दप्रसंगतः जन्मकालीनग्रहैर्यत्तदष्टकवर्गं निक्षिप्यते इति  
सूचितं भवति । तत्र दद्युरिति राशौ यत्र भागे फलपाकस्तत्र चरन्तो ग्रहास्त-  
त्फलं दद्युरिति फलपाकस्यापि प्रस्तारो विज्ञायते प्रस्तारं विनापि अष्टकवर्गफलपाक-  
भावं विज्ञातुमुपायोऽस्ति । सोऽत्रोच्यते । राश्यष्टमांशोऽत्र पञ्चविंशत्युत्तराशतद्वय-  
लिप्तात्मकः तेष्वष्टमांशेषु शनैश्चरादीनां कस्याक्रमसिद्धानां ग्रहाणां लग्नस्य च फल-  
पाको विज्ञायते । यस्मिन्नष्टमांशेऽष्टकवर्गफलं यस्य ग्रहस्य विद्यते तस्मिन्भागे ग्रहः  
शुभः । अष्टकवर्गसिद्धिकलं शनैश्चरस्य चेत् सग्रहस्तास्मिन्नाशौ प्रथमाष्टमांशे शुक्रस्य  
चेत्पष्ठे चन्द्रस्य चेत्सप्तमे लग्नस्य चेदष्टमाष्टमांशे इति प्रस्तारफलविज्ञानोपायः ।

अथवा विशेषादधिकफलमित्यत्र विशेषशब्देन शोधनमुच्यते त्रिकोणशोधनमेकाधिपत्यशोधनं च शास्त्रान्तरादवगम्य तस्मिन् कृते यदधिकं शिष्टं तस्य विपाकं दद्युरिति केन्द्रपणफरापोक्तिमेषु फलाधिक्याल्पताभ्यामादिमध्यमाद्यवस्थासु शुभाशुभं चिन्त्यम् । व्ययभावादायभावे फलाधिके सति धनवान् भवति । यत्राष्टाविंशतिफलानि तस्य भावस्य मध्यमत्वं यत्र तदूनानि तस्याधमत्वम् । यत्र तदधिकानि तस्योत्तमत्वमित्याद्यष्टकवर्गविधानेन बहु निरूपणीयम् । तदत्रोच्यते विशेषादधिकफलं पाकजन्मिनां तत्र दद्युरिति ।

उपचयग्रहमित्रेत्यादिना तु ग्रहबलावलं शुभाशुभचारमष्टकवर्गफलानि निरूप्य फलविशेषश्चिन्त्यते । 'उपचय' इत्यादिश्लोकोत्तरार्थस्यायोद्विप्रकारो व्याख्यायते । ग्रहाणां जन्मकाले स्थितिवशाच्चारवशाच्च ते तत्र प्रथमं जन्मकाले ग्रहाणां स्थितिवशाद्योऽर्थ उच्यते सोऽत्रोच्यते । जन्मचन्द्रस्थितराशेर्लमात्रं यान्युपचयस्थानानि त्रिषड्दशमेकादशानि तेषु गतैर्मित्रग्रहाण्युच्यते । स-सन्धेन स्वराशिमूलत्रिकोणराशिहच्यते । उपचयशब्देनोच्चराशयस्तेषु गतैर्ग्रहैर्यदिष्टं फलं दीयते तत्पुष्टं भवति सम्पूर्णं भवतीत्यर्थः । त्वपचयग्रहनीचारातिगैर्नेष्टसम्पत्' इत्यत्र अपचयग्रहनीचारातिगैर्नेष्टस्येष्टस्य सम्पत् न । अथवा अपचयग्रहनीचारातिगैर्नेष्टमनिष्टं यत्तस्य संपत् न भवति । अथवोपचयग्रहमित्रस्वोच्चगैरित्यादिश्लोकोत्तरार्थगताभ्यामिष्टानिष्टशब्दाभ्यां पूर्वार्धगतेष्टनेष्टशब्दा उच्यन्ते । एतदुक्तं भवति । अष्टकवर्गफलाधिक्येन यदिष्टं फलं ग्रहाः कुर्वन्ति ते उपचयग्रहमित्रस्वोच्चगाश्चेत्तत्पुष्टं कुर्वन्ति । अष्टकवर्गफलाल्पतया यत्रेष्टं कुर्वन्ति । अपचयग्रहनीचारातिगताश्चेत्तस्य नेष्टस्य सम्पद्भवति प्राचुर्यं भवतीत्यर्थः । अस्मिन्पक्षे पूर्वोक्तोऽर्थः समीचीनः शास्त्रान्तरसंवादाच्च । तथा च शास्त्रान्तरम्-

“लमादुपचयसंस्थश्चन्द्रादा स्वगृहमूलतुङ्गस्थः ।

मित्रक्षेत्रगतो वा फलमतिशयितं ग्रहो दद्यात् ॥

अपचयराशी नीचे शत्रुक्षेत्रेऽपचयजफाले स्यात् ।

यस्तु च यद्यत्पाकं फलमतिशयितं ग्रहो यथाकालम् ॥” इति ।

अथ चारपशात्रिरूपणीयोऽर्थो व्याख्यायते-

उपचयग्रहमित्रस्वोच्चगैरित्यत्रोपचयशब्देन ग्रहचारं जन्मराशेराभ्यं यस्मिन्नाशी ग्रहे स्थिते उपचयो वृद्धिर्भवति स राशिः उच्यते तत्र स्थितो ग्रहः स्वामित्रक्षेत्रस्वक्षेत्रोच्चगश्चेत्स्वदीपमानमिष्टं फलं करोति अन्यथानिष्टं फलं पुष्टं करोति अथवाप्रापि पूर्वयष्टकवर्गफलैरिष्टनेष्टे निरूप्येते । एतदुक्तं भवति । अष्टकवर्गं चारपशाच्च मित्रराशौ स्थित्या चेष्टं फलं ग्रहाणां पुष्टं भवतीति । अष्टकवर्गचाराभ्यां दशायाः माधान्यं



भवति दृढकर्म फलदात्वादशानिरूपणेऽपि दशादातृग्रहबलावलं निरूपणीयम् ।  
बलावलनिरूपणेऽपि स्थानबलमाधान्येन निरूपणीयम् । तदनेनैवाचार्येण स्वल्पजा-  
तके उक्तम्—मित्रोच्चस्वगृहांशोपगतानां शोभना दशाः सर्वाः । स्वोच्चाभिलाषिणामपि  
नतु कथितविपर्ययस्यानामिति अष्टकवर्गफलवाङ्मलेऽपि फलदातृग्रहाणां दीर्घत्वेष्ट-  
कवर्गफलानां निर्जीवितत्वमवगन्तव्यम् । अन्यथा सजीवितत्वं तस्माद्बलावलवशा-  
देवं शुभाशुभं कल्पनीयम् । तथा च जातकसंग्रहे—

“दिक्स्थानकालचेष्टावलपुक्तो नास्तगो न रिपुपुक्तः ।

न पराजितश्च युद्धे शुभगाश्रयस्तस्य शोभना हि दशा ॥”

“उक्तविपरीतसंस्था न शुभाः स्युश्चेति कर्तितं पूर्वैः ।

नीचेस्तगेऽरिराशौ रन्ध्रे व्यपभेद्यवा बलेर्हीनः ॥

तेषां दशासु मतिमान् सम्पत्तिं निर्दिशेद्यथायोग्यम् ॥” इति ।

इति दशाध्याय्यां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ कर्माजीवाध्यायः १०.

( महर्षिणी )

अर्थासिः पितृपितृपत्निशत्रुमित्र-

भ्रातृस्त्रीभृतकजनादिवाकराद्यैः ।

होरेन्द्रोर्दशमगतैर्विकल्पनीया

भेन्द्रकर्कस्पदपतिगांशनाथवृत्त्या ॥ १ ॥

अथ कर्माजीवाध्यायो व्याख्यायते ।

अर्थाप्तिरिति । दिवाकरे दशमगते पितृपक्षात्, चन्द्रे मातृपक्षात् कुजे सपत्न-  
पक्षात् बुधे मित्रपक्षाद्गुरौ भ्रातृपक्षाच्छुके भार्यापक्षाच्छनी भृत्यपक्षादपार्थाप्तिरित्य-  
न्वयः । स्त्रीशब्देन भार्या विवक्षिता भार्यावशाद्गुणदोषा भवन्ति । ‘अर्थ भार्याशरी-  
रस्य’ इत्याद्युक्तत्वाद्भार्याजन्मवशात्पुरुषस्य गुणदोषाश्चिन्त्याः तदर्थं स्त्रीजातका-  
ध्यायोक्तः ‘यद्यत्फलं नरभवे क्षममङ्गनानां क्षमयोग्यं स्त्रीणां वाच्यम् । तथा च  
स्वल्पजातके—‘पुंजन्मफलं यद्यदप्यस्ते स्त्रीषु पतिषु तत्तासाम् । यत्कथं राज्याद्यं  
घृणविनाशादि वा पापम् ॥१॥’ इति अक्षमं पतिषु वदेदित्युक्तस्यापमर्शः । तासां  
तु तत्र विशेषवाचिनिघने पतिमरणं, लघचन्द्राभ्यां शरीरं, सप्तमे च सौभाग्यं, पति-  
गपि चिन्त्य इति तथा चोक्तम्—

“वैद्यं निघनगृहे पतिर्साभाग्यं सुखं च यामित्रे ।

सौन्दर्यं नवमगृहे विचिन्तयत्युग्रसम्पदं नवमे ॥

एषु स्थानेषु गताः सौम्याः शुभदा बलान्विता लभे ।

प्रोक्ताः क्रूरास्तु नेष्टफलदा भवने शनिवर्जिताः सदा चिन्त्याः ॥” इति ।

युग्मेषु लग्नशशिनोरित्यत्र युग्मराश्यंशयोरिति ग्राह्यम् । ओजस्ययोरित्यत्रापि तद्वद्वति ग्रहेऽस्तमये स्थितेशके वेत्युत्तरत्र वक्ष्यति । तथा चोक्तम्—

“पुरुषर्क्षे पुरुषांशे लग्नेन्द्रोः पापयुक्तयोर्जातः ।

पुरुषः पुरुषाकृतिशीलयुता भर्तुर्योग्यासमंजसा कन्या ॥

समराशौ समभागे लग्नेन्द्रोः स्त्रीगुणान्विता कन्या ।

सौम्ययुतालोकितयोः सुभगा साध्वी सुविरूपाता ॥” इति ।

ओजस्थयोस्तु । तुल्यशब्देनाशुभत्वं सूचितम् । कन्येव दुष्टेति । कन्याशब्देन प्रजात्वमप्युक्तम् । इष्टा गुणहीना व्रजतीह दास्यं बहुजनविधेया दुःशीला प्रेम्णा च । साध्वी पतिव्रता पुत्रवतीत्युदारा च समाया मायासहिता मलिनाचारात्पसुता च कुचरित्रयुता राजप्रिया भूम्यात्मजर्क्षे मेघवृश्चिकयोरित्यर्थः । वक्रार्किजीवेन्दुज-  
भार्गवाणां त्रिंशंशकेषु क्रमादेतानि फलानि उक्तानि अत्र वक्रादिक्रमोक्त्या पृश्निकराशौ व्युत्क्रमेणैतानि फलानि वक्तव्यानीति सिद्धं भवति । तानि फलानि शास्त्रान्तरे—

“भौमर्क्षे भौमांशे कन्यामृतसूचिता गुणैर्हीना ।

कन्याजननी कन्या शुक्रांशे जारभोगसन्तुष्टा ॥” इति ।

इष्टा पुनर्भूरिति । दुष्टाग्रग्रहपरा भूपतिदैव्या च । पुनर्भूर्दिगुदां मृतप्रजप्ररोह-  
युक्ता सुगुणा रूपेण भर्तृपुत्रैश्च । सुगुणा कलाज्ञा काव्यकलादितत्परा तस्मात्कु-  
चरित्रा च ख्याता गुणैर्भोगवती जगत्प्रिया प्रसिद्धा च स्यात् । कापटीत्यादि फलं  
बौधे बुधराशौ कापटी, स्वच्छन्दा, नष्टप्रजा क्लीवसमा पतिहीना दरिद्रा च । सती  
पतिव्रता, च शब्देनात्परतिगुणाढ्या, शिल्पादिकुशला प्रधिकीर्णकामा निष्फलकामा  
वन्ध्येत्यर्थः । मृतप्रजा स्त्रीषु दुष्टतरेषु । तथा चोक्तमन्यत्र—

“सितभवने भौमांशे दुष्टा कलहप्रिया पतिद्वेष्या ।

मन्दांशे तु पुनर्भूर्मृतप्रजा रोगयुता नित्यम् ॥

रूपान्विता गुणाढ्या जीवांशे भर्तृपुत्रसम्पन्ना ।

कुचरित्रा सौम्यांशे काव्यकलागेषवाद्यसन्तुष्टा ॥

शुक्रांशे भोगवती विदग्धदयिता जगत्प्रिया ख्याता ।

बुधभवने भौमांशे स्वच्छन्दकामिनी विनष्टसुता ॥

मन्दांशे पतिहीना कृच्छ्रात्रेनोपजीवती नित्यम् ।

अल्पसुता क्षीणापुर्जवांशे शिल्पिनी बुधांशे ॥

यन्ध्या मृतप्रजा वा शुक्रांशे स्त्रीषु दुष्टतरा ॥” इति ।

स्वच्छन्दा स्वैरचारिणी पतिधातिनी पतिव्री बहुगुणा पुत्रादिगुणवती  
 शिल्पनिपुणा असाध्वी दुष्टमाररता, असती चासन्तनिश्चार्कभ वाचाला बहुभा-  
 पिणी विदेशरता परपुरुषगामिनी कुलटा कृशा दरिद्रा कुलहीना च नृपवधूः । पुंश्चे-  
 ष्ठिता कार्यरता पुरुषाकृतिशीलपुता अगम्पगागम्पपुरुषगामिनी अत्यसुतरागवतीः ।  
 जैवेनैकगुणेत्यादि नैकगुणा पत्यनुसारिणी पुत्रवती शीलवती चालपरतिरत्यसुखा च  
 कापटिका कन्याजननी स्वतन्त्रनिरता चातिगुणा भर्तृसम्पदादिगुणसम्पन्ना विज्ञान-  
 युक्ता धर्मपरा शिल्पकुशला शास्त्रार्थज्ञातां सती पतिव्रता च दासी बहुजनविधेया  
 पुत्रहीना च नीचरता नीचे कर्मणि रता अथवा नीचरता गर्भिणीपजनरता दुर्भगेत्यर्थः  
 पतिरता पत्युरिष्टा सुभगा दुष्टा तु भग्नवधर्मा कुलटा कुलव्री च अपन्ना  
 तु वन्ध्या चारित्र्यलोचना च—शब्देन पूर्वोक्ता दुष्टा चेत्यर्थः । अंशकस्त्रिंशशकैरिति  
 शशिलमेति शशिलमयोर्वलयुक्तेन युक्तस्त्रिंशशकैरिदं विचिन्तयेत् । अथवा कयोर्योग  
 त्रिंशशकैर्वा बलाबलविकल्पेन तयोः शशिलमयोरुक्तं फलं विचिन्तयेत् । बलाबल-  
 विकल्पेन त्रिंशशकाधिरतेर्वलयशादुक्तफलमात्रुर्धाल्पत्वमूह्यमित्यर्थः । द्वयसंस्था-  
 वित्यादियोगद्वयं द्वयसंस्थौ परस्परदृष्टौ यदि स्त्रीभिर्नराकृतिस्थिताभिः स्त्रीमदीप्तं  
 मदनविपानलं संशान्तिं नयतीति इत्येको योगः । शकै राशौ यदि कुम्भाशक उदेति  
 तदा द्वितीयः । अथवा परस्परानुगतौ सितासितौ परस्परदृष्टौ शीकराशाबुदयति  
 कुम्भाशकश्च भवति । यदि स्त्रीभिः स्त्रीमदनविपानलं संशान्तिं नयतीत्येको योगः ।  
 इति केचित् तथा च सारावल्याम्—

“शौत्रयासितौ यदि परस्परभागलेशे

शौके च दृष्टियगगबुदये घटांशे ।

स्त्रीणामतीव मदनाभिगदः प्रसूदः

स्त्रीभिः शमं च पुरुषाकृतिभिर्लेभन्ते ॥” इति ।

शूये कापुरुष इत्यादिशौके परगृहे नित्यं प्रवासान्वित इत्यत्र स्थितग्रहे स्वगृ-  
 ह्वासीति चोह्यं भवति । क्रीवोस्ते बुधमन्दयोरित्यत्र तयोर्युगगत्यतिरेपेक्षितेति च  
 आर्षेयोरित्यादिशौके क्रूराणां सप्तमे प्रत्येकं फलमुक्ता इदानीं क्रूरस्य फलोक्तिः स-  
 विशेषा विहिता हीनबलवत्त्वं विशेषः सौम्येक्षितत्वं च । तथा चोक्तम्—

“बलहीनेस्तगे पापे सौम्यग्रहनिरीक्षिते ।

भर्त्रा विसृज्यते नारी० इति ॥”

इति पूर्वार्थ स्पष्टम् । कौजेस्तांश इति लघ्वे यतिमोश उदेति सप्तमे ततिमोशः  
 अत्रांशशब्देनोच्यते ‘भवति ग्रहेस्तमये स्थितेशके वा’ इति चक्ष्यमाणविधिनेत्र-  
 सिद्धयति । तयोर्वलयशात्फलनिर्देशः सौरिणेत्यत्र । सौरिणा दृष्टेस्तां

इत्यन्वयः । श्लोकपूर्वाधे पापदृष्टे इत्यत्र पापैर्दृष्टे इति समासविवरणे कृतं पृथक् स्थितो दृष्टशब्दः । सौरिणेत्यत्राध्याहार्यः, तथा च सारावल्याम्-

“यूने कुब्जनवांशे शनिदृष्टे चापि रोगयोनिः स्त्री” इति ‘वृद्धो मूर्खः’ इत्यादि-  
श्लोकद्वयं स्पष्टार्थम् । ‘ईर्ष्यान्वित’ इत्यादिश्लोकद्वयं स्पष्टार्थम् । क्रूरेत्यादिश्लोके तु निधनेश्वरश्चापि चिन्त्य इत्युक्तं भवति । क्रूरेऽष्टमे विधवता धवो भर्ता विगतधवता भर्तृमरणमित्यर्थः । अर्थात्सौम्येऽष्टमगते सति भर्तृमरणात्पूर्वं स्वमरणं भवति ।  
तथा च सारावल्यामुक्तम्-

“पापेऽष्टमे विधवता निधनाधिपतिर्नवांशके यस्य

तस्य दशायां मरणं तस्याः स्वयं शुभे तत्स्थे ॥” इति ।

तदा मरणमित्यत आह-“निधनेश्वरंशे यस्य स्थितो वयसि तस्य समे प्रदिष्टा”  
इति निधनेश्वरो यस्य नवांशे स्थितस्तस्य समे वयसि विधवता प्रदिष्टा समे वयसीत्यनेन तस्य निसर्गदशाकाले इति कैश्चिद्वाख्यायते । परे तु तस्य दशाकाले-  
ऽन्तर्दशाकाले वेत्युच्यते । तथा च सारावल्याम् । उक्तस्याधोऽत्राचार्येण  
भाषाध्याये-

“समुपचयविपत्तिः सौम्यपापेषु सत्यः

कथयति विपरीतं रिःफयष्टाष्टमेषु ॥”

इत्यनेनाष्टमभवनस्य बलाबलं तथा तस्य बलाबलं च निरूपणीयम् भवति ।  
एतद्भाषाध्यायेष्युपदिष्टम्-

“सुहृदरिपरकीयस्वर्क्षतुङ्गस्थितानां

फलमनुपरिचिन्त्यं लभदेहादिभावैः ।” इति ।

“उच्चत्रिकोणस्वसुहृच्छुनीचगृहार्कगैः ।

शुभसम्पूर्णपादोनदलपादाल्पनिष्फलम् ॥”

इत्यनेनाष्टमगतस्य क्रूरस्य ‘लभ्रात्पुत्रकलत्रभे शुभपतिप्राप्तेऽथवालोकिते चन्द्राद्वा  
यदि सम्पदस्ति हि तयोर्लङ्घ्योऽन्यथासम्भवः’ । इत्यनेन पुत्रकलत्रसम्पन्निरूपण-  
विधानेन सर्वभावसम्पदसम्पन्निरूपणप्रकार उक्तः । तथा चार्यपुत्रेणोक्तम्-

“यो यो भावः स्वामियुक्तेक्षितो वा

सौम्यैर्वा स्यात्तस्य तस्याभिःशुद्धिः ।

पापैरेवं तस्य भावस्य हानि-

निर्दंष्ट्रव्या पृच्छतां जन्मतो वा ॥”

तस्मादष्टमस्यः शूरोऽष्टमाधिपतित्वे वैधव्यकृत्रेति सिद्धं भवति । क्रूरेऽष्टमे  
विधवत्युक्तो विधवता नियता इत्यत आह-

‘सत्स्वर्थेण मरणं स्वयमेव तस्य’ इति सत्सु शुभग्रहेषु धनगतेषु क्रूरेष्टमे सति तस्याः स्वयमेव मरणमष्टमगतस्य शुभदृष्टत्वात्स मरणादपि गरीयो भर्तृमरणं भवति । अथवा नष्टजातकाध्याये—

“एवं कलत्रसहजात्मजशत्रुभेभ्यः

प्रष्टुर्वेददुदयराशिवशेन तेषाम्—”

इत्यनेन यद्वाचो निरूपणीयस्तद्वाचं विलम्बं कृत्वा तद्वाचस्य धनादिभावाः सर्वेऽपि चिन्त्या इत्युक्तं भवति । विहितस्य सप्तमभावस्य भर्तृस्थानभूतस्याष्टमे लभाद्जनस्थाने स्थितेषु शुभग्रहेषु भर्तृरापुरस्तोति चिन्त्यम् । भर्तृरापुषि सति क्रूरेष्टमे सति तस्य फलं स्वमरणमिति । ‘सत्स्वर्थेण मरणं स्वयमेव तस्या’ इत्यनेनोक्तं भवति तस्माद्भर्तृजन्मग्रहराशिवशात्तस्यापुषि दीर्घं सति स्त्रीजन्मनि क्रूरेष्टमे तस्याः स्वयमेव मरणं वक्तव्यमित्यादि विचारणीयमिति कन्यालिगोहरिषु चाल्पसुतत्वमित्यनेनाल्पसुतराशयो विहिताः । कन्यालिगोहरयोल्पसुतराशपस्तेषां पुत्रस्थानगतत्वमपि फष्टमिति चकारात्सूचितम् । तदपि सारावल्यामुक्तम्—

“कन्यालिष्टर्षासिंहाः पञ्चमगा यस्य सूतिकाले ।

स्पृष्टतस्याल्पसुतत्वं स्यादिति स्त्रीणां पुत्रविन्ता तु”

“यद्यत्फलं नरभवे क्षममंगनानां तत्तद्देव०”

इत्यत आह “निधनेश्वरोऽंशे यस्य स्थितो वयसि तस्य समे प्रदिष्टा इति निधनेश्वरो यस्य नवांशे स्थितस्तस्य समये वयसि विववता प्रदिष्टा समे वयसीत्यनेन तस्य निसर्गदशाकाले इति कैश्चिद्वाक्येण गायते । परे तु तस्य दशाकालेऽन्तर्दशाकाले वेत्युच्यते । तथा च सारावल्याम्—उक्तस्यार्थोऽत्राचार्येण भावाध्याये—

“समुपवयविपत्तिः सौम्यपापेषु सत्यः

कथयति विपरीतं रिःकपष्टाष्टमेषु ॥”

इत्यनेनाष्टमस्य पापस्य मरणप्रदत्वे निरूपमाणे ।

‘फलमधिकमिदं यदत्र भावाद्भवनभनायपुगेर्विचिन्तनीयम्’ इत्यनेनाष्टमभवनस्य बलाबलं तथा तस्य बलाबलं च निरूपणीयं भवति । एतद्वाचाध्यायेऽप्युपदिष्टम्—

“सुहृदरिपरकीपस्वर्तुंगस्थितानां

फलं मनुषीरिचिन्त्यं लभदेहादिभविः ॥”

“उच्चत्रिकोणस्वसुहृच्छत्रुनीवगृहार्कगैः ।

शुभसंस्पर्शपादेनदलादादानिफलम् ॥”

इत्यनेनाष्टमगतस्य कृत्स्न “लगात्पुत्रप्लवहे शुभवतिप्रतिश्रवालोहिते चन्द्राष्टा यदि सम्पदस्ति हि तथैर्ज्ञेयः स्यात्सम्भवः ।” इत्यनेन पुत्रकलत्रसम्पन्निरूपण-

विधानेन 'सर्वभावस' इत्यनेन पूर्वोक्तप्रकारो निरूपयितव्य इति सिद्धं भवति ।  
'सौरे मध्यवले वलेन सहितः' इति श्लोकः स्पष्टार्थः । 'पापेस्ते' इत्यादिश्लोकैः  
उद्गाहे वरणविधावित्युत्तरार्धे वरणविधावित्यत्र वरणं कन्यावरणं प्रदीनं  
चिन्ताग्रभः । एतेषु तत्त्वज्ञातकोक्तं सर्वमपि विधेयमित्यर्थः । अलमतिप्रसंगेन ।

प्रकृतमनुसरामः । 'भेन्द्रकास्पदपतिगांशनाथवृत्त्या' इति 'उदयरविशंशांकप्राणि-  
केन्द्रादिसंस्थाः' इति पूर्वमुक्तम् । इदानीं भेन्द्रकास्पदपतिगांशनाथवृत्त्येत्यत्रापि  
रविवशात्फलं चिन्त्यमित्युक्तं भेन्द्रकास्पदपतिराशिवृत्त्या तत्र ग्रहगतवृत्त्या तदधि-  
पस्वभावादि निरूपयितव्यम्-तथा च सारावल्याम्-

“होरेन्द्रोर्वलयुक्ताद्यो दशमस्तत्स्वभावकं कर्म ।  
तत्स्थाधिपपरिवृद्ध्या वृद्धिर्ज्ञेयान्यया हानिः ॥  
जाङ्गलमथवानूपं ततो भयं वा ग्रहं निरीक्षेत ।  
ग्राम्यप्रयारण्यं वा सौम्यक्षे पापभवनं वा ॥  
द्विपदचतुष्पदरूपं सरीसृपं वा ततो भयम् ।  
चेत्समयपं तद्भवनं यादृशस्तत्स्वयं वा ॥  
प्रवदेत्समप्रदेशं कर्मप्राप्तिस्तत्तत्सदृशं ।  
तस्माद्दशमं भवनं प्रसवे बुद्धयेत यत्नेन ॥”

इत्यत्रापि बलवशात्फलनिर्देशः अधिपतिः स्वोच्चगतश्चेदुत्कृष्टवृत्त्या नीचगतश्चे-  
न्नीचवृत्त्या द्रव्याण्यपि तथाविधानि उच्चगतश्चेदपत्नेन सिद्ध्यति नीचराशिगतश्चे-  
द्यत्नेन दशमराशी बलवति तद्देशवृत्तिः, अधिपयुतराशौ बलवति तद्देशे वृत्तिः,  
दशमाधिपयुक्तांशनाथे बलवति अंशकसम्प्रदेशः लम्बचन्द्रयोर्दशमगतेर्दिवाकराद्यैः  
राजादितोर्यप्राप्तिश्चिन्त्या । 'विमादित इति वर्णाश्चिन्त्याः । 'प्रयितश्चतुरोऽङ्गना'  
इत्यादिराशिशीलफलं योज्यम् । तत्र राश्यंशयोर्वलवतोर्दशमाधिपस्य फलं चिन्त्यं  
दिवाकराद्येषु दशमर्क्षस्थितेषु तदुक्तजनाद्भनसिद्धिः । तदभावे भेन्द्रकास्पदपतिगा-  
शनाथवृत्त्या इति कथितम् । तथा चोक्तम्-

“दशमे वा ग्रहरहिते चन्द्राद्भनोस्तयाद्रयोर्वलिनः ।  
तदधीश्वरांशनाथस्वभाववृत्त्या च जीवनं पुरुते ॥ १ ॥

( ग्रहपिण्डी )

अकाशे तृणकनकोर्णभेप्रजायै-

श्चन्द्रांशे कृपिजलजाङ्गनाश्रयाद्य ।

धात्वग्निप्रहरणसाहसैः कुजांशे

सौम्यांशे लिपिगणितादिकाव्यशिल्पैः ॥ २ ॥

अर्कांशे वृणकनकोर्णभेपजाधैरित्यत्रादिशब्देन फलवृक्षयातुविक्रयशिल्पयूतराज-  
सेवादयोऽपि गृह्यन्ते । तथा चोक्तम्—

“अर्कांशे फलवृक्षैर्मपज्यैर्यातुविक्रयैः शिल्पैः ।

यूतशाव्यकरैर्भूषैर्वा वित्तमाप्नुयात्सततम् ॥” इति ।

“चन्द्रांशे कृषिजलजांगनाश्रयाच्च” इति च-शब्देन मणिगोमहिपशर्करादयोऽपि  
गृह्यन्ते । । तथा चोक्तं शास्त्रान्तरे—

“चन्द्रांशे मणिपोतैः कृषिजलवस्त्रादिभिर्धनं लभते ।

गोमहिपशर्कराद्यैः स्त्रीसंगमान्मातृदेवताद्यापि ॥” इति ।

‘धात्वग्निप्रहरणसाहसैः कुजांशे’ इत्यत्र कुजस्य क्षेत्राधिपत्वात्क्षेत्रादिना धनवा-  
निति । अत्र युधस्य लिपिगणितादिकाव्यशिल्पैरित्यत्र शिल्पशब्देन चित्रयूतनृत्य-  
कर्मादि च गृह्यते । तथा चोक्तम्—

“लिपिलेखकाव्यगणितैर्नृत्यैस्तथा तदादिभिर्वृत्तिम् ।

तदधीशे सौम्यांशे हयनादिभिर्दिशेन्मातिमान् ॥ २ ॥” इति ।

( ग्रहर्षिणी )

जीवांशे द्विजविबुधकरादिधर्मैः

काव्यांशे मणिरजतादिगोमहिष्यैः ।

सौरांशे श्रमवधभारनीचशिल्पैः

कर्मेंशाध्युपितनवांशकर्मसिद्धिः ॥ ३ ॥

जीवांशे द्विजविबुधाकरादिधर्मैः इत्यत्र धर्मशब्देन मन्त्रजपवृत्त्यादि च गृह्यते ।  
अत्रापि शास्त्रान्तरमस्ति । तथा च शास्त्रान्तरे—

“अध्ययनदेवतार्चनमन्त्रजपादिश्रुतिभिर्धनवान् ।

कालज्ञानमितिस्तैस्तथा गुरोरंशांशका ज्ञेयाः ॥” इति ।

शीक्रांशे मणिकनकादिगोमाहिष्यैरित्यत्रादिशब्देनौषधालंकारनृत्यादि च गृह्यन्ते ।  
तथा च शास्त्रान्तरे—

“गोमहिषाश्वाजाद्यैः स्त्रीसंगैरीषधैरलंकारैः ।

नृत्यादिविविधकुशलैः शुक्रांशे वित्तवान् सुखी भवति ॥” इति ।

सौरांशे श्रमवधभारनीचशिल्पैरित्यत्र-श्रमशब्देन अध्वश्रमनक्षेपश्रुतिस्वगमना-  
वृत्त्यादयो गृह्यन्ते । नीचशब्देन नीचवृत्त्यादयो गृह्यन्ते । तथा च शास्त्रान्तरे—

“सौरांशे फलमूलैश्चित्रैर्भारोद्धतैः श्रमेर्धनवान् ।  
 नीचप्रेष्यजनाद्यैर्धान्यकुधान्यादिविक्रयैर्वापि ॥  
 अंशाधिपोतिबलवान् यत्नादर्थार्थगमं सुखं कुरुते ।  
 अंशाधिपोतिनीचः प्रोक्तं फलमल्पमेव विदधाति  
 राशियुक्तदिग्बिभागं देशं सञ्चिन्तयेत्सदैवज्ञः ।  
 लग्नाच्च दशमराशेः स्वभावदेशं विनिर्दिशेद्यथा ॥  
 स्वस्वामिदृष्टयुक्तं स्वदेशफलदायकं मुनिभिरुक्तम् ।  
 अन्येन सहितं ह्यष्टं परदेशफलप्रदं वाच्यम् ॥  
 तदधीशे चरभांशे प्रवासतोऽर्थार्थगमं सुखं लभते ।  
 स्थिरभांशे स्वकदेशादुभयांशे सर्वतो धनप्राप्तिः ॥  
 वक्रगते तदधीशे बहुप्रकारैर्धनं समाप्नोति ।  
 भाग्यात्तुरूपतोऽर्थान्विनिर्दिशेत्सर्वतोऽपि पूर्वोक्तम् ॥  
 चन्द्रादृशमे सौम्ये बलवानेको न शत्रुयुतदृष्टः ।  
 जनयेद्युगान्तकीर्तिम् ॥” इति—

जन्मकालादन्यत्रापि कर्मेशो यस्मिन्नवांशके वसति तस्य नवांशकस्य यत्कर्म  
 विहितम्, अकांशे तृणकनकोर्णभेषजाद्यैरित्यादि तत्तदानीं सिद्ध्यतीत्यर्थः ।  
 अन्यथेदं पुनर्वचनं स्यात् । एतन्नवांशकोक्तं द्वादशांशेऽपि विन्त्यम् । अन्यच्च  
 कर्मेशाध्युपितनवांशाधिपतिः सूर्यश्चन्द्रखदन्तचर्मकनककौपाध्वभूपाहवैः स्वं संचि-  
 न्त्यम् । चन्द्रश्चेदिक्षुक्षीरविकारवस्त्रकुसुमक्रीडातिलान्नश्रमेः । कुजश्चेद्दूरिविमर्दभूष-  
 हजक्षित्याविकाजैर्धनप्राप्तिः । बुधश्चेद्दौत्यसुहृदुरुद्विजधनं विद्वत्प्रशंसायशोयुक्तिद्रव्य-  
 सुवर्णवैसरादिभिश्च धनप्राप्तिः । गुरुश्चेन्माहात्म्योद्यममन्त्रनीतिनृपतिस्वाध्याययज्ञा-  
 दिभिः । शुक्रश्चेद्गीतप्रमोदात् सुरभिद्रव्यान्नपानाम्बरस्त्रीरत्नश्रुतिमन्मथोपकरणादि-  
 भिर्यनप्राप्तिः । शनिश्चेत्तरोष्ट्रपक्षिमाहिपीकुधान्यादिभिर्यनप्राप्तिरित्यादि चिन्त्यम् ।  
 कर्मेशाध्युपितसमानकर्मसिद्धिरिति पाठे कर्मेशाध्युपितराशिनवांशसमाने देशे कर्म-  
 सिद्धिः देशोत्रजाङ्गलानूपमरुसंज्ञितो ग्राम्यारण्यपौरसंज्ञितश्च राशिवाद्विज्ञेय इति ।  
 भेन्दर्कास्पदराशानां ग्रहाभावे कर्मविशेषसिद्धिर्निरूपणीयेति पूर्वमुक्तम् । कर्मविशे-  
 पास्तु शास्त्रान्तरादवगन्तव्याः । उग्रग्रहैरित्यत्र गार्गिवचनम् ।

“चतुर्थाष्टमगैः शुक्रात्सौरारार्कैर्दृताशनात् ।

तेषां दितयमध्यस्थे तथा शुके प्रपातनात् ॥

शुके सद्योगदृग्हीने पापाद्रार्यावधौ भवेत् ॥” इति ।



शोषी परस्परग्रहांशयोरित्यत्र मार्गिवचनं परस्परगृहे यातो यदि तदा तौ वा  
पितावंशको भवतोऽर्कशीतांशुस्तदा शोषी प्रजायते । तथा च सारावल्याम्-

“आरामपुत्रसेवाकृपिरय वाणिज्यसूतकार्येण ।  
जीवन्ति जनाः नित्यं मेपगणे दशमराशिस्ये ॥  
घृषभगणे दशमस्ये शकटचतुष्पदविहंगमृहधान्यैः ।  
संग्रहकर्मणि निरता जांगलेदेशे वसन्ति वै बहुशः ॥  
जलवणिजः सुसमृद्धा मुक्तादिभिर्यसंगुक्ताः ।  
नृमिथुनवर्गे दशमे शस्त्रानलयोनिप्रस्तराजीवाः ॥  
आहितुण्डिकया घृत्या कर्कणे वर्गे तदा दशमे ।  
सव्यूहका मणानां पाषाणकरूप्यकीटाश्च ।  
कर्पणनिरता लेये जीवविधानाश्च वाणिजिकाः ॥  
शाकटिकास्तक्षणा हरण्यकगन्धविक्रये निपुणाः ।  
गन्धर्वशिल्पलेख्यैः कन्यावर्गे सदाविभवाः ॥  
प्रायोज्याहुपदेशादिरण्यपरिवर्तनादियोगाच्च ।  
जायन्ते मनुजानां व्यवहारे लाभभाजनानीह ॥  
सततं वरधान्यानां मूलानां ये विशेषतो वणिजः ।  
फलमूललब्धवित्ताः कृषीवलश्चैव जायन्ते ॥  
धनुषी वर्गे दशमस्थानस्थिते जनाः कलाघृत्या ।  
स्त्रीसम्पर्क लब्ध्वा जनितैश्चर्याः प्रजायन्ते ॥  
नित्योद्युक्ताश्चाराः पृथ्वीपतिसेवकाः सदा लुब्धाः ।  
पापा देहचिकित्सानिरता लोहकदाहजीविनः क्रूराः ॥  
अन्त्यकवर्गे स्वस्ये धान्यानां चोपजीविनोत्पन्नम् ।  
नृपसचिवदुर्गदशमे कुरुङ्गवर्गे च वारिपण्यधनः ॥  
भूमीविभवं सदारामारोपणरसायनैर्जीवेत् ।  
जातः शस्त्रानलकंप्रभेदचौर्यादिभिर्जीवेत् ॥  
वनघृत्या घटवर्गे भारवहस्त्वजीविनः सुभगाः ।  
सुभगं पत्रात्सलिललग्नमात्मपोषगादेश्च ।  
विक्रयतो वै वर्गे मानप्रभवे च दशमस्ये ॥”

एवं राश्यंशकान्यामाजीवशक्तिर्हि निरूपणीया बहुषु लक्षणेषु चलवद्गृहशान्तिर्णयः  
कर्तव्यः । जातिदेशकालावस्थानुरूपं फलं वाच्यम् ॥ ३ ॥

( प्रहर्षिणी )

मित्रारिस्वगृहगतैर्ग्रहैस्ततोर्थान्  
तुङ्गस्थे बलिनि च भास्करे स्ववीर्यात् ।  
आयस्यैरुदयधनाश्रितैश्च सौम्यैः  
सञ्चिन्त्यं बलसहितैरनेकधा स्वम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमदवन्तिकाचार्यद्विजराजवराहमिहिरकृते बृहज्जातक  
कर्माजीवाध्यायो दशमः ॥ १० ॥

मित्रेति । बहुप्रकारं धनं सञ्चिन्त्यम् । 'तुङ्गस्थे बलिनि च भास्करे स्ववीर्यात्'  
इत्यत्रार्कस्य पितात्मकत्वात् पितृपक्षादर्थो भवन्ति । आत्मस्वरूपत्वात्स्वप्रभवान्नाथो  
भवन्ति । आयस्यैरित्यत्र कर्मस्थानाद्बुद्धिर्धनस्थानेन धनं, लाभस्थानेनागमोपायः ।  
उदयेनात्मस्वभाव इति सूचितम् । तथा चोक्तम्-

“दशमेशस्य वृत्त्यैव धनेशस्योचितं धनम् ।

लाभाधीशद्वयोति बिलमेशात्मके नरः ॥”

इत्येवं वराहमिहिरहोराशास्त्रे प्रथमाध्यायादारभ्याध्यायदशके विदितोर्थः प्राय-  
शोत्र व्याख्यातः उपरितनाध्यायार्थाश्च केचिद्व्याख्याताः । अत्र पुनर्व्याख्यानकौ-  
शलाद्यभावात्पूर्वापरपर्यालोचननैपुण्यभावादज्ञानाच्च मूलग्रन्थानुसारतः पुनर्वचनम् ।

अपशब्दप्रयोगन्यायविरोधश्च अत्र सम्भवः तस्मादेतां व्याख्यां कश्चिद्बुधः  
पश्यति चेक्षन्तुमर्हति । नैपा पाण्डित्यप्रकटनया कृता वागर्थो मन्दबुद्धये  
स्वशिष्यायोपदेष्टुमेवेति ॥ ४ ॥

अथ जातकलेखनक्रमो लिख्यते-

( अनुष्टुप् )

“अभिवाद्य गुरुनादौ गणेशं स्वेष्टदेवताम् ।

सूर्यादिकान्ग्रहान्सर्वानारभेज्जातकं बुधः ॥

अहर्गणं लिखेदादौ राशिमाख्यां तथैव च ।

पश्चात्सूर्यादिसेटानां स्फुटवाक्यानि विन्यसेत् ॥

अनन्तरं कलेर्वाक्यं व्याख्यानवदुदाहरेत् ।

ततो मन्दं ततो जावं मासं तच्चन्द्रमेव च ॥

ऋक्षं सनाडिकं चारं दिनराशौर्विकल्पनम् ।

प्राह्मपक्षाहमप्याह्वानपराह्णं तथैव च ॥

सायाहं पूर्वरात्रादीनेवमेव लिखेद्बुधः ।  
 ततो राशिं सषडिकं पक्षमेदं तिर्यि तथा ॥  
 करणं नित्ययोगं च चन्द्रपञ्चाङ्गमेव च ।  
 दिवसं सगणं योनिं मृगशृङ्गाविहङ्गमान् ॥  
 पृथिव्यादि ततो भूतं तारादीनां च देवताः ।  
 ग्रहण्यासं लिखेत्पश्चात्पङ्कजं तत्फलं तथा ॥  
 पंचांगानां फलं पश्चात्ततो भावस्फुटात्रपि ।  
 पश्चाद्ग्रहस्थितेर्व्याख्या ततो भावफलान्यपि ॥  
 पश्चाद्ग्रहमांशकारुषां च तत्फलान्सकलानपि ।  
 फलयोगांश्च सकलानंशकारुषां तथैव च ॥  
 अष्टवर्गं लिखेत्पश्चात्तद्व्याख्यां विलिखेत्पुनः ।  
 एवं विलिख्य बहुधा दशाः सूक्ष्मं विचारयेत् ॥  
 उच्चनीचं तदा चक्रं ततो नाक्षत्रमेव च ।  
 अन्यां दशां च संवीक्ष्य संवादमापि चिन्तयेत् ॥  
 मातापित्रोश्च निर्याणं पुत्रोत्पत्तिं तथैव च ।  
 आत्मनस्तु गुणान्दोषानेवमेव विचिन्तयेत् ॥  
 निर्याणस्तु ततो दृष्ट्वा स्यान् मन्दार्यभास्करान् ।  
 दशासंवादमालोक्य निर्याणं विलिखेद्बुधः ॥  
 अथवाऽहर्गणं चैव सदेष्टाणामिति स्फुटम् ।  
 "स्फुरतु भुजगहारं मम हृदि तेजो हालाविषाहारम् ।  
 श्वेतशतीशुभत्वं कृतारण्यविहारं श्वेतं शीतांशुशेखरम् ॥"

इति श्रीनाराहनिहिक्ते बृहन्नातके दशाध्यायी ( नौका ) टीकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

पुस्तक मिष्टनेका डिक्कान-  
 पुस्तक मिष्टनेका डिक्कान-

खेमराज श्रीकृष्णदास,

अध्यक्ष "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस-बम्बई.

# कव्य पुस्तकें ( ज्योतिषग्रंथाः )

नाम.

की.

सूर्यसिद्धान्त-संस्कृत गृहार्थदीपिका सहित और बलदेवप्रसाद मिश्रकृत भाषाटीकासहित इसमें कालविभागादि ग्रहगतिका कारणादि पूर्वपश्चिमादिरेखानिर्णय स्पष्टचंद्र सूर्यादिछायाज्ञान चंद्रलम्बन सूर्यग्रहण पारिलेख ग्रहदर्शन नक्षत्रस्थान उदयास्त-कालनिर्णय चन्द्रोदय पाताधिकार अध्यात्मविद्या गोलपञ्चादि कालनिर्णयादि बहुत विषय हैं ....

सिद्धान्तदैवज्ञविनोद-पंडित मनीरामविरचित संस्कृत भाषाटीका समेत इसमें सुहृत्निर्णय अमूर्त्तकालमीमांसा भूगोलखगोलवर्णन सृष्ट्यादिअहर्गण मध्यमग्रहानयनविधि ग्रहोंके मन्दो-च्चतानयन भौमादिका पातानयन ग्रहोंके क्रमसे स्फुटीकरण भौमादिकोंके पात स्पष्ट करनेकी विधि चन्द्र सूर्यग्रहणलानेकी विधि ग्रहपुद्गोदाहरण ग्रह और नक्षत्रके योग ग्रहउदयास्तविधि पञ्चाङ्ग बनानेकी विधि प्रतिवर्ष उपकरणसारिणी ग्रहके नक्षत्र और राशिचार करनेकी विधि व्युत्पन्न भागाक्षर सारणी आदि दर्शाया है, ज्योतिषीके लेनेयोग्य है ....

परमसिद्धान्तज्योतिष-प्रेमचलभविरचित गणितभाग गोलज्ञान मध्य-माधिकार जीवनायक खट्खट्ट खालापक्रमानयन उदयास्त त्रिप्रश्नशृंगोन्नत्य ग्रहणाधिकार पातयोग यंत्राधिकार निश्चया-धिकार देशज्ञानादि विषय हैं ....

ग्रहलापय-सान्वयभाषाटीका-गणेशदेवज्ञकृत मूल और पंडितरामस्व-रूपकृत अन्वय भाषाटीका और उदाहरण सहित ग्लेज ....

दीर्घचालक्षण-भीष्म महामहोपाध्याय पं० सुभाकारद्विवेदिनिर्मित लीलायती-भास्कराचार्यकृत मूल और रामस्वरूपकृत भाषाटीका-सहित व्यक्तगणितमें अपूर्व है इससे सप्रकारका गणित करसकें हैं ग्लेज ....

” तथा रफ ....

पद्मसुन्दर-सटीक उदाहरणसहित-ब्रह्मरक्षोय गणितग्रंथ ....

नाम.

की. रु. मा.

सिद्धान्तशिरोमणि:-अर्थात् गोलाध्याय भ. ।टीका सहित इस ग्रंथमें गोलाध्यायकी विवृति, गोलप्रशंसा, गोलस्वरूपप्रश्न, भुवनकोश, मध्यगतिवासना, स्फुटगतिवासना, गोलबंध, त्रिप्रश्नवासना, ग्रहणवासना, उदयास्तद्वर्ग, शृङ्गोन्नतिवासना, यंत्राध्याय, ऋतुवर्णन, प्रश्नविचार, ज्योत्पत्ति और ज्योत्पत्तिविवरण इत्यादि इतने विषय भलीप्रकारसे दिखलाये गये हैं ....

१-४

बृहज्जातक-भाषाटीकासहित-बराहमिहिराचार्यकृतमूल और पंडित-महीधरकृत भाषाटीकासहित । जिसमें राशिभेद ग्रहयोनिभेद वियोनिजन्म निषेक जन्मविधि अरिष्ट आयुर्दाय दशातर्दशा अष्टकवर्ग कर्माजीव राजसयोग नाभयोग चंद्रयोग द्विग्रहादि-योग प्रग्रज्या नक्षत्रफल राशिशूल, दृष्टिफलाध्याय भाषाध्याय आश्रययोग प्रकीर्ण अनिष्ट स्त्रीजातक नैर्घाणिक नष्टजातक द्वेषकाण उपसंहाराध्यायादि विषय हैं ग्लेज कागज ....

१-४

" तथा रफ कागज ... .. १-०

बृहज्जातकसटीक-भट्टोत्पलीटीकासमेत उपरोक्त विषयानुसार ग्लेज १-८

" तथा रफ ... .. १-४

चक्रावलीसंग्रह सटीक-व्यवहारमें प्रायः जिन जिन वस्तुओंकी आवश्यकता पड़ती है उन सबके १९२ चक्र इसमें हैं । विष्णु-याग, शिवयाग, देवीयागादिके चक्र, वास्तुचक्र युद्धके अनेक अपूर्वचक्र इत्यादियोंके उद्धार तथा स्वरूप इसमें दिखाये गये हैं । इस अपूर्व पुस्तकको पास रखनेसे सभी चक्रोंका ज्ञान होता है । ....

२-०

केशवीजातक-सान्वय सौदाहरण जगदीशत्रिपाठीकृत भाषाटीका-समेत जन्मपत्रिका बनानेमें अपूर्व गणितहै ग्लेज ....

१-८

" तथा रफ .... १-४

सर्वार्थचिन्तामणि-पं० महीधरशर्माकृत भाषाटीका सहित-इस ग्रन्थके पढ़नेसे फलदेश भलीप्रकार कहसकते हैं ...

१-८

लघुपाराशरी-भाषाटीका अन्वय सहित दशमकरणमें उत्तम है सर्वार्थचिन्तामणि-मूल भैरवदत्तप्रणीत जन्मपत्र और भाव लिखनेमें लाभदायक है ...

०-२

लाभदायक है ... .. ०-१०

नाम.

की.

मानसागरीपद्धतिः—मूल मानसागरप्रणीत इससे जन्मपत्र बनाना  
अतिसुगमहै ज्योतिषीके परमोपयोगी है ....

मानसागरी—भापाटीका सम्पूर्ण जन्मपत्रबनानेका मास, तिथि, वार,  
नक्षत्र, योग, करण, द्वित्रिग्रहयोग आदि सम्पूर्ण फलादेशादि  
वर्णित हैं ग्लेज ....

" तथा रफ ....  
मकरंदसारणी—उदाहरणसहित पञ्चांग बनानेवालोंको उपयोगी है  
नष्टजन्मांगदीपिका—और पञ्चाङ्गदीपिका—गद्यपद्यटीकासमेत ऐसी  
उपयोगी कुञ्जी है जो हजारों रुपये खर्चसेभी अलभ्यथी  
पञ्चमार्गदीपिका—और वर्षदीपक ( पं० महादेवविरचित मूल और  
श्रीनिवासकृत भापाटीकासहित ) इस ग्रन्थसे भलीप्रकार  
जन्मपत्री और वर्षपत्री उत्तमरीतिसे थोड़ेही परिश्रमके  
गणितसे बनासकते हैं ....

" तथा मूल ....  
ज्योतिषश्यामसंग्रह—पण्डितश्यामसुन्दर प्रणीत भापाटीकासहित रफ  
तथा ग्लेज ....  
जातकसंग्रहः—संगृहीत ग्रन्थ भावविचार फलादेशमें परमोपयोगीहै  
चमत्कारचिन्तामणि—भा. टी. विद्यार्थियोंको अवश्य लेनाचाहिये  
जातकालंकार—भापाटीकासहित यथारुचिलंदोंमें रसिककाव्यबंधभाव  
और आयुः कहनेमें अपूर्व है ....

" सटीक ....  
जातकाभरण—मूल उपरोक्त विषयानुसारसामुद्रिकलक्षणाध्यायसमेत  
फलादेशमें उत्तमहै ....  
जातकाभरण—पं० श्यामलालजीकृत श्यामसुन्दरीभापाटीका सहित  
गणकवर श्रीहंडिराजजीका बनाया हुआ यह ग्रन्थ जन्मपत्री  
लिखने अथवा उसके फल कहनेमें अत्युपयोगी है स्थान स्थान  
पर कुण्डली भी दी गई हैं ....

शुद्धपाराशरहोराशास्त्र—प्रत्येकखण्ड सारांश उत्तरखंड संस्कृतटीका  
तथा भापाटीकासहित दशाअन्तर्दशा ग्रहोंके पृथक् २ भाव-  
फलादेश इत्यादि अपूर्व हैं ....

नाम.

की. द. भा.

जैमिनीयसूत्र-सटीक चार अध्यायोंमें मारकादिस्थानादिनिर्णय इत्यादि

जन्मपत्रका सम्पूर्ण फलहै .... ०-६

लघुजातक सटीक-योगानुयोगकहनेमें सुलभहै ... ०-५

लघुजातक-भाषाटीकासमेत .... ०-६

आनन्दप्रकाश-भाषाटी० यह ग्रन्थ ज्योतिषियोंको परमोपयोगीहै,

इसमें रोगकी स्थिति, असाध्यरोग किसप्रकार शांतहोगा तथा

रोगशुक्ति, ज्ञान दानादि कितनेही उत्तम विषय लिखेगये हैं ०-२

बृहद्यवनजातक-पं० ज्वालाप्रसादकृत भाषाटीकासहित लग्नादिद्वाद-

शभाव ग्रह नक्षत्र स्थानाधिपति, स्थानान्तर इत्यादिके फलादेश

और सुखदुःख आयुः कहनेमें अत्युत्तमहै .... १-

यवनजातकमूलमात्र-जन्मसमयके वार तिथि नक्षत्र योग करण

कालोपदेश भलीभाँति वर्णित हैं .... ०-२

रत्नदीपक-छोटैसे ग्रन्थमें भावफलादेश अत्युत्तम लिखागयाहै .... ०-३

भूयसंहितायोगावलीखण्ड-अनेक प्रकारके योग और उनके फल

वर्णितहैं .... २-

नुष्टक तिक .... १-४

लघुचंद्रिका-मूलमात्र .... ०-४

लघुचंद्रिका-भाषाटीकासमेत इसमें सुगमरीतिसे जन्मकी विधिवार

नक्षत्रयोग और करणका फल संवत्सर उत्तरायण दक्षिणायनका

फल ऋतु और मासफल सम्पूर्ण ग्रहोंका फल भावाध्याय एकग्रह

आदि योग और विंशोत्तरी दशा इत्यादि जन्मपत्रका फल

विचारहै .... ०-१०

-पं० जैकृतवाकित्त और शङ्कित नहींदरुत

भाषाटीकासहित इसमें संज्ञाध्याय अरिष्ट पित्राचारिष्ट अरिष्ट-

भंग पुत्रभावविचार राजयोग सामुद्रिक स्त्रीजातकाध्याय

स्त्रियोंका राजयोग प्रत्येक ग्रहोंका फल शयनादि द्वादशाव-

स्थाविचार स्थानवशादवस्थाफल ग्रहोंकी प्रत्येकावस्थाका फल

ग्रहोंकी चालादि अवस्था मारक राजयोग धनिकदरिद्र विचार

राजयोग दरिद्रयोग द्वादशभावाध्याय दशानयन ग्रहका

गर्वितादिभाषादि विषय अपूर्व है .... १-

नाम.

संकेतनिधि:-सटीक पं० रामदत्तजीकृत इसमें संस्कृत काव्यरचना बहुत सुन्दर है और जन्मपत्र देखनेके चमत्कारी योग बड़े विलक्षण और अनुभवसिद्ध विद्याकरके विभूषित है .... १-

ग्रहलाघवकरण-भारतवर्षमें यह ग्रहलाघव नामक करणग्रन्थ सुप्रसिद्ध ही है, इसमें गणेशदेवजीने गणितका नवीन संस्कार कर जो संसारका उपकार किया है उसके लिये सभी उनके कृतज्ञ हैं. प. मल्लारि और विश्वनाथ गणकोंकी व्याख्या है. मल्लारिकी व्याख्यामें जो भ्रम थे उनकी म. म. पण्डित सुधाकरद्विवेदीजीने उत्तम टीका की है । अब यह ग्रन्थ कैसा उपयोगी हुआ है इसको विद्वान् लोग देखें और इस ग्रन्थका लाभ उठावें राजमार्तण्ड-भोजराज विरचित संस्कृत-इसमें नक्षत्रराशिसंज्ञा स्त्रियोंके शुद्धचिन्तापुंसवनादि ग्रहबलादि वेश्यादियोग वृद्धिश्राद्धादि नामकरणादि और तिथ्यादि निर्णय भेषादि लभफलादि विषय अपूर्व हैं ....

खेटकौतुक-भाषाटीकासमेत-जिसमें नवाच खानखानेने चमत्कारिक फलादेश कहा है ....

तत्त्वप्रदीपजातक-भाषाटीका-इस छोटेग्रन्थसे जन्मपत्रका विचार सुगमतासे होता है ....

स्त्रीजातक-बड़ा भाषाटीकासह जिसमें स्त्रियोंके जन्मकालीन ग्रहादिकोंके फल स्पष्ट कहे हैं ....

योगाष्टादशः-आष्टः कहनेमें उत्तम है ....

सम्पूर्ण पुस्तकोंका “बड़ा सूचीपत्र” अलग है मँगाकर देखिये ।

पुस्तकोंके मिलनेका ठिकाना—

खेमराज श्रीकृष्णदास,  
“श्रीविष्णुदेवधर” स्टीम-प्रेस-चम्बई.



नाम.

संकेतनिधि:-सटीक पं० रामदत्तजीकृत इसमें संस्कृत काव्यरचना बहुत सुन्दर है और जन्मपत्र देखनेके चमत्कारी योग बड़े विलक्षण और अनुभवसिद्ध विद्याकरके विभूषित है .... १-

ग्रहलाघवकरण-भारतवर्षमें यह ग्रहलाघव नामक करणग्रन्थ सुप्रसिद्ध ही है, इसमें गणेशदेवज्ञने गणितका नवीन संस्कार कर जो संसारका उपकार किया है उसके लिये सभी उनके कृतज्ञ हैं. प. मल्लारि और विश्वनाथ गणकोंकी व्याख्या है. मल्लारिकी व्याख्यामें जो भ्रम थे उनकी म. म. पण्डित सुधाकरद्विवेदीजीने उत्तम टीका की है । अब यह ग्रन्थ कैसा उपयोगी हुआ है इसको विद्वान् लोग देखें और इस ग्रन्थका लाभ उठावें

राजमार्तण्ड-भोजराज विरचित संस्कृत-इसमें नक्षत्रराशिसंज्ञा स्त्रियोंके शुद्धचिन्ता पुंसवनादि ग्रहवलादि वेश्यादियोग धृद्धिश्राद्धादि नामकरणादि और तिथ्यादि निर्णय मेषादि लग्नफलादि विषय अपूर्व हैं ....

खेटकौतुक-भाषाटीकासमेत-जिसमें नब्बाव खानखानेने चमत्कारिक फलादेश कहा है ....

तत्त्वप्रदीपजातक-भाषाटीका-इस छोटेग्रन्थसे जन्मपत्रका विचार सुगमतासे होता है ....

स्त्रीजातक-बड़ा भाषाटीकासह जिसमें स्त्रियोंके जन्मकालीन ग्रहादिकोंके फल स्पष्ट कहे हैं ....

योगापुरदाय:-आयुः कहनेमें उत्तम है ....

सम्पूर्ण पुस्तकोंका “बड़ा सूचीपत्र” अलग है मँगाकर देखिये ।

पुस्तकोंके मिलनेका ठिकाना—

खेमराज श्रीकृष्णदास,

“श्रीवेङ्कटेश्वर” स्टीम-प्रेस-चम्बई.